डाक्टर नगेन्द्र की साहित्य साधना

लेखिका

टी० वी० सुब्बालक्ष्मी, एम० ए०

प्रकाशक

भारत प्रकाशन मन्दिर

अलीगढ़

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर
अलीगढ़

मूल्य— ८ रुपया
प्रथम संस्करण, १९६६

मुद्रक—आदर्श प्रेस,
अलीगढ़।

पूज्य पतिदेव

श्री मंगिपूड़ि रामंमूर्त्ति जी

को

सादर समर्पित

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ।"

× × × ×

"अस्त्युत्तरस्याम् दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ वारिनिधी विगाह्य स्थितः पृथिव्याः इव मानदंडः"

हमारी योजना

श्रीमती टी० वी० सुब्बालक्ष्मी, एम० ए० का यह लघु निबन्ध 'डा० नगेन्द्र की साहित्य साधना प्रस्तुत है। यह निबन्ध एम० ए० के निबन्ध प्रश्न पत्र के स्थान पर लिखा गया था। इसकी लेखिका ने इसका लेखन बड़ी रुचि और परिश्रम के साथ किया। इसी साधना के परिणाम स्वरूप इसका चिन्तन और प्रस्तुतीकरण इस स्तर तक आ सका। विभागीय निर्देशन में लिखित इस लघु-प्रबन्ध का विज्ञ पाठकों के द्वारा स्वागत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

यह पुस्तक विभागीय अनुसधान योजना के अन्तर्गत है। एम० ए० के स्तर पर जो अध्ययन इस रूप मे कराया जाता है, उसका उद्देश्य इस क्षेत्र के विद्यार्थियों को हिन्दी शोध के प्रथम सोपान से परिचित कराना है। साथ ही उनसे हिन्दी शोध के प्रति रुचि उत्पन्न कराना भी अन्तर्निहित है। इस स्तर पर विद्यार्थी की क्षमता के अनुसार आलोचनात्मक, भाषा वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक तथा तुलनात्मक विषयों पर अध्ययन कराया जाता है। इस सूत्र लता का यह प्रथम पुष्प प्रकाशित होते देखकर मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। जहाँ तक प्रस्तुत प्रबन्ध के स्तर का प्रश्न है, इसका निर्णय विज्ञ पाठक ही करेंगे। इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि अहिन्दी क्षेत्र की परिस्थितियो को देखते हुये, इसका स्तर संतोषजनक है।

हमारी योजना के प्रथम पुष्प को प्रकाशित करने मे भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ने जो सहयोग दिया है, उससे हिन्दी के प्रसार और अहिन्दी क्षेत्र में उसके प्रोत्साहन के प्रति उक्त संस्था की जागरुकता ही प्रकट होती है। दक्षिण भारत के नवोदित हिन्दी अध्येताओ को इस प्रकार का प्रोत्साहन देना हिन्दी की सभी प्रकाशन संस्थाओं का मैं पुनीत कर्तव्य मानता हूँ। हिन्दी के यज्ञ मे सभी को आहुति देनी है।

अन्त में इस पुस्तक की लेखिका के प्रति मैं अपनी शुभकामना व्यक्त करता हूँ कि वे भविष्य मे भी इसी प्रकार हिन्दी की सेवा करती रहेंगी।

(विजयपाल सिंह)

डा० विजयपाल सिंह
एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), पी-एच० डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (आं० प्र०)

आभार

'डा० नगेन्द्र की साहित्य साधना' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। मेरा यह लघु प्रयास एम० ए० के लघु प्रबन्ध के रूप में सम्पन्न हुआ है। डा० नगेन्द्र इस युग के सजग और सक्रिय साहित्यिक हैं। उन पर इस प्रबन्ध के पूर्व भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यदि इस शृंखला की यह एक कड़ी बन सकेगा, तो मैं अपने आप को कृतार्थ समझूंगी। यह मेरा सौभाग्य है कि मेरी प्रथम प्रकाशित कृति को डा० नगेन्द्र का सदर्भ प्राप्त हुआ।

वैसे मैं डा नगेन्द्र के लेखों की विषयगत गरिमा और शैलीगत स्वच्छता से पहले भी प्रभावित थी, पर इस प्रबंध की प्रेरणा मेरे गुरुवर्य डा० विजयपाल सिंह अध्यक्ष हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति, से प्राप्त हुई। प्रेरणा ही नहीं समय-समय पर आशीर्वादमय प्रोत्साहन भी मिलता रहा। जब कोई समस्या या गुत्थी सामने आयी, वे उसके सुलझाने में सहायता करते रहे। उनके प्रति आभार प्रदर्शन करना औपचारिकता तो होगी, पर मैं उनका ऋण स्वीकार किये बिना रह भी नहीं सकती।

इस प्रबन्ध के निर्देशक डा० चन्द्रभान रावत थे। शोध पद्धति और विषय निरूपण के संबंध में उनसे जो मूल्यवान सहयोग प्राप्त होता रहा उसके लिए उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। यदि इस पुस्तक में प्रत्याशित ऊँचाई नहीं आ पाई है, तो उसके लिए मैं उत्तरदायी हूँ। डा० नगेन्द्र के सौहार्द और सौजन्य से भी मैं बहुत प्रभावित हुई। उनकी काव्य साधना के कुछ रूप अप्रकाशित थे। उनकी प्रतियाँ डाक्टर साहब के ही पास थीं। इन्होंने निस्संकोच उनको मेरे पास भेज दिया। इससे डा० नगेन्द्र के कृतित्व का काव्य वाला भाग समग्र रूप में स्पष्ट हो सका। भारतीय हिन्दी परिषद् के अलीगढ अधिवेशन के अवसर पर अलीगढ़ में मैंने उनसे साक्षात्कार भी किया। इससे मेरी अनेक शंकाओं का संवरण हुआ। मैं किन शब्दों में उनके प्रति आभार प्रदर्शित करूं। श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के मेरे सभी गुरुजन किसी न किसी रूप में सहायता करते रहे। उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। इनके अतिरिक्त श्री आर्दुति सूर्यनारायण मूर्ति जी, (विजयनगरम्) से पर्याप्त सहायता मिली। उनका हिन्दी प्रेम जहाँ अनेक दिशाओं में प्रकट हुआ, वहाँ इस दिशा में भी वह प्रकाशित हुआ। हिन्दी महाविद्यालय, विजयनगरम् के प्रिंसिपल के प्रति मैं विशेष रूप से आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध की सामग्री जुटाने में पर्याप्त सहायता दी।

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ने इस पुस्तक को प्रकाशित करके मेरे उत्साह की वृद्धि की है। मेरे प्रथम प्रयास को इस रूप में लाकर उन्होंने जिस उदारता का परिचय दिया है, उसके लिये मैं कृतज्ञ हूँ।

इस प्रबन्ध की अपनी सीमाएँ हैं। यथासंभव निर्दोष सामग्री एकत्र करने की चेष्टा तो मैंने की है और अपनी दृष्टि को भी वस्तून्मुख रखा है। फिर भी यदि कुछ भूलें रह गयी हों तो मैं उनके लिए विज्ञ पाठकों से क्षमा प्रार्थिनी हूँ।

दीपावली,
सं० २०२२

टी० वी० सुब्बालक्ष्मी, एम० ए०
ए० एम० कालिज,
काकिनाडा (आ० प्र०)

प्राक्कथन

आधुनिक युग हिन्दी-समीक्षा का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। प्राचीन सैद्धान्तिक समीक्षा-पद्धतियो का नवीन मानव विज्ञानो के प्रकाश मे जीवन पुनराख्यान और नवीन सिद्धातो एव मानदण्डों का प्रयोग-उपयोग, आज की हिन्दी-समीक्षा की विशेषतायें हैं। इस युग मे सर्जनात्मक साहित्य मे भी इतना विधा-वैविध्य, उसकी प्रेरणा के स्रोतो मे इतना जटिल सघर्ष और नवीन प्रवृत्तियो का इतना सघन प्रभाव मिलता है कि समीक्षा मे नवीन दृष्टियो की आवश्यकता होती गई। अनुसधान की प्रगति ने समालोचना के क्षेत्र का अतीव विस्तार किया। उद्बुद्ध बौद्धिक चेतना नवीन क्षितिजों की खोज मे व्यस्त थी। पर राष्ट्रीय अतीत के स्वर्ण की झिलमिल उसकी गति को विस्मित कर देती थी। आचार्य शुक्ल से पूर्व यह प्रवृत्ति विशेषत. दिखाई पडती है। शुक्ल जी ने एक विस्तृत दृष्टि को जन्म दिया। भारतीय सिद्धान्तो का अध्ययन ही नहीं, उसका अनुभूत्यात्मक भावन भी शुक्ल जी ने किया। इस भावन व्यापार ने उनका एक रागात्मक सम्बन्ध सिद्धातो से जोड दिया। इस सम्बन्ध ने जहाँ शुक्ल जी के चिन्तन को वैयक्तिक गहराइयो से युक्त कर दिया, वहाँ नवीन संभावनाओ के उद्घाटन मे ऐतिहासिक योगदान भी दिया। प्राचीन का नवीन सस्कार और प्राचीन उपकरणो से नवीन की समृद्धि ही आचार्य शुक्ल की प्रातिभ साधना का लक्ष्य था। पर पाश्चात्य सिद्धान्तो के प्रति एक क्षीण सत्व-भावना और निजी स्रोतो के प्रति एक सात्विक गर्व शुक्ल जी मे बना रहा। इसी कारण से जितनी विस्तृति अपेक्षित और सम्भावित थी, उतनी तो न हो पाई, पर दिशा और दृष्टि सुनिश्चित हो गई। शुक्ल जी का व्यक्तित्व युग पर छा गया और युग सिमट कर शुक्ल जी के व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बित हो गया। साथ ही व्यक्ति और विषय की शक्तियो का इतना सरल स्वाभाविक समन्वय हुआ कि चिन्तन का भावन और भावित चिन्तन, अनुभूति की छवियों से युक्त होकर, व्यक्तित्व के सुनियोजित माध्यम से कलात्मक रूप मे ढल गया। शुक्ल जी के पश्चात् भी अनेक नवीन उन्मेषो के स्फुरण से हिन्दी-समीक्षा पुलकित रही। उन्ही उन्मेषो का विषक्ति-सा, शान्त, गंभीर उन्मेष नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व मे समा गया।

प्रेरणा

नगेन्द्र जी प्रगति और प्रतिक्रिया की शक्तियो को लेकर आये। शुक्ल जी के व्यक्तित्व की स्वीकृति तो उनमे है, पर नवीन उपक्रम की आवश्यकता से प्रेरित होकर उनका साधना-रत व्यक्तित्व नित्य नवीन निखार पाने लगा। आगे के युग का आकर्षण इस व्यक्तित्व मे केन्द्रित होने लगा। मेरे मन मे एक प्रश्न सदैव रहता था—क्या विज्ञान की भाँति, साहित्य के सिद्धान्त भी सार्वभौमिक नही हो सकते ? मानव की चेतन-अचेतन भावधाराओं से उद्भूत साहित्य की समीक्षा को क्या एक विश्वव्यापी आधार-भूमि नही प्रदान की जा सकती ? सयोगवश मैंने डा० नगेन्द्र के कुछ निबन्धो को कई बार पढा और मेरा यह अनुमान विश्वास का रूप धारण करता गया कि इस लेखक का उद्देश्य

शाश्वत मानवीय मूल्या का अनुसधान और उन पर आधारित मानदण्ड के प्रति आस्था जाग्रत करना है। पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तो का अध्ययन तो उनसे कुछ पूर्व ही आरम्भ हो गया था। समन्वय की चेष्टा भी हुई। पर दोनो के पूरक सूत्रो की इतनी सूक्ष्म खोज पहले नही हुई। समन्वय बुद्धि की एक सहानुभूतिपूर्ण ऐक्योन्मुखी प्रक्रिया है। पूरकता की खोज सभी सिद्धान्तो की समन्विति नही है, पूर्ण की योजना मे विभिन्न स्रोतो के योगदान का मूल्यांकन है। *प्रत्येक सिद्धान्त मानव की किसी-न-किसी अन्तर्बाह्य प्रेरणा और* आवश्यकता की पूर्ति है। इस दृष्टि से समग्र की परिकल्पना मे सभी का स्थान है। पूरक तत्त्वोकी खोज की साधना के तत्त्व मुझे निबन्धकार और आलोचक नगेन्द्र मे दिखाई पडे। इसी प्रेरणा ने मुझे बल दिया और प्रस्तुत प्रबन्ध की योजना हो गयी।

महत्त्व

डा० नगेन्द्र पर स्वतत्र रूप से अभी तक विशेष नही लिखा गया। कुछ छुट-पुट लिखा भी गया है, तो व्यक्तित्व और कृतित्व का मर्म-स्पर्श नही किया जा सका है। डा० कमलेश ने 'मैं इनसे मिला द्वितीय भाग मे इन्टरव्यू के माध्यम से डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व मे अन्तर्व्याप्त प्रेरणा-स्रोतो और जीवन की परिस्थितियो के विश्लेषण की चेष्टा की है। डा० राग्रा ने आलोचक नगेन्द्र के कृतित्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१] श्री नारायणप्रसाद चौबे की कृति ,'डॉ० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्त' के अध्ययन से मुझे लगा कि सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि के सूत्रो की जितनी स्फीति मिली है, उतनी नगेन्द्र जी की देन को नही। वैसे, प्रयत्न श्लाघ्य है। श्री भारतभूषण अग्रवाल ने 'डॉ० नगेन्द्र के श्रेष्ठ *निबन्ध' शीर्षक कृति की भूमिका मे नगेन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व को नवीन* परिवेश मे और प्रगतिशील दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। आगे के अध्ययन की सभावनाओ से गर्भित श्री अग्रवाल के प्रयत्न ने मुझे पर्याप्त प्रेरणा दी है। प्रस्तुत अध्ययन मे समग्र रूप मे नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखने-परखने का लघु प्रयत्न सन्निहित है। खण्ड रूप से प्राप्त सामग्री को सयोजित करना ही यहाँ अभिप्रेत नही है, सर्वथा नवीन भूमिका मे नगेन्द्र जी को रखकर देखने की चेष्टा की गई है। इस अध्ययन की विशेषता सभी रूपो को सुश्रृखलित रूप मे देखना है। उनका कवि, आलोचक, निबन्धकार तथा सम्पादक, एक ही मूल व्यक्तित्व की विविध परिणितियाँ हैं। अत उनमे से किसी एक का अध्ययन खण्ड का ही ज्ञान करा सकता है। किस प्रकार व्यक्तित्व की रागात्मकता कवि नगेन्द्र का उप-जीव्य बनी, *किस प्रकार कवि नगेन्द्र एक निश्चित सीमा पर आकर ठिठक गए* और 'रिलेरेस' की भाँति आलोचक नगेन्द्र को अपनी अनुभूति की गहराइयो, अभिव्यक्ति की वक्र-योजनाओ और सुरुचिपूर्ण व्यवस्थाओ को देकर विदा हो गया। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध मे एकसूत्रता को उभारने की चेष्टा की गई है चाहे कार्यकारण परम्परा कुछ शिथिल लगे, पर इसमे व्यक्तित्व के भावनात्मक विकास की कडियो को खोजा और सँजोया गया है।

योजना

प्रस्तुत प्रबन्ध मे विषय का विभाजन इस प्रकार किया गया है कि व्यक्तित्व के प्रकाश मे कृतित्व को परखा जा सके। व्यक्तित्व के सस्कारो के विकास देश की परिस्थितियो को

---

१ डा० नगेन्द्र की आलोचना-प्रक्रिया (लेख), साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २६ अगस्त १९६२

अलग करके नही, व्यक्तित्व के सदर्भ मे देखना चाहिये और कृतित्व का विवेचन व्यक्तित्व से सम्बद्ध करके किया जाना चाहिये। इन दृष्टियो से अध्यायो का नियोजन किया गया है : व्यक्तित्व, कवि, निबन्धकार, आलोचक, सम्पादक तथा उपसहार।

प्रथम अध्याय

इस अध्याय मे व्यक्तित्व का विश्लेषण अभिप्रेत है। नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व पर पारिवारिक प्रभावो की चर्चा सामान्य रूप से करके उनकी साधना को विशेष रूप से देखा गया है। उच्च शिक्षा के वातावरण मे जो भारतीय और पाश्चात्य विचार-धारा का संघर्ष था, वह साहित्यिक रुचि को भी प्रभावित करने लगा था। इस सघर्ष ने नगेन्द्र जी के आरम्भिक कृतित्व की दिशा के सम्बन्ध मे प्रयोग की स्थिति उत्पन्न करदी। एक ओर रोमांटिक प्रभाव ने कवि बनाना चाहा, दूसरी ओर आलोचना के क्षेत्र मे हुई उत्क्रांति आलोचना की ओर डा० नगेन्द्र को आकर्षित करने लगी। युग का प्रभाव भी व्यक्तित्व को अछूता नही छोडता। अत. युग का विश्लेषण भी सामान्यत इस अध्याय मे है। अन्त मे नगेन्द्र जी की प्रकृति और उनके जीवन-दर्शन का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय मे नगेन्द्र जी के कृतित्व की आरम्भिक कहानी के भूले-बिसरे सूत्रो का नियोजन किया गया है। वे कभी कवि थे, यह एक स्वप्न की सी बात लगती है। पर यह वह यथार्थ है, जो प्रकाश मे आना चाहिए। उनका 'कवि' मरा नही, उनके निबन्धकार और आलोचक के साथ एकाकार हो गया। अत' उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की दृष्टि से कवि नगेन्द्र का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। नगेन्द्र जी पर छायावादी प्रवृत्ति और उससे सम्बन्धित कवियों के व्यक्तित्व का सघन प्रभाव था। इस प्रभाव को उन्होने अनेकत्र स्वीकार भी किया है। पर इसका सबसे स्पष्ट रूप उनकी कविताओ मे प्राप्त होता है। विशेष रूप से पत और प्रसाद का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। उसी प्रवृत्ति के अनुरूप सौंदर्य की अतीन्द्रिय भावना नगेन्द्र जी की कविताओ मे व्याप्त है। मानवीकरण की पद्धति से प्रकृति कवि की कल्पना-सहचरी बन गई है। कुछ कविताओ मे प्रेम की अभिव्यक्ति स्थूल होने पर भी सकेतो से पुलकित है। अन्त मे कुछ दिशान्तर वाली कविताएँ भी है। इन कविताओ मे दिशान्तर की वही सूचना प्राप्त होती है, जो पन्त, निराला और नरेन्द्र शर्मा की पीछे की कविताओ मे दीखती है। दिशान्तर हुआ भी, पर क्षेत्र ही बदल गया। 'कवि' आलोचक बन गया। इसी कृतित्व की भूली कहानी इस अध्याय मे सजोई गई है।

तृतीय अध्याय

कवि की अनुभूति और उसका भाषा-शिल्प नगेन्द्र जी की निबन्धकला के अपरिहार्य अग बन गये। निबन्धो मे कवि उतना स्पष्ट तो नही है, फिर भी सूत्र-व्यवस्था, भाषा-नियोजन तथा वस्तु-विन्यास मे उसका अज्ञात, पर सबल योगदान मिलता है। नगेन्द्र जी के निबन्धों का वर्गीकरण करने के पश्चात् उनकी विशेषताओ को स्पष्ट किया गया है। उनकी शैली मे व्यक्तित्व के तत्त्व इतने उभरे है कि उसमे एक निजीपन आ गया है।

नगेन्द्र जी की निबन्ध-कला की विशेषता वस्तुत उनका गठन ही है। उनके निबन्ध इतने शृंखलाबद्ध, सुस्पष्ट और कार्य-कारण परम्परा के औचित्य को लिए रहते हैं कि निबंध एक पारे की बूंद की भाँति सुगठित होते हुये भी तरलता और गति को नहीं खो देता। निबन्धों का वातावरण बहुत व्यापक है। ससार के विद्वानो की विशिष्ट वाणियों की गूँज वहाँ सुन पड़ती है। परिवेश की व्यापकता को भी ये अपने मे समेटे हैं। विषय की दृष्टि से भी व्यापकता अत्यधिक है। हास्य और व्यग्य के तत्व यद्यपि विरल हैं, तथापि जहाँ इसके छींटे हैं उनसे रोमाच अवश्य हो जाता है। हास्य उच्च और स्वाभाविक है। कुछ विशेष प्रकार की निबन्ध शैली के भी कतिपय प्रयोग डा० नगेन्द्र ने किये है, कभी सवाद कभी गोष्ठी, कभी स्वप्न-प्रसग, कभी 'क्लास-लेक्चर' की शैली के प्रयोग भी मिलते हैं। निबन्धो का वर्गीकरण करके उनके शिल्प पर विचार इस अध्याय का अभिप्रेत है।

चतुर्थ अध्याय

नगेन्द्र जी के आलोचक और निबन्धकार को सरलता से अलग नही किया जा सकता। उनका आलोचक निबन्धकार के सहयोग से ही कर्मक्षेत्र म प्रयुक्त होता है। वैसे सुविधा की दृष्टि से निबन्धकार पर तृतीय अध्याय मे विचार कर लिया गया है। इस अध्याय मे नगेन्द्र जी की आलोचना पद्धति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। आलोचना के क्षेत्र मे नगेन्द्र जी का कृतित्व अपने चरमबिन्दु को स्पर्श करता है। उद्देश्य भी यहाँ आकर महान हो जाता है विभिन्न आलोचना-धाराओ का मर्म-विवेचन करके सामान्य तथा पूरक तत्वो को चुनकर, शाश्वत मानवीय मूल्यो पर आधारित एक सर्व-सामान्य मानदण्ड की खोज ही आलोचक नगेन्द्र का उद्देश्य है। इस दृष्टि म वे सैद्धान्तिक आलोचना के कार्य-क्षेत्र मे निर्भ्रान्ति, निर्द्वन्द्व और पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर कार्य प्रविष्ट हुये। अनेक दृष्टियो से उसका महत्त्व है। सबसे बडी देन यह है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से भारतीय काव्य-शास्त्र को देखा-समझा गया है। भारतीय दृष्टि से पाश्चात्य काव्यशास्त्र को और पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र को देखने का स्तुत्य और ऐतिहासिक प्रयास नगेन्द्र जी की सैद्धातिक आलोचना के कृतित्व को बहुत व्यापक और आकर्षक बना देता है। साथ ही व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे छायावादी कवियो और उनकी कृतियों का विद्वतापूर्ण समर्थन करके उन्होंने एक ऐतिहासिक कार्य किया है। एक प्रवृत्ति के साथ न्याय करके, उसके तत्वों मे स्वर्णिम सम्भावनाओ की झाकी देखना नगेन्द्र जी की व्यावहारिक आलोचना का ही कार्य है। तुलनात्मक दृष्टि से भी नगेन्द्र जी ने कुछ आलोचनाएँ लिखी हैं। आलो-चना और अनुसधान के सम्बन्ध मे भी उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण लेख लिखे है।

इस अध्याय मे एक और समस्या पर विचार किया गया है। व्यक्तिवादी आलो-चना मनोविज्ञान से सबल ग्रहण करती हुई एक सबल आलोचना पद्धति के रूप मे प्रतिष्ठित हो गई है। भारत मे इसके साथ गाधीवाद की सामाजिक दृष्टि का समावेश हो गया। गाधी के अध्यात्म, मनोविज्ञान की शोधो तथा व्यक्तिवादी विचारधारा के सगम पर नगेन्द्र जी स्थित हैं। इस प्रकार व्यक्तिवादी आलोचना पद्धति मानवता वादी धरातल पर अवतीर्ण हो गई। शुक्ल जी मे लोकमगल का जो समाजोन्मुखी उन्मेष था, वह नगेन्द्र जी

मे सूक्ष्म मानवतावादी तत्वों से अनुस्यूत होकर व्यक्तिवादी आलोचना की विस्तृत सीमाओं में समा गया। इस प्रकार हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे नगेन्द्र जी का स्थान निर्धारित करने की चेष्टा की गई है।

पंचम अध्याय

इस अध्याय मे सम्पादक नगेन्द्र के कृतित्व पर दृष्टिपात किया गया है। नगेन्द्र जी की दृष्टि मे हिन्दी के अनुसधित्सु के लिये उचित सामग्री का सम्बल आवश्यक है। हिन्दी के आलोचना-शास्त्र की विस्तृत सीमाओ की सम्भावना को बल देना है। माध्यम की कठिनाई के कारण जो सामग्री बिखरी पडी है, उसको सग्रहीत करना है और यह सब हिन्दी के वर्तमान रूप और विस्तार को समझ कर करना है। इस विशाल और तात्कालिक विस्तार और शोध की आवश्यकताओ से प्रेरित होकर सम्पादक नगेन्द्र के कृतित्व का विस्तार हुआ। अनूदित साहित्य का सम्पादन इसी दृष्टि से किया गया। अरस्तू के काव्य-शास्त्र का अनुवाद सुसम्पादित रूप मे हिन्दी के काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी को मिला। भारतीय काव्य-शास्त्र की विविध धाराओ को हिन्दी के माध्यम से उतारा गया। डा० नगेन्द्र के कृतित्व मे यहाँ सहयोग और सहकारिता की बात आती है। उनका कृतित्व व्यक्तिगत सीमाओ का उल्लघन करके अन्यो के अनिवार्य योगदान का स्वागत करता है। स्व० आचार्य विश्वेश्वर जैसे विद्वानो का सहयोग इसका उदाहरण है। नगेन्द्र जी ने स्वतन्त्र रूप से भी साहित्य-सम्पादन किया है। 'वार्षिकी' वर्ष की साहित्य-प्रगति से हिन्दी के पाठक को अवगत कराने के उद्देश्य से सम्पादित हुई। इस प्रकार सम्पादक नगेन्द्र का रूप भी बडा आकर्षक और स्पृहणीय है।

अन्त मे इस विचार-विश्लेषण के समवेत प्रभाव और समग्र रूप का दर्शन रह जाता है। उपसहार में इसी को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। प्रबन्ध के अन्त मे कुछ परिशिष्ट है। उनमे से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : साहित्यिक पारिभाषिक शब्दावली तथा नगेन्द्र जी की अप्रकाशित काव्य कृति। पहले मे कृतित्व की ही एक वैज्ञानिक दिशा का उद्घाटन किया गया है। पारिभाषिक शब्दावली, जो सस्कृत साहित्यशास्त्र मे प्रचलित थी, का अवतरण कठिन नही है, पर उसको आधुनिक अर्थ प्रदान करने मे नगेन्द्र जी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। शास्त्रीय अर्थ को विस्तृत या सकुचित करके भी कुछ शब्दो के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। जहाँ तक पश्चिमी साहित्य-शास्त्र तथा मनोविज्ञान की शब्दावली का प्रश्न है, नगेन्द्र जी का योगदान और भी अधिक है। या तो प्राचीन शब्दावली मे उसकी खोज की गई है या सामान्य अर्थ वाले प्रचलित शब्दो को विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों से सम्पृक्त किया गया है। इसमे रचना और शोध की शक्तियो का सामूहिक प्रयत्न द्रष्टव्य है। यह भी कृतित्व की एक विशिष्ट दिशा है। इस शब्दावली का पूर्ण परिशीलन तो नही हो पाया है, पर उनके साहित्य से सगृहीत सूची के अवश्य पूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है। दूसरे परिशिष्ट का उद्देश्य नगेन्द्र जी की अप्रकाशित रचना को प्रकाश मे लाना है। जब 'वनमाला' की रचना हो रही थी, उस समय मे गोल्डस्मिथ की रचना का

'भ्रान्त-पथिक' के रूप में रूपांतरण हो रहा था। अतः कवि नगेन्द्र के आरम्भिक काल उन्मेषों की निश्छल झाँकी इसमें है।

उक्त प्रबन्ध का यही संक्षिप्त परिचय है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि यह सर्वथा पूर्ण है या अन्तिम है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नगेन्द्र जी पर इस प्रकार का यह अध्ययन प्रथम है। उनकी आलोचना के सिद्धान्तों पर एक प्रबन्ध प्रकाशित भी हो चुका है, पर उसमें महत्त्वपूर्ण अंग का प्रकाशन होने पर भी पूर्णता की कामना सन्तुष्ट नहीं होती। इस लघु प्रयत्न में विभिन्न दिशाओं का अध्ययन करके समग्र रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

भूमिका

डा० नगेन्द्र ने कवि, निबन्धकार, आलोचक और सम्पादक के रूप में विगत तीन दशकों में हिन्दी-साहित्य के विकास में विविध सन्दर्भों में योगदान किया है। उनकी प्रथम कृति 'वनबाला' (खण्ड काव्य) सन् १९३७ में प्रकाशित हुई थी और उनकी नवीनतम रचना 'रस-सिद्धान्त' सन् १९६४ का प्रकाशन है। सत्ताईस वर्षों के इस यात्रा-काल में उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, रीति-कालीन कविता, छायावाद और नई कविता के निष्ठावान् अध्येता एवं अनुसन्धाता समीक्षक के रूप मे तो प्रतिष्ठा प्राप्त की ही है, उनके कवि-रूप की स्मृति भी भुलाए नही भूलती। यदि वे आलोचना के साथ ही काव्य-रचना की ओर भी प्रवृत्ति बनाये रखते, तो निश्चय ही उनकी गणना आज के समर्थ कवियों में होती। अतः इस पुस्तक के एक अध्याय में नगेन्द्र जी के कवि-रूप की समीक्षा का अपना महत्त्व है तथा परिशिष्ट-खण्ड में 'भ्रान्त पथिक' की पाण्डुलिपि को प्रकाश में लाना भी उतना ही सार्थक है।

विगत चार-पाँच वर्षों में डा० नगेन्द्र की साहित्यिक उपलब्धियों के विषय में काफी चर्चा-परिचर्चा होती रही है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहते हैं तथा पुस्तक रूप मे भी उनके कर्तृत्व का सर्वांग विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। श्री नारायणप्रसाद चौबे का लघु प्रबन्ध, 'डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त' और डा० रणवीर रांगा द्वारा सम्पादित 'डा० नगेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व' इसी क्रम की पुस्तकाकार रचनाएँ हैं। 'डा० नगेन्द्र की साहित्य-साधना' शीर्षक प्रस्तुत कृति श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिए लिखित शोधपूर्ण निबन्ध है, जिसमें लेखिका ने हिन्दी और अंग्रेजी के समीक्षाशास्त्र को दृष्टि में रखते हुए डा० नगेन्द्र की उपलब्धियों का तटस्थ भाव से विश्लेषण किया है।

यह कृति एक अहिन्दीभाषी लेखिका की रचना है और इसे एक अहिन्दी-भाषी प्रदेश के विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे प्रस्तुत किया गया है। इससे न केवल इस पुस्तक का गौरव बढ जाता है, अपितु यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि डा० नगेन्द्र की रचनाएँ केवल हिन्दी-क्षेत्रों में ही लोकप्रिय नहीं है, अपितु अहिन्दी-क्षेत्रों के विद्यार्थियों और विद्वद्वर्ग में भी वे सुप्रतिष्ठित है। इस वर्ष साहित्य अकादमी ने उन्हें जिस ग्रन्थ (रस-सिद्धान्त) को रचना के लिए पुरस्कृत किया है वह भी हिन्दी की ही नही वरन् सभी भारतीय भाषाओं की निधि है, क्योंकि इसमें उनका दृष्टिकोण समस्त भारतीय काव्य दर्शन को समेटे हुए है।

वस्तुत 'भारतीय वाङ्मय' और 'देवनागर' के सम्पादक नगेन्द्र के विषय मे यह सर्वविदित है कि वे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ मे घनिष्ठ सम्पर्क-साधन के प्रबल समर्थक है और उन्होने भारतीय साहित्य का विविध परिप्रेक्ष्यो मे चिन्तन-विश्लेषण किया है।

प्रस्तुत कृति मे डा० नगेन्द्र के बहुचर्चित ग्रन्थ 'रस-सिद्धान्त' की विवेचना नही है, जिसका कारण यह है कि इस शोध-निबन्ध की रचना उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व हुई थी। इस सुन्दर विवेचना के लिए मैं कल्याणीया टी० वी० सुब्बालक्ष्मी को बधाई देता हूँ। मेरी कामना है कि भविष्य में वे हिन्दी तथा दाक्षिणात्य भाषाओ के साहित्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा मे अग्रसर हो।

विजयपालसिह,
आचार्य एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
श्री वेङ्कटेश्वर विश्वविद्यालय,
तिरुपति (आ० प्र०)

डा० नगेन्द्र की साहित्य साधना

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

नगेन्द्र जी का व्यक्तित्व

प्रास्ताविक—व्यक्तित्व और कृतित्व का सम्बन्ध कारण-कार्य के रूप मे निरूपित किया जा सकता है। किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व मे यदि उसकी साधना के कारण-रूप बीजो का अस्तित्व खोजा जा सकता है तो उसके कृतित्व पर उसके व्यक्तित्व की सघन-विरल छाया देखी जा सकती है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन एक-दूसरे का पूरक बन जाता है। व्यक्तित्व अपने आप मे उन समस्त स्थूल और सूक्ष्म शक्तियो को समेट लेता है, जो जन्मजात और अर्जित हैं। जन्मजात प्रकृति का पुनर्लेखन (Reshaping) वातावरण के समीपस्थ और महत्त्वपूर्ण दूरस्थ तत्त्वो के प्रभाव का परिणाम होता है। अर्जन की दिशा और सृजन की दृष्टि भी बहुत-कुछ वातावरण के द्वारा ही सुनिश्चित होती है। प्रस्तुत अध्याय मे डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व की स्थूल और सूक्ष्म रेखाओ को स्पष्ट करना और कुछ निगूढ़ रेखाओ को यथासम्भव उभार देना अभीष्ट है। युग-परिवेश का विश्लेषण इसी अध्ययन का भाग है।

जीवन-क्रम—नगेन्द्र जी के जीवन की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत करना कोई कठिन कार्य नही है और न इस सम्बन्ध मे कोई नवीन शोध या सूचना सम्भव ही दीखती है। इसका कारण यह है कि नगेन्द्र जी से ही स्वय इस सम्बन्ध की पूर्ण प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है। डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने कुछ नपे-तुले प्रश्नो के द्वारा नगेन्द्र जी के प्रारम्भिक जीवन की सूचनाएँ उनसे प्राप्त की है।[1] श्री नारायणप्रसाद चौबे ने प्राय इसी सामग्री के आधार पर नगेन्द्र जी के आरम्भिक जीवन का परिचय दिया है।[2] श्री भारतभूषण अग्रवाल ने स्थूल जीवन-रेखाओं के साथ अपनी व्याख्या और समीक्षा के रग का सयोग करके नगेन्द्र जी के जीवन का एक भव्य चित्र प्रस्तुत किया है।[3] साथ ही उन्होने डा० नगेन्द्र की पुस्तको मे उपलब्ध प्रकाशकीय परिचयात्मक टिप्पणियाँ दी है, जिनमे समान सूचनाएँ ही मिलती है। इस सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री पर विश्वास करके तथा कुछ सूचनाओ की पत्र-व्यवहार से पुष्टि करके नगेन्द्र जी के जीवन की स्थूल रूपरेखा इस प्रकार खड़ी की जा सकती है।

स्थूल रेखाएँ—नगेन्द्र जी का जन्म अलीगढ़ जिले के अतरौली नामक कस्बे मे चैत्र कृष्णा ९ सवत् १९७१ विक्रमी (मार्च १९१५) मे एक सनाढ्य ब्राह्मण-परिवार मे हुआ। उनके पिता प० राजेन्द्र को, प० गगाप्रसाद मगाइच के दत्तक पुत्र के रूप मे एक जमीदारी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। प० राजेन्द्र का झुकाव आर्यसमाज की ओर आरम्भ से था। वे आर्यसमाजी लेखक, कार्यकर्त्ता और नेता बन गये। इस

१. देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १३८-१६१
२. देखिए 'डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धात', पृ० ३-४
३. देखिए 'डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध', पृ० ५-१२

प्रकार उनके व्यक्तित्व मे ब्राह्मणत्व के परपरायुक्त रूप, सामतीय जीवन और देशव्यापी प्रबल सुधारवादी धारा का एक त्रिकोणात्मक सघर्ष प्रस्तुत हुआ। पारिवारिक वातावरण के आर्यसमाजी तत्वो और नैतिकता का सकेत नगेन्द्र जी की एक कविता मे इस प्रकार मिलता है—

मैं यज्ञ-पूत गृह के सस्कारो मे पोषित।
आस्तिक गुरुओ से पाई दीक्षा आर्योचित॥
वैदिक विधि से मनु से सीखी गार्हस्थ्य नीति।
शिक्षा से सयम, कुल-गौरव से पाप-भीति॥[१]

इसको सक्षेप मे प्रगति और प्रतिक्रिया का सघर्ष कहा जा सकता है। अन्त मे प्रगति की विजय हुई और राजेन्द्र जी ने परम्परा से प्राप्त सुख-सुविधाओ के आधार पर निष्क्रिय जीवन बिताने की अपेक्षा एक अध्यापक का सक्रिय स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा। सामाजिक कार्यों मे लीन रहने के फलस्वरूप वे परिवार की ओर विशेष ध्यान न दे सके। परिणामत नगेन्द्र जी की देख-रेख उनके पितामह और पितामही करते रहे।

शिक्षा-क्रम—हमारी शिक्षा-प्रणाली जिन साम्राज्यवादी आवश्यकताओ और सीमाओ मे आबद्ध है, वे शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास का साधन नही बनने देते। समाज मे आर्थिक और सामाजिक कुठाओ से पीडित शिक्षक वर्ग कभी थोथी नैतिकता के बल की बैसाखियो पर खडा होना चाहता है और कभी अपने अधकचरे ज्ञान से जिज्ञासा-पूर्ण बाल-मस्तिष्क को अभिभूत करना। डा० नगेन्द्र के परिवार के प्रबुद्ध वातावरण ने उनके बोध-स्तर को ऊँचा कर दिया था और उनमे निर्भीकता भर दी थी। नगेन्द्र जी के आरम्भिक शिक्षको को इसी सघर्ष का सामना करना पडा। जब तक उनकी अपनी रुचि के अध्यापक न मिल गये तब तक परिस्थिति के व्यग्य से आहत उनका व्यक्तित्व दुर्दम क्राति करता रहा। इस बात को उन्होंने स्वय स्वीकार किया है।[२] ये ही शिक्षक उनकी श्रद्धा क भाजन हो गये। यह बाल्यकालीन सघर्ष अव्यक्त रूप से उनके कृतित्व को न्यूनाधिक प्रभावित करता रहा है। उच्च शिक्षा के लिये उन्हे अन्यत्र भी जाना पडा। उनका शिक्षा-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—

एम ए. (अग्रेजी) १९३६ सेंट जॉन्स कालेज, आगरा।
एम. ए. (हिन्दी) १९३७ नागपुर विश्वविद्यालय।
डी लिट् (हिन्दी) १९४६-४७ आगरा विश्वविद्यालय।

इस अवधि मे कोई विशेष उल्लेखनीय घटना अथवा विद्यार्थी-जीवन की कोई विशेष उल्लेखनीय उपलब्धियाँ नही रही। वैसे, उन्होंने साहित्य-साधना का आरम्भ

---

१. छन्दमयी, पृ० ३६
२. देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, कमलेश, पृ० १४१

'फर्स्ट ईयर' में ही कर दिया था।[1] इस अवधि की महत्त्वपूर्ण घटना कुछ साहित्यिक व्यक्तियों के संपर्क में आना था। विद्यार्थी-जीवन के आरम्भ में उनमें आत्म-विश्वास की कमी थी, पर शीघ्र ही उनका संकल्प चेतना के केन्द्रों को जीवन-रस से आप्लावित करने लगा। उन्हीं के शब्दों में—"इन्टरमीडियेट में जाकर थोड़ा आत्मविश्वास आया और मेरे मन में यह स्पष्ट होने लगा कि मेरा विषय हिन्दी है।"[2] किन्तु, एक बार फिर किसी कारणवश वे विचलित हुये तथा हिन्दी के प्रति प्रबल आकर्षण होने पर भी उन्होंने अंग्रेजी में एम० ए० किया। कौन जाने यह नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व की उस अंतःसलिला की ही परिणति होगी, जो उन्हें हिन्दी-साहित्य को एक व्यापक परिवेश में देखने की ओर ला सकी। अंग्रेज़ी के अध्ययन ने निश्चय ही नवीन बौद्धिक उपलब्धियों का द्वार उन्मुक्त किया। इससे उनकी सोचने-समझने और लिखने की पद्धति प्रभावित हुई। जब विद्यार्थी-जीवन की यह ऊहापोह चल रही थी, उसी समय बाबू गुलाबराय तथा प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त से सपर्क होना दिशा-परिवर्तन के रूप मे लिया जा सकता है। इन दोनो व्यक्तित्वो के प्रभाव के ऊपर आगे विचार किया गया है। उच्च शिक्षा की समाप्ति पर नगेन्द्र जी ने यद्यपि आगरा छोड़ दिया, पर आगरा के प्रमुख साहित्यकार उनके सम्भावनापूर्ण व्यक्तित्व को भुला नही पाये। श्री भारतभूषण अग्रवाल ने इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "यद्यपि तब तक नगेन्द्र जी अपनी शिक्षा समाप्त कर आगरा छोड़ चुके थे फिर भी बीच-बीच में उनकी चर्चा सुनाई पड़ती रहती थी। श्रद्धेय बाबू गुलाबराय,······श्री महेन्द्र,·········श्री सत्येन्द्र के मुँह से उनकी प्रशंसा बराबर सुनता रहता था।"[3]

व्यावहारिक जीवन में प्रवेश—शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् नगेन्द्र जी ने व्यावसायिक और व्यावहारिक जीवन मे प्रवेश किया। "विद्यार्थी-जीवन की अपेक्षा डा० नगेन्द्र का परवर्ती जीवन कहीं अधिक सफल रहा।"[4] दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कालेज ऑफ कॉमर्स में दस वर्ष प्राध्यापक के रूप में कार्य करने के उपरात उन्हे, सम्भवतः अपनी प्रवृत्ति और रुचि के विरुद्ध सन् १९४७ मे आकाशवाणी मे जाना पड़ा। सभवत यह किसी आर्थिक अथवा अन्य किसी ऐसी ही विवशता का परिणाम था। प्राध्यापक के रूप मे उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था और मनीषिता की गम्भीर साधना की थी, पर अब आकाशवाणी के यांत्रिक और बँधे-सधे आवरण मे वे एक आन्तरिक विकलता का अनुभव कर रहे थे। यद्यपि इस वातावरण मे नगेन्द्र जी पाँच वर्ष रहे और उन्होंने हिन्दी की स्थिति को आकाशवाणी के कार्यक्रमों मे सुदृढ बनाने मे सक्रिय योगदान भी दिया, फिर भी ज्यों ही सन् १९५२ मे उन्हें अवसर मिला त्यों ही वे फिर अध्यापन की ओर चले गये। दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिन्दी के रीडर-अध्यक्ष के पद पर उनकी

१. "यों तो एक-आध तुकबन्दी मैंने हाई स्कूल पास करते-करते भी जोड़ ली थी परन्तु फर्स्ट ईयर में आकर मैं नियमित रूप से कविता करने लगा।"—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १४५
२. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १४५
३. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, भूमिका, पृ० ५
४. डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धांत, नारायणप्रसाद चौबे, पृ० ५

नियुक्ति हुई। फिर अपने अध्यवसाय और उद्योग से वे प्रोफेसर के पद पर अधिष्ठित हुये, जैसे भूला हुआ मनोरम द्वीप फिर मिल गया हो, जैसे "उडि जहाज को पछी फिर जहाज पै आवै।" तत्पश्चात् वे उत्तरोत्तर उन्नतिशील हैं। सन् १९५८ मे वे विश्वविद्यालय मे कलासकाय के अधिष्ठाता और १९६० मे मानविकी शोधमडल के अध्यक्ष (Chairman, Board of Research Studies in humanities) हुए। इस प्रकार उन्हे अपने व्यावसायिक तथा व्यावहारिक जीवन मे स्थूल जटिल सघर्ष का सामना तो बहुत नही करना पडा, पर उस आतरिक सघर्ष के आकुलतापूर्ण क्षणो का अनुभव वे अवश्य करते रहे, जो अतत परिस्थितियो की अनुकूलता से शान्त हो गया।

व्यक्तित्व विकास-दिशा—उपर्युक्त विवेचन से नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व पर पडनेवाले आरभिक पारिवारिक प्रभाव की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं। इस वातावरण मे सुधारवादी धारा के तत्त्व प्रबल थे। यहां व्यक्तियो का प्रभाव नगण्य ही है। नगेन्द्र जी ने अपने शिक्षा-काल के आरभिक अध्यापको से प्रभाव ग्रहण की चर्चा तो की है[1] पर यह प्रभाव उनके व्यावहारिक सस्कारो का ही स्पर्श कर सका। उनकी रुचि और रुचि दिशा के गहन केन्द्रो का स्पर्श ये व्यक्ति नही कर सके। उच्चतर शिक्षा-काल मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व को आन्दोलित करने लगे। प्रत्यक्ष प्रभावो मे दो व्यक्ति प्रमुख रूप से सामने आते है—बाबू गुलाबराय और प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त। ये दोनो ही व्यक्तित्व युग-चेतना की दो दिशाओ से सबद्ध थे। गुलाबराय जी द्विवेदीयुगीन नैतिकता और भारतीय आदर्शवाद की सबसे स्वस्थ प्रवृत्ति समन्वयवाद से सबद्ध थे। क्राति के तत्त्वो के अभाव के कारण उनके व्यक्तित्व मे ग्रहण और त्याग-सम्बन्धी विवेक दृढता के साथ सक्रिय नही था। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिवादी आन्दोलन से सम्बद्ध होने के नाते समन्वयवाद के भीतर प्रतिक्रिया के तत्त्वो की छानबीन तथा आलोचना करने मे तत्पर थे। उनके स्वर मे प्रगतिजन्य स्पष्टता थी, क्राति भी थी और दृढता भी। नगेन्द्र जी मानो दो मार्गों के मिलन बिन्दु पर खडे होकर अपनी भावी गति विधि के निर्धारण मे लगे थे। उनकी रुचि-दिशा का निर्धारण बाबू गुलाबराय के प्रभाव से हुआ और दृष्टि की स्पष्टता और सदृढता प्रो० गुप्त के प्रभाव का फल है।[2] वैसे, तब तक उनके अपने दृष्टिकोण मे भी सुस्थिरता आ चुकी थी, जिसका उल्लेख श्री भारतभूषण अग्रवाल ने इस प्रकार किया है 'एक बार प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त के घर अनायास ही कुछ हिन्दी लेखक इकट्ठे हुये। उन दिनो प्रगतिशील लेखक-सघ का आन्दोलन जोरो पर था और मैं भी उस आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रगतिशील बन बैठा था। उस दिन की गोष्ठी मे साहित्य के मूल सिद्धान्तो पर श्री शिवदानसिंह चौहान और नगेन्द्र जी मे बडी गरमागरम बहस छिड गई। मैं स्वभावत चौहान जी के तर्कों को मुग्ध भाव से सुन रहा था और नगेन्द्र जी के तर्क मुझे व्यर्थ और निस्सार लग रहे थे, तिस पर जब मैंने देखा कि नगेन्द्र जी के स्वर की दृढता ज्यो की त्यों बनी हुई है और वे चौहान की बातो पर अपनी

१. "इन अर्द्ध शिक्षित अध्यापक के व्यक्तित्व में जो सरलता और शालीनता थी, जीवन में जो विशेष स्वच्छता थी, वह नैतिक कठोरता से सर्वथा भिन्न थी। उसका मेरे सस्कारों पर विशेष प्रभाव पड़ा।"—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १४१

२ देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १३६

स्थापनाओं में रंचमात्र भी परिवर्तन स्वीकार नहीं करना चाहते, तो मुझे घोर निराशा हुई।"[१] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि नगेन्द्र जी का व्यक्तित्व प्रगतिवाद के साथ कोई भी समझौता करने में असमर्थ रहा। इसका तात्पर्य इतना ही है कि निहित-सुनिश्चित जीवन-मूल्यों, अपरिवर्तनीय धारणाओं और पूर्वाग्रहों पर आधारित प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के साथ नगेन्द्र जी आपाततः सबद्ध नहीं हो सके। फिर भी, वे प्रगति के स्वस्थ रूप के विरोधी नहीं थे, इसका प्रमाण उनके प्रगतिवाद पर व्यक्त विचार हैं।[२]

नगेन्द्र जी को प्रभावित करनेवाले अन्य महानुभावों में उन व्यक्तियों का नाम लिया जा सकता है, जिनका या तो स्वयं नगेन्द्र जी ने उल्लेख किया है अथवा जिनका प्रभाव उनके कृतित्व में प्रतिबिम्बित है। द्विवेदी जी के परिकर की दुर्लंघ्य परिधि से संघर्ष करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साधना नगेन्द्र जी के कुछ ही पूर्व की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने द्विवेदीयुगीन नैतिकता के साथ मानवतावादी तत्त्वों का सामंजस्य करके भारतीय काव्यशास्त्र और हिन्दी की आलोचना-पद्धति के सम्बन्ध में एक नवीन क्रांति प्रस्तुत की। उनका दृष्टिकोण कुछ निजी पूर्वाग्रहों से युक्त था, यही कारण था कि वे छायावाद के साथ कोई समझौता न कर सके। पर, शुक्ल जी के व्यक्तित्व में एक ऐसा प्रभाव था कि उनके सम-कालीन और उत्तरवर्ती आलोचक भी उससे मुक्त न हो सके। नगेन्द्र जी का प्रबुद्ध, और नवीन युग की शक्तियों से अवगत, व्यक्तित्व यद्यपि कुछ बातों में शुक्ल जी के साथ समझौता नहीं कर सका, तथापि वे उस प्रभाव से मुक्त भी नहीं रह सके। इस प्रभाव को स्वयं नगेन्द्र जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"आचार्य शुक्ल जी के प्रभाववश मेरे मन में भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रति गहरी आस्था हो गई थी। शुक्लजी का मेरे मन पर विचित्र आतंक और प्रभाव रहा है। उनका प्रभाव मेरे लिये अनिवार्य हो गया। मेरे अपने संस्कार शुक्ल जी के संस्कारों से सर्वथा भिन्न थे। मेरा साहित्यिक संस्कार छायावाद-युग में हुआ था, शुक्ल जी सुधार-युग की विभूति थे। उनकी दृष्टि सर्वथा नैतिक और आदर्शवादी थी, मुझे नैतिकता के उस रूप के प्रति कभी श्रद्धा नहीं रही। साथ ही शुक्ल जी उस समय जिस प्रकार छायावाद और छायावादी कवियों पर कसकसकर प्रहार कर रहे थे, उससे मेरे मन को बड़ा क्लेश और विक्षोभ होता था। उनके निष्कर्षों को मानने के लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं था, परन्तु उनके प्रौढ़ तर्क और अनिवार्य शैली मेरे ऊपर बुरी तरह हावी हो जाते थे और मैं यह मानने को विवश हो जाता था कि इस व्यक्ति की काव्य-दृष्टि चाहे संकुचित हो, लेकिन फिर भी अपनी सीमा में यह महारथी अजेय है। इस प्रकार शुक्ल जी के साथ मेरा मानसिक सम्बन्ध बड़ा ही विचित्र रहा।"[३] इस प्रकार नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व में भारतीय रसवाद एक सुदृढ़ सात्विक गर्व-मिश्रित राग के साथ प्रतिष्ठित हुआ, जिस पर शुक्ल जी के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती।[४]

---

१. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० ६-७

२. देखिए 'आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', 'प्रगतिवाद' शीर्षक निबन्ध।

३. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १४९

४. "शुक्ल जी के प्रभाव के कारण ही मैं भारतीय काव्य-शास्त्र और रस-सिद्धान्त की ओर मुड़ा।" —वही, पृ० १५०

शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्य भारतीय मनीषियों के प्रभाव का अनुमान नगेन्द्र जी की कृतियों में उनके नामोल्लेख से किया जा सकता है। शुक्ल जी के प्रभाव से जब भारतीय काव्यशास्त्र की ओर उनकी गति निश्चित हो गई तो संस्कृत के आचार्य उनके व्यक्तित्व को तीव्रता से प्रभावित करने लगे। इन आचार्यों में वामन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त और कुंतक की मेधाओं ने नगेन्द्र जी को एक गर्वमिश्रित आश्चर्य में डुबो दिया।[1] पाश्चात्य जगत् में १९ वीं शताब्दी से साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में नवीन वैज्ञानिक उद्भावनाएँ और मान्यताएँ उभरने लगी। इनसे प्रायः समस्त साहित्य-जगत् किसी-न किसी रूप में प्रभावित हुआ। नगेन्द्र जी भी इस प्रभाव से मुक्त न रह सके। रिचर्ड्स और क्रोचे ने उनकी विचार-धारा को विशेष रूप से प्रभावित किया।[2] जिन सामाजिक विज्ञानों ने तत्कालीन साहित्य-मनीषियों को तथा साहित्य-संबंधी शोध-समीक्षा और मूल्यांकन को प्रभावित किया, उनमें फ्रायड का मनोविश्लेषण विज्ञान तथा चेतना के विभिन्न केन्द्रों और स्तरों-संबंधी उनके सिद्धांत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नगेन्द्र जी की व्याख्या-पद्धति में भी इस विज्ञान का बड़ा हाथ है। इस दृष्टि से भारतीय रस सिद्धांत की व्याख्या करके वे नई दिशा का उद्घाटन कर सके।[3] इन साहित्यिक और वैज्ञानिक मनीषियों के अतिरिक्त नगेन्द्र जी से कविवर मैथिलीशरण गुप्त, कुछ छायावादी कवियों और कुछ अन्य नवीन पीढ़ी के कवियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। छायावादी कवियों में पंत जी की विचार धारा और शैली नगेन्द्र जी के कवि को विशेष रूप से और समस्त व्यक्तित्व को सामान्य रूप से प्रभावित करती रही।[4] जहाँ तक व्यक्तित्व के गहरे प्रभाव का संबंध है वे सियारामशरण गुप्त का नामोल्लेख करना नहीं भूलते हैं।[5]

युग-प्रभाव और प्रतिक्रिया—नगेन्द्र जी ने सन् १९३४ में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस समय तक उनके कुछ लेख यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके थे। पर, शैली और विषय में वे वैसी सुस्थिरता और परिमार्जन नहीं ला पाये थे, जो आज उनकी अपनी विशेषताएँ कही जा सकती है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व की स्थिति संसार में एक महान् उत्क्रांति के बीज छिपाये थी। इन्हीं बीजों का विस्फोट विश्व-युद्ध के रूप में हुआ। जीवन के जो सामाजिक और वैयक्तिक मूल्य प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सुनिश्चित-से दीखते थे, वे

१ "वामन, भट्टनायक, अभिनव, कुन्तक आदि की तलस्पर्शी मेधाओं से साक्षात्कार हुआ। इन पौरस्त्य आचार्यों में भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया है।"
—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५०

२ "पाश्चात्य आलोचकों में मेरे ऊपर क्रोचे और आई० ए० रिचर्ड्स का प्रभाव है।"
—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५०

३ "मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र को मैंने व्याख्या के साधन के रूप में ग्रहण किया है, वे साध्य नहीं हैं ... रस सिद्धांत में भी फ्रायड का दर्शन साधक है, बाधक नहीं।"
—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५१ १५२

४ "छायावाद के अन्य कवियों में शायद पंतजी से मेरा सबसे अधिक घनिष्ठ संपर्क है।"—वही, पृ० १५४

५ "इधर सियारामशरण के तपःपूत व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा है। परन्तु कदाचित् मेरा राग लिप्त मन उनके काव्य के अत्यन्त शुद्ध और छने हुये सात्विक रस का स्वाद लेने में असमर्थ है।"—वही, पृ० १५४

एक गहन और तीव्र क्राति से किसी भी क्षण ध्वस्त-त्रस्त हो सकते है, ऐसा अनुभव किया जाने लगा था। साम्राज्यवाद के लौह-चक्र के नीचे पिसती हुई जनता यद्यपि कुछ भयाक्रात थी, पर जीवन के आधारभूत अधिकारो के प्रति मूक सजगता का वह अनुभव कर रही थी। विश्व के दो महायुद्धों के बीच की आलोडन-विलोड़नपूर्ण परिस्थिति से भारत भी अप्रभावित नही था।

स्वतत्रता की जिस आशा-किरण से ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीव को सुदृढ़ बनाने के लिये भारत ने जो रक्तदान दिया था, उसका मूल्य चुकाना साम्राज्यवादियों ने आवश्यक नही समझा। फलतः भारत ने फिर एक बार अधिक दृढता से गाधी जी के नेतृत्व मे सत्य और अहिसा के पल्ले को पकडकर शोषक और आततायी के साथ असहयोग को अपना परम धर्म माना। यह अभूतपूर्व क्राति कभी दबती, कभी प्रकट होती लक्ष्य की ओर गतिशील हुई। हिन्दी-साहित्य भी इस क्राति से प्रभावित हुआ। गाधी जी की अहिसात्मक क्राति द्विवेदीयुगीन काव्य और साहित्य की शिरोपशिराओ मे प्रवाहित हो उठी।

पर, क्राति का एक दूसरा रूप भी उद्‌बुद्ध था। इसको हम गर्म क्राति की धारा कह सकते हैं। भारतीय युवक के रक्त-प्रवाह मे जिस क्राति की शाश्वत चिनगारियो की सृष्टि हो चुकी थी और नवोन्मेष की जो तप्त और आहत घड़ियाँ जाग्रत हो उठी थी, उन्हे गाधी जी का दृष्टिकोण अपने समस्त धैर्य, स्थैर्य और विश्वास की सपदा से भी शात नही कर पाया। युवक अविलब क्राति चाहने लगा। इस प्रवृत्ति का विस्फोट क्रातिकारी दलो की आयोजना और नेताजी के नेतृत्व मे पनपने वाली प्रवृत्तियो के रूप मे देखा जा सकता है। 'नवीन', 'दिनकर' आदि की वाणी मे इस क्राति का उद्‌घोष व्याप्त है।

यह राष्ट्रीय क्राति की सक्षिप्त रूपरेखा रही। इन दोनो क्रातियो ने मुख्यत. सृजनात्मक साहित्य को प्रभावित किया। द्विवेदी युग की नैतिक और आदर्शवादी जीवन-पद्धति की नवीन व्याख्या रूढिग्रस्त, पर जागृत, समाज को क्राति से नही बचा सकी। नवीन पाश्चात्य समाज-प्रणाली और वहाँ की स्वतत्र, स्वच्छन्द, वैयक्तिक जीवन-पद्धति ने भारत के नवीन शिक्षित वर्ग के अत.स्थल को झकझोर दिया। वैयक्तिक जीवन की कुठा से विकल चेतना नवीन प्रतीक-पद्धति और लक्षणायुक्त शैली के माध्यम से अभिव्यक्ति के लिये अधीर हो उठी और तत्कालीन भारतीय समाज की यथार्थ-भौतिक परिस्थितियो की उपेक्षा करके एक नवीन काव्य-पद्धति युग-मानस को आकर्षित करने लगी। 'छायावाद' इसी पद्धति का नाम है। इसमे राष्ट्रीयता के स्थान पर अंतर्दर्शन, सामाजिक स्तरो के विश्लेषण के स्थान पर चेतना के निगूढ केन्द्रो और रहस्यमय स्तरो की खोज और स्वप्न-लोक की सृष्टि मिलती है। युग के इस भावात्मक नवोन्मेष के पीछे मुख्यत: फ्रायड का मनोविश्लेषण, क्रोचे का काव्य-दर्शन और अग्रेजी और फ्रासीसी रोमानी कवियो की स्वच्छन्द भाव-पद्धति निहित थी। नगेन्द्र जी का भावाकुल, और बौद्धिक नैतिकतावाले पारिवारिक वातावरण के प्रति विद्रोही, युवक मन इस भाव-पद्धति और नवीन अभिव्यक्ति की प्रणाली से प्रभावित हुआ। शुक्ल जी का सुदृढ लोकमगलोन्मुख व्यक्तित्व इस अतिवैयक्तिक और मानसिक अति-यथार्थ की भूमि पर प्रवाहित धारा-विशेष के प्रति सहिष्णु न रह सका। नगेन्द्र जी के मन मे शुक्ल जी के इस

सुनिहित दृष्टिकोण के प्रति एक प्रतिक्रिया भी उपस्थित हुई। इसी क्रिया प्रतिक्रिया के सगम पर 'वनवाला' की सृष्टि हुई और 'छन्दमयी' मुस्करा उठी। किन्तु, उनका व्यक्तित्व इस विराम-स्थल पर न ठहर सका। उनके कवि-रूप की सभावनायें भी अनिश्चित थी, जिसका अनुमान श्री भारतभूषण अग्रवाल की इस उक्ति से किया जा सकता है—"आज सोचता हूँ कि 'वनबाला' की रचनाओ की मौलिकता पत के काव्य के अतिशय प्रभाव के कारण कुछ दब सी गई थी।........नगेन्द्र जी के कविता-सृजन बद कर देने से हिन्दी काव्य की हानि हुई हो चाहे न हुई हो, उन्होंने आलोचना का क्षेत्र अपनाकर हिन्दी के एक उत्कट अभाव की पूर्ति की ओर दृढ कदम उठाया है।"[1] इस अनिश्चित सभावना की स्थिति को नगेन्द्र जी के मस्तिष्क ने भी समझ लिया और उसे युग-प्रभाव न मानकर मात्र भावावेश की स्थिति समझा। इस भावमय छायाविराम को यथार्थ-मार्ग से भुलानेवाली माया समझकर उनका व्यक्तित्व युग के दूसरे प्रभाव से सम्बल ग्रहण करने लगा।

जहाँ तक बौद्धिक साहित्य-साधना का प्रश्न है, राष्ट्रीय क्रांति की परिणति भिन्न प्रकार से हुई। १९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और २० वी शताब्दी के आरम्भिक दशको मे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे भी पाश्चात्य देशो मे विभिन्न सिद्धातो और नवीन साहित्यिक मान्यताओ का नवीन जीवन-मूल्यो के प्रकाश मे वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया जाने लगा। इस वातावरण मे भारतीय मनीषियो की राष्ट्रीयता इस बात में थी कि अपने प्राचीन सिद्धांतों से अपनी आस्था को न उखड़ने दें और नवीन दृष्टि से समस्त प्राचीन ज्ञान-सपदा का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत करें और यदि आवश्यकता हो तो तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करके ज्ञान के क्षेत्र मे बढती हुई हीनता की भावना को दूर करने की चेष्टा करें। इस प्रकार का कार्य द्विवेदी युग के लेखको ने आरम्भ कर दिया था। पर द्विवेदी जी के परिकर के लेखको और विचारको मे एक-जैसी भावुकता, एक-जैसी प्रतीकात्मक शैली तथा प्राचीन तत्वो और प्रतीको की एक-जैसी सतही शैली मे नैतिक विवेचना प्रचलित रही कि वैज्ञानिकता और निष्पक्षता अधिक न उभर सकी। द्विवेदी-परिकर से मुक्त होकर शुक्ल जी ने एक ऐसी विशिष्ट समीक्षा-पद्धति का सूत्रपात किया, जिसमे भावुकता के स्थान पर तर्क तथा नैतिक विवेचन के स्थान पर वैज्ञानिक विश्लेषण प्रतिष्ठित हुए और इस सबके लिए एक सुदृढ तर्काश्रित आधार था। किन्तु, इस समस्त सूक्ष्म-वैज्ञानिक विश्लेपण के मूल मे अपनेपन का एक ऐसा मोह भी था, जिसे निराधार पूर्वाग्रह नही कहा जा सकता।

नगेन्द्र जी की बौद्धिक साधना इसी परम्परा के विकास की आगे की कड़ी है। अपनेपन का मोह उनके रसवाद की प्रतिष्ठा के प्रयत्न मे अवश्य दीखता है, पर उसके ऊपर गम्भीर अध्ययनजन्य तटस्थता और शोध-प्रवृत्तिजन्य आकुल जिज्ञासा के इतने पर्त चढ गये हैं कि वह एक तर्कपूर्ण पद्धति से उपलब्ध पुष्ट निष्कर्ष के समान लगता है। सभवत अपनेपन का मोह गलकर, सत्य को अपने पक्ष मे देखकर, तटस्थता बन गया है। इस प्रकार युग के वैज्ञानिक वातावरण ने नगेन्द्र जी की शैली और विचारणा को गहराई

१. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध, पृ० ६ और ८

से प्रभावित किया। धीरे-धीरे युग की स्थूल परिस्थितियाँ और समस्याएँ तिरोहित होने लगी। साहित्य के मौलिक सत्य एवं शाश्वत स्रोत की खोज मे नगेन्द्र जी का व्यक्तित्व संलग्न हुआ। यह शुक्ल जी से आगे का कथन कहा जा सकता है। जब आग्रह का स्थान सहानुभूति और सत्यान्वेषण ने लिया, तब सर्वत्र व्याप्त एक ही मौलिक सत्य के देश-काल-जन्य विविध सिद्धान्त-रूपो के दर्शन मे ही नगेन्द्र जी का प्रबुद्ध व्यक्तित्व प्रवृत्त हुआ। इसी दृष्टिकोण ने उनके आलोचक का कर्मपथ निश्चित किया।

स्वभाव और चर्या—डा० नगेन्द्र की रुचि की दिशा साहित्य ही है। सामाजिक और राजनैतिक सेवा-कार्यों के प्रति आरम्भ से ही उनकी रुचि नही थी।[१] साहित्य के क्षेत्र मे भी पहले वे कविता की ओर आकर्षित हुये। उपन्यास और आख्यायिकाओ के प्रति आरम्भ से ही उनमें एक विरुचि मिलती है. "आरम्भ से ही मेरी प्रवृत्ति कविता के प्रति हो गई थी। मेरे किशोर-काल मे उपन्यास और कहानी का बडा जोर था। मेरे एक समवयस्क को, जो परिवार-सम्बन्ध से मेरा भाई और वृत्ति एव प्रवृत्ति से मेरा मित्र था, उपन्यास-कहानी पढने का बडा शौक था। कभी-कभी वह मेरे पास बैठकर घंटों उपन्यास-कहानी पढता रहता था, किन्तु उसकी रस-विगलित मुद्राओ को देखकर भी मेरी उधर प्रवृत्ति नही होती थी। उस समय की यह बुरी आदत अब तक बनी हुई है। उपन्यास के आकार से आज भी मेरा मन इतना आतंकित है कि प्राय प्रयत्न करने पर भी साहस नही होता।"[२] कविता और उपन्यास के प्रति अपनी रुचि की तुलना करते हुये उन्होंने इसी प्रसंग मे आगे लिखा है—"किन्तु कविता के सान्द्रित रस का अभ्यस्त मेरा मन उपन्यास के वर्ण्य विस्तार से घबरा उठता है और प्रासगिक विवरणो को छोडकर मूल रसबिन्दु का अविलम्ब अनुसधान करने के लिए अधीर हो जाता है।"[३]

नगेन्द्र जी की काव्य-सम्बन्धी रुचि पर पहले तुलसी ने प्रभाव डालना चाहा, पर उनका स्वच्छन्द मन नैतिकता की आदर्शमूलक स्वर्ण-कारा मे आबद्ध न हो सका और उन्हे सूर ने ही विशेष आकर्षित किया। रीतिकाल के कवियो की सौन्दर्य-दृष्टि मे भी उन्हें नैतिकता से मुक्ति की झलक मिली। पर इनका प्रभाव उनकी रुचि के बाह्य परिष्कार तक ही सीमित रहा। मुख्यतः अग्रेजी के रोमांटिक काव्य ने उनकी रुचि को गहराई तक प्रभावित किया। उन्होंने स्वय अपनी रुचि पर 'शैली' और 'कीट्स' के प्रभाव की चर्चा की है।[४] कविता पर बौद्धिक आवरण उन्हे रुचिकर नही है, इसीलिए प्रगतिवादी या प्रयोगवादी काव्य मे बौद्धिक तत्त्वो की प्रबलता उन्हे रुचिकर नही लगती।[५] उनकी साहित्यिक रुचि के सम्बन्ध मे उन्ही का निष्कर्ष देना उपयुक्त होगा. "वास्तव मे, मेरे मन को दो प्रकार के रस का अभ्यास अधिक हो गया है। एक तो काव्य का केन्द्रीभूत

१. देखिए 'डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धात' श्री नारायणप्रसाद चौबे, पृ० ७

२-३. रांगा, 'डा० नगेन्द्र की आलोचना-प्रक्रिया' शीर्षक से प्रकाशित इन्टरव्यू का अप्रकाशित भाग।

४. "पहले मुझे शैली बहुत अच्छे लगते थे और अब भी लगते हैं, पर बाद में कीट्स के काव्य का मासल रस अधिक रुचिकर हुआ।" —मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५५

५. देखिए, वही पृ० १५५

रस और दूसरा विवेचन-विश्लेषण का बौद्धिक रस।"[१] सक्षेप मे नगेन्द्र जी का रुचि विकास कविता के क्षेत्र से बौद्धिक क्षेत्र की ओर हुआ है। वास्तव मे मानव-मन की प्रक्रिया का विश्लेषण ही उन्हे रुचिकर है। काव्य मे उसका रागात्मक निरूपण होता है और आलोचना मे उस रागात्मक निरूपण का बौद्धिक विश्लेषण। इसलिये यह बौद्धिक विश्लेषण भी कुछ रागमय बन जाता है।

जहाँ तक उनकी सामान्य रुचियो का प्रश्न है वे भी अस्पष्ट नही हैं। जीवन की व्यवस्था और चर्या की नियमितता कुछ बौद्धिक नियमो और उपयोगितावादी तर्कों पर आधारित होती है। नगेन्द्र जी का मन, जिसमे राग की स्वच्छन्दता के प्रति मोह और काव्य-रुचि उच्छलित थे, व्यवस्था की कारा के प्रति उतना ही विद्रोही हो उठा जितना नैतिकता के प्रति हुआ था। नगेन्द्र जी ने स्वय स्वीकार किया है कि अव्यवस्था ही उनके जीवन की व्यवस्था है।[२] उनके स्वच्छन्द मन-विहग को अव्यवस्था, उन्मुक्त आकाश के समान आकर्षक दिखाई देती है। यह उनकी स्वच्छन्दता की रुचि का ही परिणाम है। भोजन एक साधन-मात्र है, साध्य नही। जो उसे साध्य मान लेता है उस व्यक्ति का सास्कृतिक स्तर निम्नतर होता है, यह नगेन्द्र जी की मान्यता है। जिसकी वेष-भूषा की ओर विशेष रुचि होती है वह कम-से-कम उन्नतर सस्कृति वाला है।[३] जहाँ तक नगेन्द्र जी की वेश-भूषा के प्रति रुचि का प्रश्न है, वह भी उनकी स्वच्छन्दता प्रिय प्रवृत्ति से प्रेरित है। छायावादी कवियो की कुछ विशेषताएँ (बाह्य रूप-रेखा सम्बधी) रूढ हो गई थी और नगेन्द्र जी अपने आरम्भिक कवि-जीवन मे इन विशेषताओ से युक्त थे। उन्ही के शब्दो मे "मुझे याद आता है कि जब मैं बी० ए० का विद्यार्थी था तब अपनी किशोर कल्पना के अनुरूप मैंने भी लम्बे बाल रखना, बद मोहरी का कुर्त्ता, धोती और एक खास किस्म की चप्पल पहनना शुरू कर दिया था।"[४] इस कथन मे 'किशोर कल्पना के अनुरूप' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मन की कल्पना से भी वेश-भूषा का सम्बन्ध होता है। प्राय सभी अग्रेजी रोमाटिक कवि इस प्रकार के बाल रखते थे। उनके वस्त्र भी कुछ ढीले होते थे। आधुनिक औद्योगीकरण के युग मे एक चुस्त और व्यवस्थित वेश-भूषा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रचलित होने लगी थी। वेश भूषा के इस आन्दोलन से कोई भी देश बचा नही था। कल्पना-जीवी कवि इस आन्दोलन के प्रति विद्रोही हो उठे, और ढीली-ढाली वेश भूषा स्वच्छन्द कवि के लिए उसकी मानसिक स्वच्छन्दता की प्रतीक बन गई। भारत मे राजनैतिक आन्दोलनो मे भाग लेनेवाले वर्गों मे भी कुर्त्ता और चप्पल लोकप्रिय हो गए थे। कवि ने जहाँ अग्रेजी कवियों के बाल उधार लिये वहाँ वस्त्रो मे कुर्त्ता अपने देश की कलात्मक वेश भूषा के रूप मे ग्रहण किया। जब नगेन्द्र जी का क्षेत्र आलोचना का क्षेत्र हो गया तब बालो मे तो व्यवस्था आई पर कुर्त्ता और धोती उनके प्रिय वस्त्र बने रहे।[५]

---

१. देखिए, डा० रामा द्वारा लिए गए इन्टरव्यू का अप्रकाशित भाग।

२. देखिए 'मै इनसे मिला' भाग २ पृ० १२७

३ देखिए वही, पृ० १५८

४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान २६-८-६२, पृ० २५, डा० रामा का लेख।

५ "मुझे सूट बुरा नहीं लगता पर कुर्त्ता धोती उससे अच्छा लगता है।" —मै इनसे मिला भाग २, पृ० १५८

उनकी रुचि का परिष्कार उनके मनोरंजन के रूपों में भी प्रतिबिम्बित होता है। मनोरंजन के लिये उनको समय नष्ट करने वाले ताश और शतरंज जैसे खेल पसन्द नहीं हैं।[1] जिन खेलों से व्यायाम-सिद्धि भी सम्भव है उनमें उनकी रुचि है। वे टेनिस के अच्छे खिलाड़ी भी हैं।[2] इस समय राहुल जी की 'घुमक्कड़ी' और अज्ञेय जी की 'बहता पानी निर्मल' जैसी प्रवृत्तियाँ कुछ साहित्यिकों में आने लगी थीं। इसे साहित्य-सामग्री को जीवन के मौलिक स्रोतों से संकलित करने की प्रणाली कहा जा सकता है। पर, इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध आलोचक से उतना नहीं है जितना कि रचनात्मक साहित्यकार और जीवन के विविध रूपों की शोध से है। नगेन्द्र जी को चिंतन-सामग्री स्थूल यात्राओं से नहीं, साहित्य की अन्तर्यात्राओं से भी उपलब्ध होती है। इसलिये उन्हें यात्राएँ विशेष रुचिकर नहीं हैं। यहाँ तक कि यात्राओं से वे घबराते भी हैं।[3] अत्यन्त आवश्यकता होने पर जब उन्हें यात्रा करनी ही पड़ती है तब एक विचित्र बेचैनी-सी होती है। स्टेशन पर काफी पहले पहुँच जाना चाहते हैं।[4] जब यात्रा इतनी विवशता और बेचैनी को लेकर नगेन्द्र जी के सामने आ जाती है तो वह उनके मनोरंजन का भी साधन नहीं बन सकती है।

मित्रों के साथ भी समय बिताया जा सकता है, पर हर कोई न मित्र हो सकता है और न उसका साथ मनोरंजन ही। अत्यन्त घनिष्ठ मित्र वह है जिससे आतरिक सम्बन्ध हो और जिसके साथ गहरा रागात्मक परिचय भी हो। ऐसे मित्रों के साथ जिस आत्मीयता का अनुभव होता है वह 'तपन में शीतल मन्द बयार' बनकर झुलसे हुए मन को शांति प्रदान भी कर सकती है और स्वस्थ मनोरंजन भी। हर किसी के साथ ऐसी अंतरंगता सम्भव नहीं है: "कुछ अत्यन्त घनिष्ठ व्यक्तियों के अतिरिक्त मुझे दूसरों के साथ रहना अच्छा नहीं लगता। उसमें व्यर्थ का बाह्याचार मिलता है, जीवन की अंतरंगता नहीं।"[5]

डा० कमलेश ने उनके मित्र-भाव के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष दिये हैं—"आज इतनी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने पर भी वे सबको पहचानते हैं और चिरपरिचित मित्र की भाँति मिलते हैं। उनके व्यवहार में कृत्रिमता या आडम्बर नहीं है, और न वे बढ़-बढ़कर बातें करना ही पसंद करते हैं। मित्रों की गोष्ठी में सदा रसिक नायक का पार्ट अदा करते हैं।"[6]

अध्यापक के रूप में नगेन्द्र जी की कुछ विशेषतायें द्रष्टव्य हैं। अपने विद्यार्थियों में नगेन्द्र जी अत्यन्त रुचि लेते हैं। साहित्य का अध्यापक अन्य विषयों के अध्यापक से एक विशिष्ट स्थान रखता है। साहित्य के अध्यापक का कर्तव्य नगेन्द्र जी की दृष्टि में यह है: "काव्य के संवेद्य-सार को काव्य से खींचकर अपनी आत्मा में भर लेना और फिर उसे अपनी आत्मा के रस में पागकर ग्रहणशील छात्र-वर्ग की आत्मा में भरकर उसकी अंतश्चेतना

१-२. देखिए, वही, पृ० १५८

३. बाहर जाकर अपने—आपको क्षेत्र से उच्छिन्न वृक्ष के समान पाता हूँ।" —वही पृ० १५६

४. ... "कुछ तो गाड़ी छूट जाने के डर से और कुछ आदत से मजबूर होकर हड़बड़ी करता तो वे सदा यह.... ..." —विचार और विश्लेषण, पृ० १८७

५. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५६

६. वही, पृ० १६२

को स्फूर्त कर देना अध्यापक की सिद्धि है।"[1] इस उद्धरण में 'ग्रहणशील छात्र' शब्द महत्त्व-पूर्ण है। यदि छात्र ग्रहणशील नहीं है तो कक्षा में अध्यापक की वाणी से निःसृत रस का आस्वाद उसे नहीं हो सकता। इसीलिये कक्षा में ऐसे छात्रों की उपस्थिति को वे अध्यापन-रस में व्याघात मानते हैं। प्रायः ऐसे छात्रों को वे बाहर चले जाने की अनुमति भी दे देते हैं "मैंने औपचारिक रूप से घोषणा कर दी थी कि जिसे काम हो वह चला जाया करे, किन्तु चोर की तरह नहीं, भले आदमी की तरह, निश्शंक भाव से। और इस अहिंसा के सामने सुरेशचन्द्र शर्मा और विश्वामित्र-जैसे महारथी भी शस्त्र-समर्पण कर चुके थे।"[2] इस प्रकार आलोचक के अध्यापक-रूप के प्रति भी नगेन्द्र जी सजग हैं और उसके सम्बन्ध में उनकी निजी धारणायें हैं।

लेखक के रूप में भी नगेन्द्र जी की कुछ उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण हैं। लेखक के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक तत्त्व मनोयोग का है। इस विषय में श्री भारतभूषण अग्रवाल की यह उक्ति पठनीय है— अपने उद्देश्य के प्रति जो एकान्त निष्ठा और अपने कार्य के प्रति *जो तन्मय मनोयोग नगेन्द्र जी ने प्रदर्शित किया है उसी का यह फल है कि आज हिन्दी के* मूर्धन्य आलोचकों में हैं।"[3] मनोयोग होने पर मूड (Mood) और अनुकूल परिस्थितियों की दासता समाप्त हो जाती है। नगेन्द्र जी ने कहा है "मैं किसी वातावरण में भी लिख सकता हूं।"[4] पर, लेखक के लिए यह आवश्यक है कि मन पर कोई भार न हो। सामान्य रूप से परिस्थितियों की अनुकूलता लेखन के साधक तत्त्वों में से ही है। अनुकूल परिस्थितियाँ आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की होती हैं। नगेन्द्र जी ने इनको यों स्पष्ट किया है "शांतिमय वातावरण, आवश्यक संघर्ष तथा स्नायविक उत्तेजना का अभाव, महान् प्रतिभाओं के साथ आध्यात्मिक सम्पर्क, कम से कम वाणी द्वारा आत्माभिव्यक्ति। ये सभी परिस्थितियाँ सृजन के लिये अनुकूल हैं।"[5] अध्ययन आलोचनात्मक लेखन का दूसरा प्रमुख तत्त्व है। नगेन्द्र जी के स्वभाव में अध्ययनशीलता है: "उठकर एकदम पढ़ने का अभ्यास है। यह विद्यार्थी-जीवन से अब तक चला आता है।"[6] सियारामशरण गुप्त की रचनाओं का पन्द्रह वर्ष तक अध्ययन करने के उपरांत ही उन्होंने कुछ कह सकने में अपने को सक्षम पाया।[7] अध्ययन में अपने-पराये का भेद संकीर्णता का परिचायक है। ज्ञान किसी भी स्रोत से मिले, सर्वदा ग्राह्य है। इसी निष्पक्ष दृष्टि को रखकर उन्होंने *पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का अध्ययन किया है।* इसमें एक दृष्टि ज्ञान की पूर्णता की है। एक ही वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करना ज्ञान की पूर्णता का मार्ग प्रशस्त करता है। नगेन्द्र जी ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र की नवीन दृष्टि से समीक्षा

१ विचार और विश्लेषण, केशव का आचार्यत्व, पृ० ११२
२ वही, पृ० ०३
३. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० १०
४. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १२७
५ विचार और विश्लेषण, पृ० ११२
६ मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५७-१५८
७ 'लगभग पंद्रह वर्षों से निरंतर अध्ययन करता आया हूँ सियारामशरण गुप्त की कविता का।"
—सियारामशरण गुप्त, डा० नगेन्द्र, पृ० ६६

प्रस्तुत करना अपना अभीष्ट माना : "अब तक हम भारतीय आचार्यों के सिद्धान्तों का पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में आख्यान अथवा पुनराख्यान करते रहे थे। इस ग्रन्थ में हमने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आद्याचार्य अरस्तू के सिद्धान्तों की भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में विवेचना की है।"[1] इस प्रकार नगेन्द्र जी रूढ़िवादी नहीं, गत्यात्मक रहे हैं। उनके अध्ययन में श्रद्धा और परिश्रम दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, जो ज्ञान की प्राप्ति के अमोघ साधन हैं।

नगेन्द्र जी की साहित्य-साधना के प्रारम्भिक काल में व्यक्तिवादी और समाजवादी प्रवृत्तियों का संघर्ष प्रबल था। आज भी यह संघर्ष चल रहा है। व्यक्ति की आन्तरिक सुन्दरता और असुन्दरता, पवित्रता या अपवित्रता को कर्म-सौन्दर्य की कसौटी मानकर चला जाय या सामाजिक नियमन और आचारमूलक विधि-निषेध को महत्त्व दिया जाय, यही सामाजिक संघर्ष का दार्शनिक पक्ष है। यदि व्यक्ति की भावना की कसौटी पर कसकर आचरणगत निर्णय दिये जायें तो सम्भवतः समाज के नियमन-संस्थान विक्षुब्ध हो उठेंगे और यह आशंका नियामक आचरणशास्त्र को विचलित कर देगी कि वैयक्तिक भावना को महत्त्व देने से कहीं आचरणगत उच्छृङ्खलताएँ न उत्पन्न हो जायें। नगेन्द्र जी ने इस प्रश्न के समाधान के लिये मन की अच्छी और बुरी भावनाओं की निर्द्वन्द्व परिभाषा करना ठीक समझा : "अच्छी भावना का अभिप्राय······उसी भावना से होगा, जिसमें केवल अपने ही नहीं मनुष्य मात्र का कल्याण निहित है।"[2] इस दृष्टिकोण से मानसिक भावनाओं की उपेक्षा नहीं होती और आचरण की उच्छृङ्खलता को समष्टिवादी दृष्टि नियन्त्रित रखती है। "इस दृष्टिकोण का सीधा-सा अभिप्राय यह है कि पाप-पुण्य का सीधा-सा सम्बन्ध मन की भावना के साथ मान लेने पर भी आचरण की उच्छृङ्खलता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकेगा।[3] इस प्रकार उनकी दृष्टि में कर्म-सौन्दर्य बाह्याचरण पर आधारित नहीं, मन की भावनाओं की पवित्रता से ही अनुप्राणित है। भावशून्य मन मनुष्य को मनुष्य ही नहीं रहने देगा। पर, आवश्यकता इस बात की है कि भावना परिष्कृत हो अर्थात् ऊर्ध्वोन्मुखी भावना ही कर्म को सौंदर्य प्रदान कर सकती है। परिष्कार और उन्नयन मानस-व्याधियों से बचने के लिये मनोवैज्ञानिक उपाय हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार इसी दृष्टिकोण में व्यष्टि की परिधियाँ फैलकर समष्टि से एकाकार हो जाती हैं। मूलतः नगेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद में विश्वास रखते हैं और समाज को व्यक्तियों का समूह नहीं, व्यक्ति की उदात्त और समुन्नत भावनाओं का विकास मानते हैं। यह पूर्व-युगीन आदर्शवादी नैतिक भावना की ही मनोविज्ञानाश्रित स्वस्थ प्रतिक्रिया कही जा सकती है।

आधुनिक युग वैचारिक और मूल्यगत संक्रान्ति और संक्रमण का युग है। यदि एक ओर अध्यात्म और आदर्श है तो दूसरी ओर भौतिकवाद और यथार्थ। समाजविज्ञान की दृष्टि से यह व्यक्तिवाद और समाजवाद का ही ऐतिहासिक संघर्ष है। भारत में गांधीवाद को सत्य, आदर्श और आध्यात्मिक तत्त्वों से समन्वित समाजोन्मुखी व्यक्तिवादी दर्शन कहा जा सकता है। मार्क्स की समाजवादी मान्यताओं से इस दर्शन का मौलिक भेद

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, निवेदन, पृ० २

२-३. धर्मयुग, २६ अक्तूबर १९६०, पृ० ११

सिद्ध किया जा सकता है, चाहे कुछ ऊपरी या आकस्मिक समानताएँ दृष्टिगत हों। नगेन्द्र जी गाधीवाद और मार्क्सवाद के इस संघर्ष से अवगत हैं।[1] वे व्यावहारिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों में गाधीवादी विचारधारा के समर्थन को लेकर चले। उनकी प्रथम साहित्यिक प्रतिक्रिया में छायावाद का समर्थन आता है और उस समर्थन को दृढ गाधीवादी भूमिका पर उतारना ही उन्होंने पर्याप्त नहीं समझा, अपितु सौन्दर्य के तत्त्वों का सामंजस्य भी गाधीवादी दृष्टि से किया। द्विवेदी युग गाधीवादी दर्शन के स्थूल नैतिक पक्ष को लेकर चला था और छायावाद उसी के सूक्ष्मतर जीवन-मूल्यों को लेकर।[2] छायावाद में सर्वात्मवाद और आनन्दवाद की दर्शन के रूप में जो प्रतिष्ठा हुई, वे भी तत्त्वतः गाधीवाद से भिन्न नहीं थे। गाधीवादी क्षेत्र का 'सत्य' छायावादी क्षेत्र का 'सौन्दर्य' है, और गाधीवादी क्षेत्र की 'अहिंसा' छायावादी क्षेत्र का 'प्रेम'। सूक्ष्म आध्यात्मिक मूल्यों की मान्यता दोनों ही दर्शनों में है।[3] गांधीवादी दर्शन की साहित्यिक परिणति तीन पक्षों में हुई 'एक सौन्दर्यमय अनुभूत्यात्मक पक्ष, दूसरा राष्ट्रीय सांस्कृतिक पक्ष और तीसरा दार्शनिक-नैतिक पक्ष।[4] नगेन्द्र जी ने छायावाद का समर्थन करके प्रथम पक्ष, नवीन और दिनकर जी की मान्यता में द्वितीय पक्ष और सियारामशरण के सात्विक भाव की स्वीकृति में तृतीय पक्ष का समर्थन किया। इस दृष्टि से समीक्षक नगेन्द्र के साथ गाधीवादी व्यक्तिवादी दर्शन संलग्न रहा और जहाँ तक उनके व्यावहारिक जीवन का सम्बन्ध है, वहाँ तक भी विचार और आचरण इसी के अनुरूप हैं। उनकी विचार-धारा का एक निषेधात्मक पक्ष भी है—उन्होंने साम्यवाद या मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति को साहित्य के मानदंड के रूप में अस्वीकृत किया है।[5] उन्हें साहित्य के क्षेत्र में सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान मार्क्सवाद की अपेक्षा अधिक रुचते हैं: "मार्क्सवाद······एक परीक्षण विधि-मात्र है, मूल्यांकन की कसौटी नहीं। इस नई विधि का प्रयोग हमें रस-परीक्षण के ही लिए, इसकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र का ही, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, अधिक विश्वास करना उचित होगा।"[6] इस प्रकार नगेन्द्र जी गांधीवाद के पूर्ण समर्थक और अनुयायी हैं, पर साहित्यिक को गाधीवादी विचारधारा का प्रचारक बनाना उन्हें स्वीकार नहीं। इसी कारण

१ "दक्षिणपक्षीय विचारधारा का प्रतीक हमारे यहाँ गांधीवाद है, और वामपक्षीय विचारधारा के नीचे मूलतः मार्क्स के भौतिक दर्शन का आधार है।"

—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ३

२ "बाद में तो गांधीवाद ने छायावादी रचनाओं को सीधी प्रेरणा दी।" —वहीं, पृ० २

३. "भावना के क्षेत्र में जो सौन्दर्य है, वही चिन्तन और विचार के क्षेत्र में सत्य है, पहले में जो प्रेम है, वही दूसरे में अहिंसा है।" —वही, पृ० ३

४. वही, पृष्ठ ४

५ "साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आई है वही ठीक है—अर्थात् आनन्द" इसमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान् होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धान्त का, साम्यवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूँजीवाद, किसी भी वाद का समर्थन हो या विरोध।" —वही, पृ० १०६

६ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ० १०६-१०७

द्विवेदी युग के स्थूल नैतिक दर्शन और प्रखर इतिवृत्तात्मक दार्शनिक अभिव्यक्तियों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया हुई। सौन्दर्य तत्त्व, मनोविश्लेषण और रस-पद्धति का वैयक्तिक निरूपण समन्वित होकर ही गांधीवादी विचार-धारा को साहित्यिक क्षेत्र में उपयुक्त और स्पृहणीय बना सकते हैं। यही नगेन्द्र जी के वैयक्तिक दर्शन की साहित्यिक परिणति है।

जीवन-दर्शन—नगेन्द्र जी का जीवन-दर्शन उसी तरह स्वच्छ और स्पष्ट है जिस प्रकार उनकी भाषा का शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास। मानव का मन 'तर्क' और 'अतर्क' के संघर्ष की भूमि है। व्यक्तित्व की जटिलता इस संघर्ष की कटुता और विकटता की ही प्रतिच्छाया है। 'अतर्क' का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की अतल गहराइयों से है। यही उसका राग-द्वेष है। तर्क यद्यपि अर्जित और सामाजिक चेतना पर अवलम्बित है, तथापि अपने आप में शक्तिशाली होता है। रागाश्रित अहम् के अवरुद्ध और क्षत-विक्षत होने पर व्यक्तित्व का स्वस्थ और आनुपातिक विकास विकल हो जाता है। डा० नगेन्द्र उस संघर्ष के प्रति आरम्भ से ही सजग-सचेष्ट रहे हैं। इसकी तुष्टि और अभिव्यक्ति उनकी आरम्भिक रोमानी कविताओं में मिलती है। नगेन्द्र जी ने स्वीकार किया है कि आरम्भ से ही उनमें राग तत्त्व की प्रबलता रही है।[1] इसीलिए आज भी उन्हें अपनी उच्छ्वसित, पर तुतली, रोमानी कवितायें प्रिय हैं।[2] ये कवितायें डा० नगेन्द्र के जीवन के कम-से-कम कुछ क्षणों का अनिंद्य शृंगार करके उन्हें अवश्य स्फीत बना देती हैं।

छायावाद और अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों की कृतियों ने नगेन्द्र जी के कवि-जीवन के आरम्भिक वर्षों (१९३२-३३) से १९३६-३७ तक आत्मस्थ राग-तत्त्व को आवश्यक स्वच्छन्दता प्रदान की। पीछे सन् १९४२-४३ तक रीतिकाल के मांसल सौन्दर्य और उस युग के प्रेरक स्रोत रस-सिद्धान्त, विशेष रूप से रसराज, ने रागतत्त्व की द्वितीय परिणति आरम्भ की।[3] दार्शनिक दृष्टि से इस यात्रा का लक्ष्य 'आनन्द' बन गया। 'प्रेम' का मधु अनेक रोगों का शीतल उपचार जैसा लगने लगा।[4] प्रेम के अभाव की कुछ पूर्ति साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति कर सकती है।[5] यह अनुभूत सत्य कितना अद्भुत और स्पृहणीय है! नगेन्द्र जी की भावुकता का स्रोत यही है।

नगेन्द्र जी रागात्मक और बौद्धिक तत्त्वों का प्रयत्नपूर्वक संश्लेषण करते हैं। अपने बौद्धिक क्रियाकलापों में अनुरत रहने पर भी वे जीवन के रागात्मक पक्ष का बड़े आग्रह के साथ पोषण करने के लिये व्यग्र रहते हैं।[6] उस रागोच्छ्वसित अहम् के मनोरम

१-२. देखिए 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २८ अगस्त १९६२, पृ० २३, डा० रांगा का लेख

३. देखिए, वही, पृष्ठ २३

४. "प्रेम—विशेषकर अंतरंग सहचरी का प्रेम बहुत कुछ रोग की व्यथा को हलका कर देता है।"
—डा० नगेन्द्र, कवि सियारामशरण गुप्त, पृ० ६७

५. "प्रेम तथा स्वास्थ्य के अभाव को साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत कुछ दूर कर सकता है।"
—वही, पृष्ठ ६७

६. देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १९२

रूप की स्वच्छन्दता के आग्रह ने उन्हें व्यक्तिवादी बना दिया है। चाहे यह व्यक्तिवाद संस्कार-रूप मे सामंतवादी हो, पर उसकी परिणति रागात्मक है।[1]

राग की उद्बुद्ध अवस्था मे नैतिकता और आदर्शवाद से सम्बद्ध जीवन मूल्य प्रस्तर-खण्ड के समान लगते हैं, जो कोमल दूर्वादिल को मसल-मसल डालते हैं। जीवन के आरम्भ म नैतिक शक्तियाँ परिवार और गुरुजनों के माध्यम से नगेन्द्र जी के राग-केन्द्र को आहत करती रही थीं। आगे के जीवन मे नैतिकता के प्रति उनके स्वच्छन्द मन म एक प्रबल प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के मूल म तत्कालीन साहित्यिक युग धर्म भी था। द्विवेदीयुगीन आदर्शमूलक नैतिकता के निष्ठुर कगारो म बहती हुई हिन्दी-कविता इस समय तक उमड चली थी और उसने उन किनारो को आप्लावित कर दिया था। नगेन्द्र जी ने इस तथ्य को यो स्वीकार किया है "आरम्भ से ही न जाने क्या कदाचित् अतिनैतिक शिक्षा-दीक्षा की प्रतिक्रिया रूप मे, मेरी प्रवृत्ति आनन्दवादी मूल्यों की ओर ही अधिक रही है।"[2] साहित्य के क्षेत्र मे तो ये मूल्य उसकी आत्मा को ही क्षत विक्षत कर देते हैं। अत उनके प्रति सहिष्णु होना एक अनिष्ट को आमंत्रित करना ही है। नैतिक मूल्य इतने सुनिश्चित, विधि-निषेधात्मक और जीवन की सजीव एव गतिशील परिस्थितियो के प्रति इतने उदासीन होते है कि जीवन अपने को इनकी लौह-शृखला मे बँधा पाता है। उच्च साहित्य वह है जो नैतिक मूल्यों पर मानव-मूल्यों की विजय का उद्घोष करता है और मन मे उन मूल्यो के प्रति अडिग आस्था उत्पन्न करता है। मानव मूल्य मनुष्य की बौद्धिक उपलब्धियों पर आधारित नहीं, उसकी मूल प्रवृत्तियों से रस-संचय करते हैं। नगेन्द्र जी सदैव मानव-मूल्यो का पक्ष-समर्थन करते हैं।[3] विद्यार्थी-जीवन मे तुलसी उनके विशेष रुचि थे। परन्तु तुलसी की अतिवादी नैतिकता उन्हे स्वीकार न थी।[4] सूर उन्हे अधिक अच्छे लगते थे।[5] इस प्रकार उनके साहित्यिक दृष्टिकोण और अभिरुचि का निर्माण हुआ। इस रुचि की रचना मे सियारामशरण गुप्त के 'सात्विक रस' और पंत तथा अन्य छायावादी कवियों तथा अंग्रेजी के रोमानी कवियो का योग माना जा सकता है।

नगेन्द्र जी पर प्रसाद का प्रभाव भी कम नहीं पडा। 'आनन्दवाद' उच्छलित राग का उदात्त और दार्शनिक रूप है। हो सकता है कि नगेन्द्र जी के आनन्दवाद पर अव्यक्त रूप से प्रसाद के आनन्दवाद का प्रभाव पडा हो। आनन्दवाद का आत्म-कल्याण या लोक-कल्याण से

---

१ 'सामंतीय संस्कारों के कारण मैं आरम्भ से ही व्यक्तिवादी रहा हूँ।'

—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १४४

२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २६ ८ ६१, पृ० २३, डा० रामा का लेख।

३. "आज भी नैतिक आदर्शवाद में मेरी विशेष आस्था नहीं है। नैतिक मूल्यों की अपेक्षा मानव मूल्य ही—जो मूलत प्रवृत्ति गत हैं— अधिक श्रेयस्कर लगते हैं।"

—मैं इनसे मिला भाग २, पृ० १४० १४१

४. "हिन्दी के पुराने कवियों म मैंने विशिष्ट अध्ययन तुलसी का किया था पर उनमें मेरा मन नहीं रमता। वे कुछ आवश्यकता से अधिक नीतिवादी हैं।"

—मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५३

५. "सूर मुझे उनसे अच्छे लगते हैं।"

—वही, पृ० १५३

वैषम्य है। लोक-कल्याण तुलसी-दर्शन का मूलाधार था। शुक्ल जी की जीवन-दृष्टि भी इससे अनुप्रेरित हुई। नगेन्द्र जी में लोकमंगल की भावना-कामना नहीं, आनंदवाद भर गया। उसका कारण यह प्रतीत होता है कि शुक्ल जी की अपेक्षा नगेन्द्र जी अधिक अंतर्मुखी हैं।[१] आनन्दवाद ही उनकी दृष्टि में चरम उपयोगिता है।[२] साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर उन्होंने यह अनुभव किया था कि वे प्रसाद जी के आनन्द लोक में आ गये हैं।[३] इस प्रकार *छायावाद-काव्य के अन्तिम दर्शन 'आनन्दवाद' में नगेन्द्र जी का राग-विह्वल मन रम गया।* अन्त में, उन्होंने यह अनुभव किया कि आनन्द और मंगल दोनों अविरोधी हैं। भारतीय रसशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त आनन्द और मंगल के सुदृढ़ स्तम्भों पर अवस्थित है। अतः पीछे उनके दृष्टिकोण में इन दोनों का समन्वय स्थापित हो गया।[४] राग की स्वच्छन्द, अनिंद्य और मनोरम झाकियाँ आनन्द के विशाल दर्शन में परिणत होकर एक पुष्ट जीवन पद्धति बन गई। इन दोनों की धूप-छाँह नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व में मिलती है। उनकी चंचलता रागाश्रित है और गुरु-गम्भीरता आनंदाश्रित। उनके मित्र शैलेन्द्र जौहरी[५] (शैलू बाबू) ने इस धूप-छाँह को इस प्रकार व्यक्त किया है : "उनमें गंभीरता और चंचलता का इतना अनमोल मिश्रण है कि दो-एक मिनिट के अन्तर से ही वे गंभीर-से-गंभीर बात और फिज़ूल से फिज़ूल बकवास कर सकते हैं।[६]

इस आनन्द-लोक का अधिवासी अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक बौद्धिक वस्तु-विन्यास, रचना-शिल्प और व्यवस्था-सूत्र में जैसे उलझ जाता है। उनके व्याख्यान में जो एक झिझक मिलती है, वह इसी का परिणाम है। उनकी झिझक का जो प्रभाव श्रोता पर पड़ा है, उसका विवरण यह है : "नगेन्द्र में मैंने अब भी वही झिझक पाई जो आज से १८-१९ वर्ष पहले सेन्ट जॉन्स में थी। यद्यपि उन्होंने दो-चार पॉइन्ट लिख भी लिए थे, फिर भी वे जैसे कोई नियमित वक्तव्य देने से बच निकलने की कोशिश कर रहे थे।......उनका विचार स्पष्ट था पर उनके वाक्य एक दूसरे से लिपट जाते थे और वे हकलाने लगते थे। यह देखकर मुझे सेन्ट जॉन्स के अनेक दृश्य याद आ गये जब बहस के समय नगेन्द्र जी की

१. "मेरी अंतर्मुखी प्रकृति आनन्द से बढ़कर आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण की कल्पना करने में असमर्थ है।"
—विचार और विश्लेषण, पृ० १०६

२. "मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता।"
—विचार और विवेचन, पृ० ५४

३. "भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे 'मोटे खनिज तेल' और 'रासायनिक खाद' की उस दुनिया से कामायनी के इस 'आनन्द लोक' में आ गया हूँ।"
—विचार और विश्लेषण, पृ० १११

४. "पहले मुझे नैतिक मूल्यों के प्रति एक प्रकार की *विरक्ति थी क्योंकि मुझे वे आनन्दवादी मूल्यों के* प्रतिकूल लगते थे। किन्तु आज ऐसा नहीं है। आनन्द और मंगल में न केवल विरोध ही नहीं है *वरन् अभिन्न सम्बन्ध भी है।*"
—*साप्ताहिक हिन्दुस्तान*, १६-८-६२, पृ० १४, डा० रांग्रा का लेख

५. ये शैलू बाबू कोई अन्य व्यक्ति नहीं, स्वयं नगेन्द्र जी ही हैं। केवल अपने को एक काल्पनिक पात्र के रूप में प्रस्तुत करके शैली में भंगिमा लाई गई है। अतः ये स्वयं उन्हीं के विचार हैं।

६. विचार और विश्लेषण, पृ० ७६

कैफियत रत्नाकर की गोपियों—जैसी हो जाती है "नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।"[1] लिखने में उन्हें इसी कारण से बहुत आयास करना पड़ता है। शब्दों के चुनाव और वाक्यों की सर्जना में आवश्यकता से अधिक प्रयत्न करके स्पष्टता और सौष्ठव लाया जाता है। इसलिये वे एकसाथ बैठकर अधिक नहीं लिख सकते। उन्हीं के शब्दों में 'एकसाथ जमकर एक बैठक में नहीं लिख सकता। मैंने कभी छोटे-से छोटा लेख भी एक जगह बैठकर नहीं लिखा। कापी के दो-ढाई पृष्ठ लिखकर मुझे ऐसा लगता है कि दिन का कर्तव्य समाप्त हो गया। बाकी अगले दिन ही लिखा जा सकता है। ···किसी दिन भी दो-ढाई पेज से अधिक नहीं लिखा। लिख ही नहीं सकता।"[2]

जीवन के नैतिक मूल्य विविध प्रकार से साहित्य क्षेत्र में अनुदार वातावरण-सा प्रस्तुत करते रहते हैं। शुक्ल जी जैसे प्रबुद्ध चेता और उन्नतमना समीक्षक भी नैतिक मूल्यों के संस्कारों की छाया में साहित्य की कुछ विधाओं के साथ न्याय नहीं कर पाये। उदाहरण के रूप में हम उनके रीतिकाल विषयक विचारों और छायावाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ले सकते हैं। साहित्य के रूप और कला की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण युग के प्रति नैतिकता से प्रेरित इस उपेक्षा-भाव का परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन और उसके महत्त्व की पुनः प्रतिष्ठा में कुछ समय लगा। यद्यपि उसने समीक्षकों को एक बलवती प्रेरणा भी प्रदान की। नगेन्द्र जी इसी प्रेरणा को लेकर[3] रीतिकाल के नवीन महत्त्वांकन और उसके नवीन विश्लेषण के कार्य में प्रवृत्त हुये। उनके भावुक और रागशबल मन ने उन्हें इसके लिए बल प्रदान किया। डा० नगेन्द्र ने युग की दृष्टि पर छाई हुई नैतिकता-जन्य मलिनता को हटाकर शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस काल को देखने का सकल्प किया।[4] इस शुद्ध साहित्यिक दृष्टि की एक और बाधा थी—छायावाद की अन्तर्मुखी सूक्ष्म दृष्टि। कुछ इतिहास लेखकों ने छायावाद को रीतिकालीन स्थूल प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया के रूप में ही देखना चाहा। छायावादी कवि-लेखक भी इसे ऐन्द्रिक और स्थूल कहकर इसकी उपेक्षा करते रहे। साथ ही रीतिकाव्य के साथ संलग्न राज्याश्रय के कारण इसको सामंतवाद की साहित्यिक परिणति कहकर कुछ विचारक इसे प्रतिक्रियावादी साहित्य की संज्ञा प्रदान करते रहे। तात्पर्य यह कि उन्हें रीतिकाल के प्रति नैतिक या अन्य प्रकार के पूर्वाग्रहों से प्रेरित एक उपेक्षा-भाव दिखाई दिया और इन पूर्वाग्रहों के निराकरण के लिए वे कृतसंकल्प हो गये।

अनेक स्रोतों से सबल ग्रहण करता हुआ, चेतना और उपचेतना के रहस्यमय स्तरों का स्पर्श करता हुआ, खड़ी बोली के आन्दोलन से संबद्ध होकर उसकी शक्तियों को विकसित करने के लिए कृत-संकल्प होकर, स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियों को लेकर, छायावाद का अवतार साहित्यिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना कही जाती है। मानव के

---

१ विचार और विश्लेषण, पृ० ८०-८१

२. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १६७

३ "हिन्दी में रीतिकाव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा। द्विवेदी-युग के आलोचकों ने इस कविता को नीतिभ्रष्ट कहकर निरस्कृत किया।" —रीति-काव्य की भूमिका, भूमिका, पृ० क-ख

४. "मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता को सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है।" —वही, पृ० ख

अन्तर्मन की सघन ऊहा-पोह के साथ आध्यात्मिक और प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के तत्त्वों का संयोग एक ऐसी मिश्रित दार्शनिक पृष्ठभूमि इसे प्रदान कर रहा था, जो अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। लक्षणा के प्रचुर प्रयोग ने इसकी शैली को यद्यपि कुछ दुरूहता प्रदान की और प्रतीक-योजना भी अधिक अन्तर्मुख होने के कारण दुरूह बन गई, पर खड़ी-बोली-काव्य की यह एक महान् उपलब्धि भी थी। सामाजिक रूढ़ियों, वर्जनाओं और कुंठाओं से विपण्ण मानव-मन का चीत्कार फ्रॉयड की शोधों से युक्त होकर इसमें पैठ गया था। नगेन्द्र जी ने 'सुमित्रानन्दन पंत' शीर्षक कृति लिखकर और पीछे छायावाद पर निष्पक्ष और शुद्ध साहित्यिक विश्लेषणात्मक निबन्ध लिखकर उस आन्दोलन में भी सक्रिय भाग लिया, जो छायावाद के पक्ष-समर्थन के लिए हो रहा था और जिसके साथ शान्तिप्रिय द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम संलग्न माना जा सकता है।

छायावाद की उपेक्षा का एक और कारण यह भी था कि उसको एक विदेशी काव्य-सम्प्रदाय का रूपान्तर माना जाने लगा था और उसमें भारतीय जीवन-तत्त्वों की उपेक्षा के दर्शन द्विवेदीयुगीन आलोचकों को होते थे। नगेन्द्र जी ने सबलता के साथ यह स्थापना की कि यह अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य से अभिन्न नहीं है।[1]

व्यवहार-आचार—जीवन-दर्शन की जो संक्षिप्त रूप-रेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है, उसका अविकल प्रतिबिम्ब उनके व्यवहार-दर्शन और उनके स्वभाव में मिल जाता है। मनुष्य के व्यावहारिक चरित्र का सबसे सुदृढ़ आधार-स्तम्भ अपने प्रति, अपने कार्य के प्रति और समाज के प्रति सचाई है।[2] यदि छल की शक्तियाँ इस ईमानदारी को विकल करने लगती हैं, तो व्यवहार और कार्य में स्पष्टता के स्थान पर अनेक गुत्थियाँ और उलझनें आने लगती हैं। नगेन्द्र जी के स्वभाव की स्पष्टवादिता और निर्भीकता उनकी ईमानदारी के ही सुपरिणाम हैं। स्पष्टवादिता के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं: स्पष्ट उक्ति के बिना मुझे कभी शांति नहीं मिली। गलत बात करने से अपने मन को ग्लानि होती है, मौन रहने से काम नहीं चलता और बात को छिपाना बहुत देर तक संभव नहीं होता। इसलिए, स्पष्ट कथन को मैंने सिद्धान्त और नीति दोनों के रूप में स्वीकार कर लिया है।"[3] वस्तुतः उनमें स्पष्टवादिता इसलिए है कि उनका रागी मन छलपूर्ण गोपन और उसके दुर्वह भार को सहन करने में असमर्थ है। सत्य की शक्तियाँ जब छल का उद्घाटन कर देती हैं तब एक महान् मानसिक संकट उपस्थित हो सकता है। उसको प्रकट न होने देने के लिए न जाने कितना सावधान रहना पड़ता है और उसे छिपाने के लिए न जाने कितनी शक्तियों का अपव्यय होता है। रागोच्छलित मन इन अनागत संभावनाओं की कल्पना-मात्र से कम्पित हो उठता है। स्पष्टवादिता के साथ निर्भीकता का

१. "......मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण' "...और उन अपराधियों में मैं भी हूँ—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।" —डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध, पृ० १००

२. "ईमानदारी वास्तव में चरित्र का सबसे बड़ा गुण है।"
—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २६-८-६१, पृ० ३५, डा० राम्रा का लेख

३. वही, पृ० २५

तत्त्व चित्त के दूसरे पहलू की भाँति संलग्न रहता है। जिस सत्य-कथन से व्यक्ति सुनिहित कारणों से बचना चाहता है उसको स्पष्टतः कह देना भीरुता के वातावरण में निर्भीकता का आभास देना ही है। नगेन्द्र जी के निबन्धों में इस प्रकार के स्पष्ट और निर्भीक कथन अनेकत्र उपलब्ध हैं। सियारामशरण गुप्त से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी उन्होंने यह कथन कर ही दिया— वे मेरे प्रिय कवि नहीं हैं……मैं उनके काव्य में आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नहीं कर पाता।"[१] इस स्पष्टवादिता और निर्भीकता के सम्बन्ध में नगेन्द्र जी का स्वयं अपना एक दर्शन है। उस दर्शन को उन्होंने संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है 'स्पष्टता दो प्रकार की होती है एक अर्थ की, दूसरी वाणी की। अर्थ की स्पष्टता तो प्रत्येक स्थिति में काम्य है ही क्योंकि जब तक विचार सुलझता नहीं तब तक मन को शान्ति नहीं मिलती। चिंतनशील व्यक्ति के लिये विचार की स्पष्टता एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। ····उसके बिना जैसे मन में उलझन और घुमड़न-सी बनी रहती है····विचार की स्पष्टता की अपेक्षा वाणी की स्पष्टता शायद अधिक दुस्साध्य है, क्योंकि विचार अमूर्त्त हैं और वाणी शब्द-मूर्त्त ··· वाणी की स्पष्टता के भी दो अर्थ हैं। एक तो बात को बिना घुमाव फिराव और उलझाव के कहना और दूसरे बिना लाग-लपेट के। पहला गुण स्पष्ट विचार और लेखन के अभ्यास से प्राप्त हो जाता है, किन्तु दूसरा गुण स्वभाव और चरित्र पर आश्रित है। स्पष्ट कथन के लिए एक ओर जहाँ इस बात की आवश्यकता है कि वक्ता के मन में किसी प्रकार का डर और लिहाज न हो वहाँ दूसरी ओर स्पष्टता का अर्थ अभद्रता भी नहीं होना चाहिए।······सत्य की शोध करनेवाले को अपनी बात साफ-साफ कहनी ही होगी। यदि आपको अपनी धारणा और विचारों के प्रति विश्वास है तो उनकी निश्छल अभिव्यक्ति में बिना कोई त्राण नहीं है।"[२] इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि विचारों की स्पष्टता चिंतन की गहराई से उत्पन्न होती है और उस स्पष्टता में ही व्यक्ति की मानसिक शान्ति अन्तर्निहित होती है। स्पष्ट कथन वैयक्तिक नहीं, एक सामाजिक व्यवहार है और अनेक शक्तियाँ हमारे स्पष्ट कथन को प्रभावित करती हैं। जब विश्वास प्रबल होता है और अपना पक्ष निष्पक्ष और सत्याश्रित हो, तो स्पष्टवादिता किसी व्यावहारिक संकट में नहीं डाल सकती। नगेन्द्र जी ने भी गुप्त-बन्धुओं के समक्ष 'कामायनी' का समर्थन और 'साकेत' के साथ उसकी तुलना करने में निष्पक्ष स्पष्टवादिता बरत करके भी अपने सम्बन्धों को मधुर और मृदु बनाये रखा। 'दिनकर' जी के सामने 'उर्वशी' की आलोचना करके भी उनके सौहार्द को प्रभावित नहीं होने दिया। नगेन्द्र जी के स्वभाव में मिलनेवाली दृढ़ता और अपने विचार के प्रति आग्रह इसी ईमानदारी पर आधारित स्पष्टवादिता और निर्भीकता से ही सम्बद्ध हैं। स्वयं उन्होंने अपनी दृढ़ता का अनुभव किया है। वे अपने विचार में दृढ़ है। उनके स्वभाव में आग्रह भी एक प्रबल तत्त्व है, किन्तु यह दुराग्रह की कोटि तक नहीं पहुँचता।[३]

●

---

१. सियारामशरण गुप्त, पृ० ६६
२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १६-८-१९६२, पृ० २४
३. देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १६१

द्वितीय अध्याय

नगेन्द्र : कवि के रूप में

प्रास्ताविक—आलोचना तथा निबन्धो के ढेर मे कवि नगेन्द्र खोया हुआ-सा मिलता है। नगेन्द्र जी के अधिकांश अध्येताओ को सम्भवत उनकी काव्य-रचनाओ के दर्शन भी नही हुए होगे। यद्यपि नगेन्द्र जी का कवि-रूप एक विस्मृत सत्य ही है, फिर भी उसकी आभा उनके समस्त कृतित्व पर प्रतिभासित होती है।

प्रेरणा-स्रोत—सवेदनो और अनुभूतियो की उत्कट उद्‌बुद्धि एक मानसिक दबाव उत्पन्न करती है। इस मानसिक और स्नायवी तनाव को ढीलने के लिए आत्माभिव्यक्ति अनिवार्य हो जाती है। सृजन की प्रेरणा, कल्पना की शक्ति और रम्य-काम्य प्रेम-सौन्दर्य की आत्मानुभूति मिलकर अनिवार्य आत्माभिव्यक्ति के उपकरण जुटा देती हैं। इसकी सूचना एक स्थान पर नगेन्द्र जी ने इस प्रकार दी है, "मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वयं अतर्मुख होकर अपने से पूछता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ, तो इसका उत्तर यही पाता हूँ कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है।··· इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ।"[1] यह 'आत्म' क्या है? यह कोई आध्यात्मिक, अनिवर्चनीय, सूक्ष्म तत्त्व नही है। विविध प्रवृत्तियो, आशाओ, अभिलाषाओ तथा अपूर्ण इच्छाओ के मूक चीत्कारो से अनुगुंजित चिति-केन्द्र ही आत्मा है। काम और कुंठा इस चेतना-केन्द्र के प्रमुख आधार हैं।[2] 'छन्दमयी' की प्रमुख प्रेरणा भी आत्माभिव्यक्ति की उद्दाम अनिवार्यता ही मानी गई है, "इन कविताओं की पहली सार्थकता तो यही है कि इनके द्वारा रचयिता को आत्माभिव्यक्ति का अपूर्व सुख प्राप्त हुआ है।"[3] साथ ही गौण रूप से पाठक का सुख भी काम्य है—यदि सम्भव हो सके : "यदि आपको भी इनसे यत्किंचित् सुख मिल सका तो यह इनकी दूसरी सफलता होगी।"[4]

इस परिस्थिति मे एक ओर 'आधुनिक' था, दूसरी ओर 'स्वर्णिम अतीत'। द्विवेदी युग का कवि अतीत मे आकंठ निमज्जित था[5] और इतिहास के प्रति विशेष जागृत। आधुनिक से वह कतराता था, या नैतिकता और आदर्शों की नवीन परिणतियो के सौन्दर्य मे उलझकर अपने निजी क्षणो और जीवन के अतर्मुख उन्मेषो को भुला देता था। 'आधुनिक' अपने साथ वैज्ञानिक बौद्धिकता और प्रत्येक क्षेत्र मे समानता और स्वातंत्र्य का

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० ६–१०

२. "आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिये इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।" —विचार और अनुभूति, पृ० १०

३-४. छन्दमयी, भूमिका

५. "किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे पूर्व भाव ही भाते हैं।" —मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी

समर्थन लेकर आया था। द्विवेदी युग जिन उन्मुक्त शृंगार सज्जाओं से भय-कम्पित हो उठता था, वे अब उसके हृत्स्पन्दनों की सबसे मधुर आवश्यकता दीखती थी। नवशिक्षित मध्यवर्गीय युवक का मन जैसे सौ-सौ शृंगार-वीथियों में उलझ-उलझ जाता था। सच्चे अर्थों में आधुनिक काव्य का यही से आरम्भ था। इस युग का विवेचन करने से कई तत्त्व सामने आते हैं। आज के युग में कुछ युद्ध और शान्ति, क्रान्ति और प्रतिक्रिया, प्रलय और प्रकाश सम्बन्धी जैसे जटिल प्रश्न हैं, जो सम्पूर्ण मानवता को झकझोरे डाल रहे हैं। ये प्रश्न साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक आन्दोलनों के रूप में प्रस्तुत हुये हैं। प्रथम युद्ध के कुछ पहले से राष्ट्रीयता नवीन रूप में हमारे सामने आने लगी थी। गांधीजी के प्रभाव से आध्यात्मिकता का पुनरुत्थान हो रहा था। यहाँ तक कि राजनैतिक क्षेत्र भी अध्यात्म से मानवतावादी तत्त्व ग्रहण करने लगा। नैतिकता की शुष्कता के स्थान पर साहित्य में भी अध्यात्म की प्रतिष्ठा होने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन, अध्यात्म पर आधारित मानवतावाद, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, मानव के कुंठित चेतन-अवचेतन की पुकार, सामाजिक जागृति, सामंती व्यवस्था का विघटन, पूँजीवादी व्यवस्था का आरम्भ, मध्यवर्गीय मानस की तीव्र चेतना, युद्ध की नाशमयी छाया, व्यक्ति और समाज का संघर्ष, नवीन सौन्दर्यचेतना जैसे अनेक तत्त्व छायावादी युग की भूमिका में विद्यमान थे। इसी जटिल युग में कवि नगेन्द्र की स्थिति है। युद्ध आँधी-बौद्धिकता का परिणाम है। उस समय प्रेम और सौन्दर्य के रेशमी तन्तुओं का संघर्ष युद्ध के निर्घोष से था—

> इतने में घर-घर शब्द हुआ,
> रजनी का नीरव वक्ष चीर घर्राया नभ में वायुयान।
> अन्तर्चेतन में छिपे हुए सब खड़े हो गये मूर्तिमान—
> मोटे हरफों में लिखे हुए पत्रों में रण के समाचार।
> झट टूट गया रेशमी तार।[1]

परिस्थितियों के इस द्वन्द्वपूर्ण युग में कवि असहाय है। 'वनबाला'[2] में युग का संघर्ष और अधिक व्यक्त हुआ है। 'वनबाला' जिस निश्छल वातावरण में रहती थी, वह पर्वत की सुरम्य घाटी का सुरभित अंचल था। एक दिन उसने अपनी माता से पर्वत के उस पार के विषय में जिज्ञासा की। 'वनबाला' की अबोध जिज्ञासा का उत्तर देते हुए वृद्धा माता ने कहा—

> बेटी! पर्वत के पार नरक है भारी
> (सुनकर यह उत्तर सहम गई सुकुमारी)
> नित ही अधर्म के अभिनय से होते हैं
> तप-सत्य-धर्म-सद्गुण तम में रोते हैं।

---

१. छन्दमयी, पृ० ४७

२. 'वनबाला' की मुद्रित प्रति नहीं मिल सकी। कवि के सौजन्य से इस प्रबन्ध की लेखिका को इस रचना की पाण्डुलिपि मिल गई है।

हँसती विपदायें पीड़ा इठलाती है
मचता है हाहाकार मृत्यु गाती है।
× × ×
अत्याचारों का राज्य, साधु मदमाते
वे कीट परस्पर ही खाते सुख पाते
प्यासे अनाथ के होठ पवित्र तरसते
विधवा की आँखों से दुखदाह बरसते।[१]

इन पंक्तियों में यथार्थ जीवन की विभीषिका का घोष है। पर्वत के 'उस पार' के जगत् से 'वनबाला' और उसकी माता 'इस पार' चली आयी हैं। 'वनबाला' में चीत्कार-हाहाकारमय जगत् को छोड़कर निश्छल प्रकृति की सुरम्य गोद और सौन्दर्य-प्रेम की निर्मल उपत्यका है। इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी कवियों का यथार्थ जीवन से स्पर्श कम रहता है: भावभूमियों के सौंदर्य-श्लथ वातावरण में उनकी कविता एक शीतलता पाती है। इस यथार्थ चित्रण के पश्चात् 'वनबाला' की माता प्रकृति की ओर संकेत करती है—

देखो पश्चिम में ले विराग अनुरागी।
जाते हैं नलिनीनाथ विमलकर त्यागी॥[२]

आगे प्रकृति के रमणीय वैभव का ध्वनि-गति-मात्र चित्रण है। इस प्रकार निर्मम जगत् से प्रकृति की ओर कवि की गति स्पष्ट है।

छायावाद का प्रभाव—नगेन्द्र जी ने अनेकत्र छायावाद के प्रभाव को स्वीकार किया है। पंतजी की ओर विद्यार्थी-जीवन में ही उन्हें कुछ आकर्षण हुआ था। पंतजी के प्रभाव से उनका कवि कुछ दब तो गया, पर फिर भी उनमें से निजत्व झाँकता रहा। श्री भारतभूषण अग्रवाल ने इन कविताओं की आलोचना करते हुए लिखा है: "नगेन्द्र जी ने उन दिनों एक छोटा-सा काव्य-संग्रह भी प्रकाशित कराया। 'वनबाला'.........आज सोचता हूँ कि 'वनबाला' की रचनाओं की मौलिकता पंत के काव्य के अतिशय प्रभाव के कारण कुछ दब-सी गई थी, पर उन दिनों उन कविताओं में मुझे बड़ा रस मिला, और जहाँ तक मैं उन्हें समझ सका, उनसे काव्य-शिक्षा भी मैंने ग्रहण की।" विद्यार्थी-जीवन में वे कवि-सम्मेलनों में भाग लेते थे। एम० ए० तक नगेन्द्र जी ने छिट-पुट गद्य में भी लिखा, पर उनका साहित्यिक कृतित्व कविता तक ही सीमित रहा। व्यक्तित्व के विवेचन में हम देख चुके हैं कि उनका व्यक्तित्व रागतत्त्व से विशेष संचालित है। नगेन्द्र जी ने छायावादी शैली में ही कविता की परिभाषा की: "कविता अधिक अन्तरंग क्षणों की वाणी है......।"[३] उनके अनुसार स्थूल और सूक्ष्म की सीमाओं से ऊपर उठकर, जीवन की जटिल समस्याओं में उलझते हुए भी अलौकिक आनन्दानुभूति ही कविता का लक्ष्य है।[४] इस प्रकार नगेन्द्र जी का मन

१. वनबाला, पाण्डुलिपि, पृ० १०
२. वनबाला, पाण्डुलिपि, पृ० ११
३. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १५१
४. देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १५४, १५६

छायावादी रंग में पूर्णत रंग चुका था। उनकी वेषभूषा' भी विद्यार्थी-जीवन में छायावादी कवि जैसी थी—लम्बे लहरीले बाल, ढीला-ढाला मुहरीदार रेशमी कुर्ता।

नगेन्द्र जी ने अपने कवि को सुनिश्चित मार्ग दिखाया। सभी कुत्सित भावों की रसमय परिणति ही उसका लक्ष्य है। उसे उस अलौकिक देश में चलना है जहाँ रुदन, विफलता और पराजय भी हास्य, सफलता और जीत में परिणत हो जाते हैं, जहाँ सत्य, शिव और सुन्दर एकाकार है—

जहाँ जीवन का मम रुदन
सिहर कर बन जाता गुंजन
विफलता बनती आलंबन
हास बन जाते आँसूकन
अचानक अरमानों की हार
विजय बन जाती है साकार।
न सुन्दर पर ही भूल अजान
सत्य शिव का भी तो कर ध्यान।[1]

छायावादी 'मधु' भी नगेन्द्र जी की कविताओं में बसने लगा—

मधु का दिन रे,
गुनगुना उठी
मेरी कविता मधु अभ्यासी
जीवन के विगत वसन्तों की।
लेकर कितनी सुधियाँ प्यासी।[2]

इन पंक्तियों में वर्तमान के प्रति आकर्षण कम दीखता है। जीवन के मधुमय अतीत की प्यासी सुधियों में कवि विशेष रूप से उलझा हुआ है। शेष कविताओं में भी प्रेम, सौन्दर्य, नारी और प्रकृति प्राण बनकर समा गये। इस बात को और विस्तार से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि नगेन्द्र जी का कवि छायावाद से बहुत अधिक प्रभावित रहा। उनकी कविताओं का समीक्षात्मक अध्ययन ही इसका प्रमाण होगा।

अनुक्रम—डा० नगेन्द्र की पहली कविता-कृति 'वनबाला' सन् १९३७ में प्रकाशित हुई थी।[3] पर, इसकी जो पाण्डुलिपि लेखिका के देखने में आई है उस पर ३० मई, सन् १९३३ लिखा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि लेखक ने इस संग्रह को पर्याप्त प्रतीक्षा के पश्चात् प्रकाशित कराया। 'छन्दमयी' का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ, पर यह भी एक विस्तृत काल-परिधि को समेटे है 'इन कविताओं के रचना-काल की परिधि काफी विस्तृत है—सन् १९३३ से '४८ तक।''[4] 'वनबाला' की भी कुछ कवितायें इसमें आ गई हैं। यह संग्रह

१ छन्दमयी, पृ० १८
२ वही, पृष्ठ १२
३ देखिए 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १४७
४ छन्दमयी, भूमिका

भी पिछले सग्रह के काफी पीछे प्रकाशित हुआ। एक और रचना पाडुलिपि के रूप मे लेखिका को प्राप्त हुई : 'भ्रात पथिक'।[१] यह गोल्डस्मिथ के 'दि ट्रैवलर' का हिन्दी-अनुवाद है। यह अनूदित रचना अप्रकाशित ही है। इस पर लेखक ने कोई रचना-काल नही दिया है, पर उन्होने बताया है कि इसकी रचना सन् १९३२ मे ग्रीष्मावकाश मे हुई थी, जबकि कवि ने इण्टर की परीक्षा दी थी। 'छन्दमयी' की कुछ रचनाएँ अवश्य काफी पीछे की हैं। इसमे 'प्रेयसी ! ये आलोचक कहते' शीर्षक से दो कविताएँ सगृहीत हैं, जिनकी रचना सन् १९४९ मे हुई थी। इन दोनों का शीर्षक तो एक ही है, पर सिक्के के दो पहलुओ की भाँति ये भिन्न हैं। इस प्रकार सन् १९४९ मे कवि नगेन्द्र के भीतर छिपा हुआ आलोचक सघर्ष कर उठा और उसने कवि नगेन्द्र को ललकार दिया। इसके स्वरों मे आहत कवि की पुकार है—

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते, मेरी कविता निस्पद हुई।[२]

ऐसा लगता है मानो कवि स्वय उस निष्ठुर सत्य का अनुभव कर रहा हो। यह अनुभूति उनकी परवर्ती साधना की भूमिका बनी, जिस पर आलोचक नगेन्द्र का कृतित्व विकीर्ण हुआ।

यदि प्रभाव और प्रवृत्ति की दृष्टि से नगेन्द्र जी की काव्य-रचनाओ का क्रम निश्चित किया जाय तो कहा जा सकता है कि विषय और शैली पर छायावाद का प्रभाव रहा। दूसरी ओर 'कथा' की ओर आकर्षण दिखलाई देता है। 'ट्रैवेलर' एक निबन्ध कविता है उसका अनुवाद यही प्रदर्शित करता है। साथ ही 'वनबाला' मे भी एक गीत-कथा है, जिसमें छायावादी मासल और प्राकृतिक सौंदर्य के सघन सूत्र, कथा के विरल वितान को आच्छादित किये हुये हैं। प्रबन्ध की स्थूल सीमाएँ भाव-छवियो से आप्लावित हैं। इस प्रकार इसमे पत जी की 'वीणा' और 'ग्रन्थि' का सा वातावरण दीखता है। पर मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' मे जिस प्रकार नवीन शैली के मगलाचरण है तथा प्रत्येक सर्ग के आरम्भ मे जागरण उद्‌बोधन के स्वर मगलाचरण की रचना कर देते हैं, उनकी छटा 'वनबाला' में भी दीखती है। 'वनबाला' के आरम्भ मे चपल-कल्पना को जगाया गया है।[३] 'साकेत' की भाँति इसमें अन्त मे दोहे का प्रयोग है।[४] इसी प्रकार अप्रकाशित 'भ्रान्त पथिक' का आरम्भ भी आस्तिकतापूर्ण मंगलाचरण से किया गया है।[५] यह आस्तिकतामय मगलाचरण पीछे

१. यह पाण्डुलिपि अविरल रूप से परिशिष्ट स० १ के रूप में प्रबन्ध के अन्त में दे दी गई है।

२. छन्दमयी, पृ० १

३. जगत जीवन का हृदय में ध्यान धर
कल्पने ! चपले ! तनिक तू निखर जा।

४. मिलो धूल में हाय वह, करते सब उपहास
निर्मम जग के प्रेम का, यह सूना इतिहास।

५. कृपा से जिन प्रभु की प्यारे !
हुए कवियों के पावन मन।
दया के आकर मनरजन,
सफलता दें वे ही भगवन।

अपना स्वर बदलता गया और 'छन्दमयी' मे आकर प्रेयसी का ध्यान बन गया, जैसा कि मुखपृष्ठ पर प्रकाशित इन दो पंक्तियो से स्पष्ट है—

तुमने नयनो मे मदिर नयन ये उलझा कर
बौद्धिकता का चिर-गर्व आज शत-खण्ड किया।

विकास-क्रम मे एक और प्रवृत्ति दीखती है, जो सघन उपत्यका की झीनी पगडंडी की भाँति कुछ दूर चलकर सुप्त हो जाती है। यह प्रवृत्ति यथार्थ-चित्रण तथा व्यंग्य की है। इस प्रवृत्ति के दर्शन केवल इन चार कविताओ मे होते है प्रेयसि ये आलोचक कहते, वर्षो मे (एक भाव चित्र), आज का कवि, रेखाचित्र। इनमे से प्रथम कविता मे आलोचको के प्रति एक उत्कट व्यंग्य है। आलोचको का कार्य दूसरो की छीछालेदर करना ही है—

ये आलोचक चिर-अकर्मण्य
करना छीछालेदर दूसरो की जिनका व्यवसाय!
निपट वातुलाचार्य्य।
सदा रचते विचित्र सिद्धात।[1]

इन पंक्तियो मे संभवत व्यंग्य प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणवादी आलोचको पर है। ये न कृति देखते हैं न उसका रस, कवि को नग्न रूप मे दिखाना ही इनका लक्ष्य है—

देखते कवि के वस्त्र उतार,
देखते मन की जेब टटोल,
खोलते सीमन सभी उधेड़ बिचारे कवि की,
उसके पितृवंश की, देश जाति की।[2]

ऐसा लगता है जैसे वे कवि का मानसिक विश्लेषण करके मनोविज्ञान की किसी पुस्तक के लिये उदाहरण जुटा रहे है, अथवा नृवैज्ञानिक खोज कर रहे हैं। यदि कवि पर फ्रायडीय दृष्टि नही निभ पाती, तो फिर वे अपने ही मनोरोगो का आक्षेप कर देते हैं—

स्वयं अपने ही मन के रोग
रोप देते उसके अवचेतन मन पर
जहाँ पर केवल उनकी पहुँच![3]

इसके उपरान्त अखाडेबाज आलोचको पर व्यंग्य किया गया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्गवाद, जिनका दर्शन है · 'दा कैपिटल' जिनका वेद है, अर्थशास्त्र जिनका धर्म है, रूस का समर्थन और अमेरिका का विरोध जिनका परम कर्त्तव्य है—ऐसे आलोचक! आप जानते है, उनका प्रतिनिधित्व कौन करते हैं—श्रीयुत रामविलास शर्मा, इनसे डरो—

१. छन्दमयी, पृ० ४
२. छन्दमयी, पृ० ४
३. छन्दमयी, पृ० ५

नही तो श्रीयुत रामविलास
अखाड़े मे लेंगे ललकार।[1]

फिर नवीन सौन्दर्य-शास्त्र और काव्यशास्त्रीय आलोचकों पर व्यंग्य है—

शास्त्र के पंडित और विचित्र !
खोज लाते अद्भुत सौन्दर्य-बोध,
वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, चमत्कार अर्थ के शक्ति के शत-सहस्र !
अलंकारों के उलझे जाल खोलकर फैलाते प्रस्तार ![2]

आगे कवि की दयनीय स्थिति का सजीव चित्र है, जिसमे 'नम्र कवि बरबस दाँत निकाल' जैसी पंक्तियाँ सटीक है। पर ये शास्त्रीय आलोचक जीवन की मर्म अनुभूतियों की ओर ध्यान न देकर कवि-मानस के साथ न्याय नही कर पाते। वे काव्य-सृजन के मूल-स्रोत से ही अनभिज्ञ रहते हैं।[3]

'वर्षों मे (एक भाव-चित्र)' कविता मे एक चित्र है। उसको देखकर प्रसादजी की वह पंक्ति याद आती है—'एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमे है रंग कहाँ ?'[4] प्रेयसि के आकर्षक अंग रोग-क्षीण हो गये हैं. 'राका' 'दूज' बन गई है।[5] जिस कवि ने उसके स्वस्थ अंगों के उपमान जुटाये थे, वह उसके क्षीण अंगों के लिये उपमान जुटाने मे लग जाता है।[6]

प्रस्तुत	अप्रस्तुत
१ रोग-क्षीण तुम	१. दूज बनी ज्यों तीक्ष्ण शाण पर कट-छँट कर उज्ज्वलतर बनती हीर-कनी।
२. वह प्रिय परिचित मुस्कान आज फीके होंठों मे घुल जाती।	२. मानो मुरझाये फूलों पर। चन्दा की रेख तरस खाती।
३. चिरकातर-सी उस चितवन ने	३. पीकर नभ का सचित अभाव।

प्रेयसी का यह रूप भी कवि के आलोचक रूप को भावाभिभूत कर देता है।[7] इस

१-२- छन्दमयी, पृ० ६

३. नहीं ! फिर क्या जानो तुम क्या होती है
तीव्र प्रेरणा काव्य-सृजन की,
मधुर वेदना काव्य-प्रसव की ?
जिसे कह नित्य "क्रिएटिव अर्ज"
दूसरों को बहकाते रहे, समीक्षाचार्य ! —छंदमयी, पृ० ७

४. कामायनी, स्वप्न सर्ग

५. मैंने तुमको राका देखा
पर रोग-क्षीण तुम दूज बनी। —छंदमयी, पृ० १६

६. इस विषय की तीनों उक्तियाँ 'छन्दमयी', पृ० १६-१७ से उद्धृत की गई हैं।

७. मेरे आलोचक मानस में
फिर उमड़ा भावों का समाज ! —छन्दमयी, पृ० १६

प्रकार यथार्थ स्थिति को सौन्दर्य-स्नात दृष्टि से देखकर कवि ने एक भाव-चित्र की रचना की है, जिसे एक नवीन प्रयोग कहा जा सकता है।

'भावचित्र' मे जो भाव यथार्थ रेखाओ के सौन्दर्य मे खोये रह के 'रेखाचित्र' शीर्षक कविता मे मुखर यथार्थ बन जाते हैं। इसकी शब्दावली, शैली सभी बहिर्मुख हैं। इसमे पहले प्लेटफार्म का स्थूल चित्र है,[१] जिसके लिए कल्पना के बल पर विविध उपमानो का प्रयोग करके[२] लेखक ने उस शैली का परिचय दिया है, जिसमें उपेक्षित वस्तुओं को कल्पना-प्रसूत तत्त्वो से युक्त करके नवीन प्रतीक के रूप मे स्थापित किया जाता है अथवा अप्रस्तुत से परिस्थिति का व्यग्य स्पष्ट किया जाता है। यही कही 'नव दम्पति' कवि का ध्यान आकर्षित करते हैं। फिर गाडी चली. विदा के क्षण मे चित्र गतिमय हुआ. विदा के के दृश्य

सीटी बजी और रेंगी धीमी गाडी पटरी पर,
जगे विदा के दृश्य व्यथित खिडकी के बाहर-भीतर।
स्वाभाविक-कृत्रिम कर-पीडन शत-शत दिये दिखाई,
हिले रूमाल, अधर फडके, आँखें गीली हो आई।[३]

इसके अत मे आलोचनात्मक निबन्धो के 'निष्कर्ष' की शैली मिलती है : गद्यमय, नीतिमय, उपदेशमय—

तार्किक बुद्धि, विवेक, आत्मसयम जीवन का बल है,
पर इनसे भी अधिक प्राण की ममता कही प्रबल है।[४]

आज का कवि यथार्थ से घिरा है। दिल्ली की व्यस्त सडकें रात मे प्रौढा की भाँति सोई हैं—"सो रही राजधानी अचेत प्रौढा-सी।"[५] लालकिला जगा है।[६] पूर्व-वैभव के अतुल-सौन्दर्य की सजग स्मृतियाँ उसके मन को उद्वेलित कर रही हैं। फिर युद्धकालीन नृशसता का यथार्थ है—

इतने मे घर-घर शब्द हुआ
रजनी का नीरव वक्ष चीर घर्राया नभ मे वायुयान

---

१. यह अति विस्तृत प्लेटफार्म जिसकी चौडी छाती पर,
भीमकाय ऐंजिन, भकभक करती गाडियाँ भयकर। —छन्दमयी, पृ० २४

२. यह व्यवसायी हानि-लाभ-गणना में रत अतर्मुख,
किसी नवीन सफल पथ की ले रहा कल्पना का सुख
वह अधिकारी उच्च, सम्हाले गरिमा अपने तन की,
शकर के कार्टूनों मे भर रहा रिक्तता मन का। —छन्दमयी, पृ० २४

३ छन्दमयी, पृ० २४

४. छन्दमयी, पृ० २५

५ छन्दमयी, पृ० ४५

६ मैं देख रहा हूँ लाल किला,
दिल्ली का चिर-चेतन प्रहरी—
उसकी आँखों में नींद कहाँ? —छन्दमयी, ० ४५

अंतर्चेतन में छिपे हुए सब खडे हो गये मूर्तिमान—
मोटे हरफो मे लिखे हुये, पत्रों मे रण के समाचार ।[1]

इस प्रकार देखें तो छायावादी रचनाओं के बीच में कुछ यथार्थवादी कविताएँ भी दीखती हैं। जैसे—'वनबाला' में 'प्रवी का पत्र' शीर्षक कविता भी राष्ट्रीयता और करुणा के तत्वों से समन्वित एक काल्पनिक पत्र ही है। यह पत्र पंडित जवाहरलाल नेहरू की ओर से अपनी दिवंगता पत्नी कमला नेहरू को लिखा गया है।

इस प्रकार कुछ कविताएँ छायावादी धारा से कुछ अलग पड जाती हैं। छायावादी कविताओं मे व्यक्तिगत कथन भी यत्र-तत्र आ गये है। उन कविताओं पर तो आगे विचार किया ही गया है, यहाँ केवल अपवाद-स्वरूप मिलनेवाली तथा दिशांतर-निर्देशक कविताओं पर विचार कर लिया है। इस प्रकार अनुक्रम यह है पहले प्रबंध-निबंध कविता की ओर झुकाव हुआ, पीछे मुक्तक-गीतों की ओर छायावादी प्रभाव ने मोड दिया और अन्त मे कुछ दिशान्तर का संकेत मिलता है। पीछे क्षेत्रान्तर करके आलोचना की ओर कवि नगेन्द्र उन्मुख हो गया। प्रभाव की दृष्टि से, सामान्य रूप से छायावाद का, विशिष्ट रूप से रोमांटिक कवियों तथा पंत जी का, तथा प्रासंगिक रूप से गुप्त जी का प्रभाव मिलता है।

छायावादी कवितायें—नगेन्द्र जी की अधिकांश कविताएँ प्रकृति और प्रेयसी के सौन्दर्य से अभिभूत और अवाक् किशोर मन की ही भंगिमाएँ हैं। प्रेम एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी जड़ें मानव-मन मे सबसे अधिक गहरी हैं, पर उसके रूप और उसकी गति पर समाज के नियामकों ने कुछ नियमन तथा नियंत्रण रखना अपना परम धर्म समझा है। कभी प्रेम का मलय-समीर नैतिकता की कठोर चट्टानों से टकराकर हाहाकार कर उठता है, और कभी अपनी विफलता पर रो पडता है। अंतश्चेतना के समस्त रंध्र इससे आपूरित हो उठते हैं। पर, नियमन की जटिलता से प्राण उत्पीडित हो उठते हैं। दमन और कुंठा कुछ ऐसी उलझन-पूर्ण ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर देती है जिनकी कटुता मे दम घुटने लगता है। किशोर और युवक मन की यही वे समस्याएँ हैं जिन पर शोधें बहुत हुई है और समाधान कम मिला है, जिन पर कहा-सुना बहुत-कुछ गया है पर जिनको सहानुभूति कम मिली है। आहत मन इस सबसे ऊबकर न जाने क्या कुछ करने पर उतारू हो जाता है। इसी मानसिक पृष्ठभूमि मे छायावादी कविता की सृष्टि होती है। नगेन्द्र जी का मन भी इसी स्वप्निल पथ पर चला। वहीं प्रकृति, प्रेयसी और प्रेमी का त्रिकोण बनकर तैयार हो गया। सौन्दर्य की तीव्र-सघन अनुभूति कुछ मदिर क्षणों को वाणी देने लगी, इन क्षणों मे पर्याप्त स्फीति थी। छायावाद के मनोरम लोक के कोने में बैठकर नगेन्द्र जी का कवि-मन प्रातिभ साधना मे निरत हुआ।।

छायावाद हिन्दी-साहित्य मे एक प्रबल प्रवाह की भाँति आया था। सौन्दर्योपासना और असीमोपासना इस काव्य का प्रमुख दर्शन बन गया। जब व्यक्ति समाज से विमुख होकर अनन्त के मार्ग पर चल पडता है तब प्रकृति के विविध व्यापार उसे अभिसार-संकेत-जैसे लगते है

१. छन्दमयी, पृ० ४७

और प्रकृति के विविध रूप उसकी कल्पना को नवीन रंग देते हैं। इस सबकी अभिव्यक्ति के लिये एक शैली बनती है, जिसमें अभिधा की सरलता नहीं, लक्षणा की प्रगल्भता रहती है, जिसमें शब्दों का नहीं, डूबते-उछलते प्रतीकों का प्रबल प्रयोग रहता है। इस शैली में स्वप्नों का सौन्दर्य तो है, पर रहस्य के आवरणों में सत्य आवृत्त रहता है। इस शैली में जीवन की मुखरता कम है, पर तद्रिल मौन को वाणी देने का प्रयत्न किया जाता है। यह नव छायावादी हिन्दी-कविता का केलि-वितान है, जिसमें प्राय प्रेम और सौन्दर्य से उच्छलित मन को एक सरस शीतलता दिखाई पड़ती है। नगेन्द्र जी का मन भी इस केलि-वितान में कुछ समय तक विश्राम पाता रहा और फिर न जाने कब चल पड़ा। नगेन्द्र जी की छायावादी कविता का अध्ययन हमने तीन शीर्षकों में किया है :

१ जीवन-दर्शन—(क) पुरुष, (ख) नारी, (ग) प्रेम।
२ प्रकृति-रूप— (क) प्रेयसि-संकेत, (ख) रहस्य-संकेत।
३ कला-पक्ष।

पुरुष—छायावादी कविता में बहुधा पुरुष का चित्रण 'मैं' की स्थिति के चित्रण में ही मिलता है, तटस्थ भाव से पुरुष का निरूपण नहीं मिलता। नगेन्द्र जी की कविताओं में आन्तरिक चित्र 'मैं' के अन्तर्गत ही है और बाह्य चित्र 'ओ पुरुष के गर्व' जैसी कविता तथा कविताओं में मिलता है। पुरुष में अपने बल का दर्प है। उसके बल के साक्षी हैं—नाप डाला गया आकाश, चीर डाला गया समुद्र, तोड़ डाला गया पर्वत-शिखर।[1] बल ही नहीं, उसके पास अणु को तोड़ने वाला, सत्य की खोज करने वाला तथा ब्रह्म-जीव-विषयक गहन चिन्तन करने वाला ज्ञान भी है[2] और जहाँ तक भक्ति-भावना की तरलता का प्रश्न है, उसने कण-कण को भगवान् बना डाला।[3] इस बलशाली, ज्ञान-गहन तथा भाव-प्रवण पुरुष को बाँधने को किसी का बाहु-पाश बढ़ रहा है, किसी की मदिर मुस्कान पुरुष के ज्ञान को संयमित करदेना चाहती है—

(अ) क्या मुझे वेदी बना लेंगे भुजा के पाश ?
कम्पित बाहुओं के पाश ?[4]

(आ) क्या भुला लेगी मुझे वह मोहमय मुस्कान ?
चचल मोहमय मुस्कान ![5]

दूसरी ओर उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या नारी के आँसुओं की धार में पुरुष बह गया है।[6] इस प्रकार पुरुष के रूप को स्पष्ट करके नारी-भावनाओं के साथ

१. तूने नाप डाला दो पगों से रे, गगन निसीम का विस्तार !
तूने चीर डाला नोक से नख की, जलधि का गर्भ गहन अपार। —छन्दमयी, पृ० ३७

२. तेरी प्रखरता ने हृदय अणु परमाणु का भी सहज डाला चीर,
तेरी सूक्ष्मता ने भेद डाले सत्य के शत शत रहस्य गंभीर। —छन्दमयी, पृ० ३७

३. तेरी भावना ने कर दिया प्रत्येक कण भगवान ! —छन्दमयी, पृ० ३८

४ ५ छन्दमयी, पृ० ३७

६ क्या बहा देगी तुझे लघु आँसुओं की धारा ? —छन्दमयी, पृ० ३८

उसके संघर्ष और सामंजस्य को घटित किया गया है। परम शिव के ये दो तत्त्व मिलने को कितने आतुर हैं। अपने बल-दर्प में भूला हुआ पुरुष नारी की उपेक्षा करना चाहता है, पर कर नहीं पाता। नारी को भोग्या और अबला मानकर चलने वाला पुरुष नारी की मूल सत्ता और शक्ति के प्रति उपेक्षा-भाव रखता आया है—उसके साथ न्याय नहीं कर पाया। उसके प्रति नारी की कोमल, प्रेममय तथा मनुहारभरी क्रान्ति चलती रही। एक ओर बुद्धिवादी विकास ने उपेक्षितों के साथ न्याय की पुकार की, दूसरी ओर भाव-जीवी कवि नारी की कोमलता की शक्ति को समझकर और नारी की पराजय में छिपी हुई युग-युगव्यापी विजय का भावन करके सिहर उठा, उसकी वाणी मुखर हो उठी, नारी की शीतल छाया में विघ्न के स्थान पर उपचार और अभिशाप के स्थान पर वरदान की रिमझिम दीखी। उसे लगा कि नारी की उपेक्षा करके उठा हुआ पुरुष का बल, उसका सैन्य-सगठन और राज्य-विधान, उसका ज्ञान, उसकी भक्ति—सभी निराधार है। पुरुष ने उसे यदि दुलार दिया, तो वासना के विष में डुबोकर। नारी ने महान् समर्पण किया है—

है स्नेह दुग्ध की धार, सहज शुभ आत्म-द्रव।
जीवन का अक्षय पुण्य, सतोगुण का उद्भव।[१]

इस प्रकार छायावादी काव्य में नारी के संदर्भ में पुरुष को रखकर देखने की प्रवृत्ति थी। नगेन्द्र जी की दृष्टि भी नारी के परिवेश में पुरुष को देखती है। 'मुझे मुक्ति दो मेरी रानी' और 'सोचता हूँ किस तरह जीवित रहें ये प्राण' शीर्षक कविताओं में इसी दृष्टिकोण को स्थान मिला है।[२]

नारी—नारी का अवतार जग-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। काम के उदय से आकाश (विराट्) का शरीर मधु-सतप्त हो उठा। वसुधा के कंपित गात अपने बाहुपाश में कसकर सृजन का मंत्र फूँका गया और नारी अवतरित हो गई।[३] नारी के प्रथम श्वास से ही समस्त चराचर जगत् सुरभिमय, रगमय हो गया। उषा में लालिमा और संध्या में स्वर्ण खिल उठा। नारी की नयन-भंगिमा ने समस्त विश्व को प्रकाशित कर दिया। अनंग की हिलोरें चेतना के कण-कण को उद्वेलित करने लगीं—

किन्तु प्रथम बंकिम चितवन जब डाली, तुमने जग की ओर।
काँप उठा ब्रह्माण्ड रन्ध्र में उठने लगी अनंग-हिलोर।[४]

प्राकृतिक युग्म बनने-मचलने लगे : सागर-सरित, घन-दामिनी ! रूप-ज्वाल-सतप्त विश्व को पीड़ित देखकर नारी ने अपने को द्विधा विभाजित किया। यह गाथा भ्रम है कि पुरुष को विभक्त किया गया—

---

१. छन्दमयी, पृ० ३६

२. देखिए 'छन्दमयी', पृष्ठ २०, ४३-४४

३. विश्व-सृजन के पहले पल में कामानल-संतप्त शरीर—
बाहुपाश में धर वसुधा को नभ ने गुप्त मन्त्र गंभीर—
फूँका, ज्यों ही शून्य मूर्तता में अमूर्तता भर साकार,
शाश्वत से चेतन को बाँधे देवि, हुआ तेरा अवतार !
—छन्दमयी, पृ० ३१

४. छन्दमयी, पृ० ३१

पर जब तेरी रूप-ज्वाल को विश्व न पल भर सका सभाल,
अपने को झट दो अंगो मे बाँट लिया तूने तत्काल।[1]

नर हिंसक बना, नारी मे माधुरी तरंगित हो उठी। नारी के नयनो का मधु-विलास हिंसक नर को निमंत्रित करने लगा। नारी का रूप—समस्त विषमान्वयों का विश्राम स्थल। अमृत, विष और दुग्ध की त्रिवेणी-रूप नारी सृजन, संहार और पोषण की शक्तियाँ को अपने मे समेटे है। यही कवियो की कविता, भक्तो की राधा और योगी की मुक्ति है—

सुधा अधर मे, विष आँखो मे, आँचल मे पयस्विनी धार।
देखा इस छोटे-से तन मे जग ने सृजन, भरण, संहार।
मूर्तिमती कविता कवियो ने भक्तो ने राधा अभिराम।
निर्गुण-ज्योति विरत योगी ने साधक ने चिर-मुक्ति ललाम ![2]

इस प्रकार नारी इस सृष्टि का सार-भूत तत्त्व है और अमृत-विष-मदिरामय है।[3] वह गगा के समान पवित्र और कल्याण की प्रतिमूर्ति है।[4] उसकी आशीर्वादमयी छाया ने कवि को भाव-सिद्ध और कल्पना-कुशल बना दिया।[5] पुरुष और नारी का साथ वसन्त और वनबाला की भाँति अभिन्न हो गया। इस प्रकार छायावादी युग की नारी-भावना ने कवि नगेन्द्र के स्वरो को भी बाँधा है। उसकी भाव-व्याख्या, उसके अंगो के प्रति अमन्द आकर्षण तथा उसके प्रति आकुल प्राणो की मूक पुकार—सभी कुछ 'छन्दमयी' मे है।

प्रेम—प्रणय मानव-हृदय की मधुर भूख है। 'वनबाला' के उत्तरांश का आरम्भ करते हुए कवि ने प्रणय की वंदना की है—

प्रणय ! विश्व के प्राण हृदय सरसिज के मधुर विकास !
सफल स्वप्न असफल जीवन के ईश्वर के आभास !
सरल अपरिचित नयनो के ओ प्रथम मौन संवाद !
दो पागल हृदयो की कविते ! ओ सौंदर्य प्रसाद !
हे प्राणो की प्रथम प्यास ! हे यौवन के संगीत !
मधुर वेदना की हाला के साकी तृषित पुनीत !
सुखमय शूल मत मनसिज के ! अमृतपूर्ण विषाद !
भर दे मेरी चपल लेखनी मे अपना उन्माद ॥[6]

विश्व-जीवन का आधार ही प्रेम है। प्रेम की झिलमिल में ही ईश्वर की झलक है। प्राणो की मूल वासना प्रेम के रूप मे सभी को आन्दोलित करती है। प्रेम के साथ

१-२ वही, पृ० ३२
३ और नारी ! इस संसृति-मथन का वह सार अमृत विष मदिरा-मय। —छन्दमयी, पृ० १
४ मित गंगाजल-सा स्नेह तुम्हारा, प्लावित करता रोम-रोम। तुम अक्षय मंगल-मूर्ति तपस्विनी ! क्षुब्ध चेतना को विराम ॥ —छन्दमयी, पृ० १
५. उर का प्रति स्पंदन भाव बना, प्रत्येक श्वास-गति छन्द हुई ! —छन्दमयी, पृ० १
६. वनबाला, पांडुलिपि, पृ० १२

शूल और पीडा के तत्त्व भी सलग्न हैं। ये उद्गार कवि ने अपने प्रथम उन्मेष मे व्यक्त किये हैं। 'वनबाला' मे प्रेम का अन्त आँसुओ से भीगा हुआ है—

मेरे परिचयहीन भिखारी
तुम भी बिछुड़े निर्मम।
कह न सकी मैं एक बार भी
तुम से हँसकर 'प्रियतम'।[१]

वस्तुत: असफल प्रेम की अश्रुसिक्त कहानी ही छायावाद की कसक बन गई थी। इस प्रेम की असफलता के पीछे नैतिकता की कठोरता का एक मन्द स्वर अवश्य है। पर, यह स्वर मुखर नही हो पाया है। अपनी माता के विरह मे यह कुसुम-बाला मुरझा जाती है।

'छन्दमयी' मे आकर नैतिकता और पारिवारिक आदर्शवाद दीवारें बनकर प्रेम के मार्ग मे खड़े हो जाते हैं। इस नैतिकता ने गीतो की रानी को गीतो से दूर फेंक दिया—

वह दिन फिर आया, पर तुम हो
मेरे गीतो के परे आज।
हम दोनो के है बीच अड़ा
नैतिक विवाह-बधन, समाज![२]

सामाजिक नैतिकता से प्रेम का सघर्ष एक रूढ परम्परा बन गई है। इसका विश्लेषण फ्रायड के मनोविज्ञान का प्रधान विषय है। कुठाओ और ग्रन्थियो की जटिलता इसी का परिणाम है। प्रेम से नैतिकता भी पराजित है।[३] बौद्धिकता से भी प्रेम का सघर्ष होता है—ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति और सृजनप्रेरणा मे सघर्ष है। सृजन का स्रोत प्रेयसि के प्रेम मे है और ज्ञान और तर्क का स्रोत चेतना की ऊपरी सतह मे है। प्रणय जन्म-जन्म का सस्कार है।[४] प्रेम के सघर्ष का एक और पक्ष है: प्रेम आत्माओ का मिलन है। उसका एक शुद्ध प्रबुद्ध रूप माना जाता है। उसके साथ वासना का योग नही होना चाहिये। वासना अथवा ऐन्द्रियता के योग से वह अनाविल नही रह पाता—

है स्नेह दुग्ध की धार सहज शुभ आत्म-द्रव
जीवन का अक्षय पुण्य, सतोगुण का उद्भव!
पर ऐन्द्रियता की एक बूँद पड गई कही।
हो जायेगा वह विषम वासना विष रौरव![५]

---

१. वनबाला, पांडुलिपि, पृ० २४

२. छन्दमयी, पृ० ११

३. तुमने अधरों में उलझाकर प्रिय! मधुर अधर
नैतिकता का यह गर्व आज शतखंड किया। —छन्दमयी, पृ० ३६

४. है प्रणय प्राण का चिर-जन्मगत संस्कार,
दो आत्माओ का मिलय परस्पर समाहार। —छन्दमयी, पृ० ३४

५. छन्दमयी, पृ० ३६

यह आदर्श प्रेम की रूप-रेखा है। दूसरी ओर प्रेम का यथार्थ पक्ष है' प्रेम शरीर की भूख है, और वासना इसका अभिन्न अंग है। इस सत्य को भी भुला नहीं देना है। दूसरे पक्ष को कवि नगेन्द्र ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'है प्रणय काम व्यापार काय-मन की विभूति।'[1] स्पष्ट है कि प्रेम-सम्बन्धी फ्रायडीय वस्तुस्थिति को कवि भुला नहीं पाया है। कवि के अनुसार काव्य और आदर्शवाद के इन्द्रधनुषी परदे वासना के उद्दाम रूप को छिपाने का विफल प्रयत्न करते हैं। जलती हुई वासना ही प्रेम का नग्न सत्य है—

शत-रंगे परदे डाल कल्पना के झीने।
करता है ज्वलित वासना का असफल दुराव।[2]

दूसरे शब्दों में, वासना को हृदय का नरक बताना, उसे पाप कहना, और शम-दम की चर्चा करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पाखण्ड है।[3] यह वह सत्य है, जिसे आज का प्रत्येक युवक कवि अनुभव करता था, पर कहने में संकोच करता था। छायावादी कवि का दावा था कि वह सूक्ष्मता की विजय का घोष कर रहा है। स्थूल मांसल प्रेम और नग्न वासना की ज्वाला को वह कैसे स्वीकार करे? पर, नगेन्द्र जी स्पष्टवादी होने के कारण और फ्रायडीय मनोविश्लेषण को ध्यान में रखते हुए प्रेम के स्थूल रूप को ही प्रेम का यथार्थ रूप मानकर चले हैं। आदर्श प्रेम की चर्चा एक धोखा है, काम-वासना को पाप कहना एक भ्रम है। इस ऐन्द्रिय प्रेम की ध्वनि छायावादी कविता में स्पष्ट सुनाई पड़ती रही, पर सिद्धान्ततः इस नग्न सत्य को स्वीकार करने में छायावाद का कवि झिझकता रहा। नगेन्द्र जी पर फ्रायड का इतना गहरा प्रभाव था कि इस स्पष्टोक्ति के प्रति सब की स्वीकृति का उन्हें विश्वास था। इसी के परिणामस्वरूप उनकी कविताओं में प्रेम के काम-रंजित और वासना-सिक्त चित्र मिलते हैं। 'वनबाला' में प्रेम का आदर्श रूप बना रहा, पर स्थूलता के संकेत वहाँ भी मिलते हैं। 'छन्दमयी' तक आते आते ये स्वर मुखर हो गए हैं।

विरह, विषाद और निराशा

'वनबाला' का अन्त अश्रुस्नात है। जिस पर समस्त प्रकृति न्योछावर होती थी, वह वनबाला धूल में मिल गई। इस निर्मम जगत् में सम्भवतः प्रेम का इतिहास सदैव आँसुओं से लिखा गया है।[4] 'वनबाला' का पुनर्जन्म हुआ अधिक मांसल सौन्दर्य और उभार को लेकर उसका अवतार हुआ—'छन्दमयी' के रूप में। पर, इस बार कवि कुछ चिन्तक बन गया। यद्यपि उसे प्रकृति के रागोष्ण क्रोड में विश्राम मिला, पर जगत् का शीतल सत्य और शाश्वत की अनिवार्य प्रक्रिया सौ-सौ हाथों से उसकी आँखें खोलने लगे। अभाव और इच्छाओं की अपरिमित सृष्टि का संघर्ष प्रबल हो गया। आर्थिक संघर्ष भी अपने कठोर जबड़ों में कवि-मन को ग्रसने को उद्यत था। इस प्रकार भौतिक संघर्ष प्रबल हुआ—

१. छन्दमयी, पृ० ३५
२. वही, पृ० ४०
३. देखिए 'छन्दमयी', पृ० १६
४. मिली धूल में हाय! वह, करते सब उपहास।
निर्मम जग के प्रेम का, यह सूना इतिहास!! —वनबाला, पाडुलिपि, पृ० २६

जीवन सुखमय, पर पाल रहा सुख को उसका विपरीत भाव,
जितना ऊँचा उसका वैभव, उतना ही गहरा है अभाव।
संक्षिप्त हृदय की परिधि, किन्तु विस्तीर्ण अभावों की माया,
कंचन-काया पर चढ़ी मृत्यु की अंधी क्रूर-मलिन छाया।
क्षण-दीप्त मिलन की ज्वाला, वासना का अनन्त पर धूम-दाह,
परिमित जीवन का पात्र, उधर इच्छाओं का बाडव अथाह।
कटु-अर्थ-जन्य,क्षुद्रता, स्वजन का कपट, इष्ट का अनाचार,
उद्धत घमंड की ठोकर से कुचला मणिधर-सा अहंकार!
कविता के मौलिक स्रोत, कहाँ इनकी शाश्वत गति बंद हुई?
प्रेयसि! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई।[1]

इन पंक्तियों में भौतिक और मानसिक संघर्ष की घोर जटिलता व्याप्त है। कवि ने इस विषाक्त कटुता को अमृत बना देने की क्षमता प्रेयसी के अनन्य अनुराग में मानी है,[2] जहाँ व्यक्ति की क्षुब्ध चेतना को विराम मिलता है। नगेन्द्र जी ने प्रेम की मधुरिमा को 'छन्दमयी' की विभिन्न कविताओं में वाणी दी है। किन्तु, प्रेम के बाद विरह और विषाद के क्षणों का आना स्वाभाविक है। नगेन्द्र जी की कविता में भी विरह और विदा के क्षण मुखर हैं। प्रेयसी की इस उक्ति में विदा के क्षण का दृश्य कितना करुण, कितना द्रावक है—

जाओगे तो, फिर, जाओ ही,
मुझे भूल जाना—पर, देखो
मुझे भूलना मत निर्मोही![3]

फिर अन्धकारमय भविष्य ने प्रश्न को घेर लिया—

लेकर भार अमित पीड़ा का
मूक अचंचल पलक उठाए!
'फिर न मिलोगे क्या परदेसी ?'
पूछ रही थी धूमिल चितवन।[4]

इस सुख-दुःख की धूप-छाँह में कवि का जीवन और उसका वातावरण कुछ ऐसा बन जाता है—

जहाँ जीवन का मर्म रुदन
सिहर कर बन जाता गुंजन
विफलता बनती आलम्बन
हास बन जाते आँसूकन
अचानक अरमानों की हार
विजय बन जाती है साकार![5]

---

१. छन्दमयी, पृ० ३
२. तुमने जग की विषाक्त कटुता को बना दिया मधु अमृत स्रोत। —वही, पृ० १
३-४. छन्दमयी, पृ० २२-२३
५. वही, पृ० २८

इस प्रकार समरसता का-सा वातावरण पंत जी की शैली में ढलकर कवि नगेन्द्र की आँखों में भर आता है। कसक-सिसक, हास-रुदन, जीत-हार सभी कुछ यहाँ उदात्त रूप में है। छायावादी कविता का यही काल्पनिक उदात्तीकृत रूप है। पर, इस कल्पना-मयी, छलनामयी—प्रेयसि के साथ भी कवि बहुत दिनों तक न टिक पाया। क्रूर काल की कल्पना की झिलमिल भी सहन नहीं हुई—युद्ध की काली छाया विश्व की अबोध मानवता को भय-जर्जर बनाने लगी।[1] इससे कवि का भाव जगत् क्षत-विक्षत हो गया। इस युद्ध-दुर्घटना ने न-जाने कितने कवियों को दिशांतर कर दिया। कवि नगेन्द्र ने समस्त छायावादी क्षेत्र को अपने कृतित्व से नाप डाला था, पर दिशांतर के समय पैर काँप गये। उनकी भावुकता मानवतावाद में परिणत हुई, अनुभूति की तीव्रता विचार और चिन्तन के गहन स्तरों को तरलता देने लगी, समरसता और रस-भावना अनुभूतिपरक चिन्तन के आधार बने तथा सौन्दर्य की खोज सत्य' की खोज की साधना में लगी। डा० नगेन्द्र का यही आलोचक के रूप म रूपांतर है।

कला-पक्ष—कवि नगेन्द्र की कला छायावादी काव्य-कला की ही छाया है। 'वनबाला' में प्रबन्धात्मकता का जो आकर्षण आरम्भ म दीखता है, वह एक लम्बे गीत में अधिक कुछ नहीं है। इसमें प्रबन्ध-सूत्र इतने झीने हैं कि लय में समा जाते हैं। वनबाला और उसकी तपस्विनी माता एवं प्रेम-याचक अज्ञात युवक को लेकर एक दुःखान्त कहानी प्रस्तुत की गई है। तपस्विनी की स्मृतियों में निर्मम विश्व की भीषण झाँकी है, जिसके प्राणों में गीतकार की व्यथा है और सम्पूर्ण काव्य में कवि की स्वच्छन्द आत्मा की छाया है। 'भ्रान्त पथिक' उनके द्वारा अनूदित प्रबन्ध रचना है। उसमें भी विश्व की एक झाँकी है। इस प्रकार इन दोनों प्रारम्भिक रचनाओं में उनकी कला यथार्थ जगत् के चित्रण से चलकर 'छन्दमयी' में आत्मगत भावानुभूति की छवियों से अवाक् रह जाती है। इस छवि की स्फीति गीतों में ढल गई है।

नगेन्द्र जी के छन्दों, शब्दों और सौन्दर्य-दर्शन पर पंत जी की छाप तो स्पष्ट है, पर प्रतीकों की उलझन और शैली की अतीन्द्रिय लाक्षणिकता 'छन्दमयी' में नहीं मिलती। यदि वैयक्तिक संकेत हैं, तो उनको छिपाने का कलात्मक प्रयत्न नहीं किया गया है। यदि रहस्यवादी संकेत हैं, तो स्पष्ट हैं। इस प्रकार प्रतीक-योजना दुरूह न होकर पारदर्शी बन गई है। कवि का मन जैसे कुछ छिपाना तो चाहता है, पर संस्कारवश कुछ छिपा नहीं पा रहा है।

छायावादी कवि कल्पना द्वारा वस्तु-विन्यास में एक सुनिश्चित ध्येय को लेकर प्रवृत्त होते हैं। कल्पना-खगी आकाश की ऊँचाइयों में विहार करने को मचलती तो है, पर धरती का आकर्षण छूटता नहीं और उड़ान वायवीय नहीं हो जाती। इस प्रकार उड़ान में तीव्रता तो है, पर पागलपन नहीं है। धरती का आकर्षण उसे वस्तु के सौन्दर्य-स्तरों की खोज के लिए विवश कर देता है। प्रकृति का सौन्दर्य जहाँ कल्पना की तितली के पंखों का अनुपम रंग-विन्यास बन जाता है, वहाँ प्लेटफ़ार्म का विदा-दृश्य भी वह नहीं भूल पाती। आलोचक का व्यंग्यचित्र सजाने में भी कवि सक्षम है। इस प्रकार नगेन्द्र जी की कला वायवीय कल्पना के अतिवाद से बची रही है।

प्रकृति का चित्रण प्रेरणा के रूप मे भी हुआ है और कवि ने उसका सहज मानवीकरण भी किया है। कभी उसे प्रकृति मे सुहागिन की रागारुण झाकी मिलती है, तो कभी रीतिकालीन मुग्धा, प्रौढा, अभिसारिकाओ के शृंगार-सकेत प्रकृति मे प्राण भर देते हैं। प्रेयसी भी कभी-कभी प्रकृति में झांक जाती है। अलकार के रूप मे तो छायावादी शैली मे प्रकृति का उपयोग हुआ ही है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, कवि उसका शिल्पी है। प्रत्येक शब्द की आत्मा से उसका निजी परिचय है। शब्द-चयन मे उसकी दृष्टि चमत्कार पर नही रही है, और न यही इच्छा है कि शब्द के प्रकृत अर्थ को प्रतीकार्थ मे पूर्णत छिपा दिया जाय। शब्द अपने प्रकृत सौन्दर्य मे स्थित हैं और कवि की अनुभूति के सौन्दर्य से पुलकित तो हैं, पर अभिभूत नही। अलकार न बोझिल हैं और न अनिवार्य। उपमानो की अध खोज न होते हुए भी प्रयोग मे मौलिकता है। सुष्ठु प्रयोगों ने कविता को जगमगा दिया है।

सक्षेप मे यही कवि नगेन्द्र की कला की अस्फुट रेखाएँ हैं। छायावादी प्रवृत्ति का घोर प्रभाव होते हुए भी उन्होने भाषा-विधान और रूप-नियोजन मे स्पष्टता रखी है। इसके बाद कवि नगेन्द्र, आलोचक तथा निबन्धकार नगेन्द्र को देकर विदा हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ कवि नगेन्द्र की भावानुभूति प्रेयसी के सौन्दर्य से चिन्तन के सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुई है, वहाँ कला की छवियाँ अपनी भावुक पद्धति से सूत्रात्मक पद्धति मे परिणत हो गई हैं।

तृतीय अध्याय

निबन्धकार नगेन्द्र

प्रास्ताविक—हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में ही नहीं, निबन्ध के क्षेत्र में भी डॉ० नगेन्द्र का अन्यतम स्थान है। उनके व्यक्तित्व के तन्तुओं का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। उनका व्यक्तित्व अपने में एक महात्मकता और दृढ़ता लिए है। किन्तु इस दृढ़ता के साथ कवि-सुलभ कोमलता, भाव शबलता और एकनिष्ठता के तत्त्व भी संश्लिष्ट है और इन सबके ऊपर साहित्य के मूल केन्द्र, अनुभूति, के प्रति अडिग आस्था छाई हुई है। यह कुल मिलाकर एक ऐसा व्यक्तित्व बन जाता है जो विचारात्मक निबन्धों के सर्वथा उपयुक्त है। नगेन्द्र जी तक हिन्दी निबन्ध कई स्थितियों को पार कर चुका था। इस समय तक आते-आते यह गद्य विधा हिन्दी के लिये नई नहीं रह गई थी। देश का इतिहास भी कई करवटें बदल चुका था। समस्त विश्व राजनैतिक विचार धाराओं के संघर्ष से उत्पीड़ित हो उठा था। विविध संस्कृतियों का संघर्ष और समन्वय दोनों ही चल रहे थे। यदि एक ओर समाज सुधार की वेगवती लहर देश के ओर से छोर तक व्याप्त थी तो दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द रामतीर्थ और अरविन्द जैसे दार्शनिकों द्वारा भारतीय जीवन मूल्यों की नवीन व्याख्या एक नवीन आस्तिकता और नवीन विश्वास पर आधारित कर्मठता प्रदान कर रही थी। साहित्य के क्षेत्र में कलात्मक मूल्य और आलोचना के मानदण्ड इन समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियों से प्रभावित होकर नवीन रूप में सामने आ रहे थे। फ्रायड, मार्क्स, क्रोचे रिचर्ड्स और इलियट जैसे विचारकों ने भारत के ही नहीं संसार भर के साहित्य मनीषियों को नवीन पद्धति से सोचने-समझने के लिए बाध्य कर दिया था। प्राचीन विचारधाराएँ नवीन व्याख्या के लिए अकुला उठी थीं और नवीन मान्यतायें जीवन और साहित्य के क्षेत्र में स्थिरता प्राप्त करने लगी थीं। इस समस्त उत्क्रान्ति की पृष्ठभूमि को लेकर हिन्दी-गद्य और निबन्ध का इतिहास बन रहा था। इस इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक कड़ी के रूप में डॉ० नगेन्द्र का स्थान है। संक्षेप में इस विकास क्रम को देख लेना उपयुक्त होगा।

हिन्दी-गद्य और निबन्ध का विकास

आज का युग गद्य का युग है। गद्य शब्द 'गद्' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है बोलना या कहना। कुछ इतिहासकारों ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' को हिन्दी का प्रथम गद्य ग्रन्थ माना है।[1] मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी गद्य के आरम्भ के विषय में लिखा है—"सूरत मिश्र के 'बेताल पच्चीसी' का संस्कृत से ब्रजभाषा में अनुवाद संवत् १७०० के लगभग हुआ, इसके प्राय सौ वर्ष बाद इन्हीं दोनों महाशयों (लल्लूलाल और सदल मिश्र)

१ देखिए 'Modern Prose', लाला सीताराम, पृ० ३१

ने ग्रन्थ लिखे तभी वर्तमान हिन्दी-गद्य की जड़ स्थिर हुई।"[१] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कुछ दादूपंथी गद्य-रूपों की खोज की है।[२] गोरखपंथ में भी गद्य में लिखा हुआ कुछ साहित्य उपलब्ध है जिसका निर्माणकाल संवत् १४०७ के आसपास है।[३] पर इन प्राचीन गद्य-रूपों को किसी सुनिश्चित परम्परा की कड़ियों के रूप में नहीं लिया जा सका। अतः अधिकांश विद्वान् लल्लूलाल और सदल मिश्र को ही हिन्दी-गद्य के जन्मदाता के रूप में मानते है।[४] शुक्ल जी के अनुसार भी इन्हीं दोनों लेखकों से गद्य का आरम्भ हुआ, पर उन्होंने इनके साथ इशाअल्ला खाँ और सदासुखलाल को और जोड़ दिया।[५] निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आधुनिक शोधों ने साम्प्रदायिक गद्य के कुछ प्राचीन रूपों को प्रमाणित किया है, तथापि खड़ी बोली गद्य का नियमित रूप से आरम्भ अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के पश्चात् ही हुआ। उपदेशात्मक धार्मिक गद्य का प्रेरणा-स्रोत भारतीय ही कहा जा सकता है, पर गद्य के आधुनिक रूप-विधान के पीछे अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का सम्पर्क और अध्ययन ही माना जाना चाहिए। गद्य-रचना के उस प्रवर्तन-काल में जान गिलक्रिस्त ने कुछ पुस्तकें तैयार कराईं, ईसाई धर्म से सम्बन्धित कुछ साहित्य रचा गया और आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने अपने धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन के माध्यम के रूप में हिन्दी-गद्य को अपनाकर इसकी सेवा की। श्रद्धाराम फुल्लोरी की गद्य-रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। शिक्षा-प्रचारकों ने भी खड़ी बोली गद्य के उन्नयन में पर्याप्त सहयोग दिया। इनमें राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा नवीनचन्द्र राय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हिन्दी-गद्य धीरे-धीरे, पर दृढ़ता से विकसित होने लगा।

हिन्दी-गद्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित कुछ गद्य-विधाओं को भी अपनाया गया। मुद्रण-कला के प्रचार और समाचार-पत्रों के प्रकाशन[६] ने इन नवीन विधाओं को बल दिया। समाचार-पत्रों के प्रकाशन ने निबन्ध-रचना को विशेष प्रोत्साहन दिया।[७] भारतेन्दु बाबू के समय से निबन्ध-रचना की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल पड़ी। इनके समकालीन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट,[८] प्रतापनारायण मिश्र[९],

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ८५३
२. देखिए 'दादू उपक्रमणिका', पृ० ४
३. देखिए, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४०३
४. रामदास गौड़ और लाला भगवानदीन द्वारा संपादित 'हिन्दी भाषा सागर' पृ० ५-६
५. "अतः खड़ीबोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ानेवाले चार महानुभाव हुए हैं—मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। यह चारों लेखक संवत् १८६० के आस-पास हुए।" —हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१७
६. हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' कानपुर से संवत् १८८३ में निकला था (रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७)। इसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद का 'बनारस', बाबू तारामोहन का 'सुधाकर', सदासुखलाल का 'बुद्धि प्रकाश', राजा लक्ष्मणसिंह का 'प्रजा हितैषी', भारतेन्दु का 'कविवचनसुधा', बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप' आदि अनेक पत्र हिन्दी-क्षेत्र में निकले।
७ देखिए 'भारतेन्दु युग', डा० रामविलास शर्मा, पृ० ६५
८. 'साहित्य सुमन' में भट्ट जी के पच्चीस निबन्धों का संकलन हुआ है और 'भट्ट निबन्धावली' में बत्तीस निबन्ध हैं।
९. इनके निबंध 'प्रतापनारायण ग्रंथावली' में संगृहीत हैं।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'[१] तथा अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वार्ष्णेय जी के अनुसार बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने निबंध लिखकर हिन्दी-गद्य-शैली को नवीन रूप दिया था।[२] शुक्ल जी ने प्रेमघन की गद्य-शैली के विषय में यह मत व्यक्त किया है "वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले, कलम की कारीगरी समझनेवाले लेखक थे।"[३] साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा इस युग में निबन्ध-लेखकों को कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई। इस युग के निबन्ध-लेखकों की दृष्टि और विचार-धारा को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: "उस युग के लेखक एक नवीन मानव धर्म का प्रचार करना चाहते थे जो सब ओर से उदार हो। उनकी प्रगति में जो अवरोधक शक्तियाँ थीं उन पर तीखे व्यंग्यों की बाण-वर्षा निबन्धों के माध्यम से की जाती थी।"[४] भारतेन्दुकालीन निबन्धों के पीछे धार्मिक और सामाजिक सुधार-आन्दोलनों की भूमिका थी। इसलिए उनमें पर्याप्त विषयवैविध्य मिलता है। जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों और सभी वर्गों से सम्बन्धित विषयों पर इस युग के लेखकों ने निबन्ध लिखे। व्यंग्यात्मक शैली, आत्मीयता, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा हास्य-मनोरंजन उस युग के निबन्धों की प्रमुख विशेषतायें रहीं। ये विशेषतायें निबन्ध-कला के लिए आवश्यक मानी जाती हैं।

हिन्दी की निबन्ध-परम्परा में द्विवेदी युग एक विशेष स्थान रखता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु काल यदि बीजारोपण काल था, तो द्विवेदी युग प्रतिफलन का युग। परिस्थितियाँ भी बदल रही थीं। राष्ट्रीय जागरण क्रियात्मक रूप धारण करने लगा था। समाज-सुधार-आन्दोलन या तो राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग बन गया था या साहित्य में अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित होने लगा था। साहित्य का सम्पर्क युग की प्रत्येक हलचल और जीवन की प्रत्येक गतिविधि से होने लगा था। यूरोप की उद्योग-क्रान्ति से प्रभावित देश के आर्थिक जीवन में नवीन पूँजीवादी समस्याएँ उत्पन्न होने लगी थीं और सामंतीय जीवन-मूल्य ह्रासोन्मुख होने लगे थे।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में कुछ प्राचीन रूप समाप्त होने लगे, कुछ पुराने रूपों का संस्कार, परिष्कार और विस्तार होने लगा। कुछ नये रूप पनपने लगे। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट एवं राधाचरण गोस्वामी की निबन्ध-शैली शिथिल पड़ने लगी। हास्य और व्यंग्य की शैली सामाजिक जीवन की जटिलता और गम्भीरता तथा बौद्धिक विकास की नवीन पीढ़ी के थपेड़ों को न सह सकी और व्यंग्यपूर्ण निबन्धों के स्थान पर धीरे-धीरे निबन्धों में गम्भीरता का समावेश होता गया। समालोचना-शैली के विकास ने एक नवीन निबन्ध-प्रणाली को जन्म दिया। इन बदली हुई परिस्थितियों में बदले हुए निबन्ध-रूपों का प्रकाशन मुख्यत. इन पत्रिकाओं ने किया: नागरीप्रचारिणी पत्रिका (काशी, १८९७), सरस्वती (प्रयाग, १९००), सुदर्शन (काशी, १९००) तथा समालोचक (जयपुर, १९०२)।

---

१. इनके निबंध 'आनन्द कादम्बिनी' तथा 'नागरी नीरद' में प्रकाशित हुआ करते थे, जिनका संग्रह 'प्रेमघन सर्वस्व' में हुआ है।

२. देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ६६

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६१

४ द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य, श्री गंगाबख्शसिंह, पृ० २६

इस युग के प्रमुख लेखक महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र, श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी हैं। इस युग के निबन्धों में कलात्मक और भावात्मक सौंदर्य, व्यक्तित्व का चमत्कार और हास्य-व्यंग्य की अविरल वर्षा भले ही भारतेन्दु युग के समान न रही हो, फिर भी गठन, गरिमा, शैली की गम्भीरता तथा रुचि की परिष्कृति इस युग के निबन्धों की विशेषताएँ हैं। विचारात्मक निबन्ध भविष्य की सम्भावनाओं से युक्त होकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। लालित्य का स्थान उपयोगितावाद ने ले लिया। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि मानटेन (Mongtain) वाली निबन्ध-परम्परा शिथिल होती जा रही थी और बेकन की निबन्ध-परम्परा इसका स्थान लेने लगी थी।

प्रसाद-युग में इस परम्परा में प्रौढ़ि और गहराई आई। इस युग की विशेषता यह थी कि साहित्य-सम्बन्धी विविध विषयों पर गम्भीर समीक्षात्मक लेख लिखे गये। गद्य के विकास के स्वर्ण काल में रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने निबन्ध-कला का उन्नयन किया। इतिहास और पुरातत्त्व (Archeology)–सम्बन्धी शोधपरक गम्भीर लेख वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखे। माखनलाल चतुर्वेदी की काव्यात्मक गद्य-शैली इसी युग की देन थी। इन लेखकों के साथ शान्तिप्रिय द्विवेदी का नाम भी उल्लेखनीय है। शुक्ल जी का निबन्धसंग्रह 'चिन्तामणि' हिन्दी का ही नहीं, समस्त भारतीय गद्य का गौरव बनने में सक्षम है। बाबू गुलाबराय ने सैद्धान्तिक समीक्षा, मनोविज्ञान तथा ललित निबन्धों के पुष्पों से निबन्ध-भारती की सरचना की। एक प्रकार से द्विवेदी युग की स्थूलता इस युग में विषय और शिल्प, दोनों की सूक्ष्मता में बदल गई। लेखक की दृष्टि अन्तर्मुखी हुई तथा विवेचना में पारदर्शिता और पूर्णता आई। भावात्मक गद्य का जो स्वस्थ विकास इस युग में हुआ, वह इससे पूर्व नहीं हुआ था। इस प्रकार प्रसाद युग निबन्धों के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

द्विवेदी युग और प्रसाद युग में साहित्यिक निबन्धों का लेखन और विकास वह विशेषता है, जो भारतेन्दु युग से इन युगों को क्रमशः पृथक् करती है। साहित्यिक निबन्ध कई प्रकार के लिखे गये। *प्रथम वर्ग उन लेखों का है, जो विभिन्न मनोविकारों पर साहित्यिक और* रस-शास्त्र की दृष्टि से लिखे गये। इनमें शुक्ल जी के क्रोध, भय, घृणा, करुणा, ईर्ष्या, लोभ या प्रीति आदि निबन्ध आते हैं, जो *'चिन्तामणि' में संगृहीत हैं। साहित्यिक निबंधों का दूसरा* वर्ग साहित्य-शास्त्र के विविध विषयों से सम्बन्धित था। बाबू श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' तथा *पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'विश्व-साहित्य' के निबन्ध इसी वर्ग के अन्तर्गत* आते हैं। अन्य छुट-पुट निबन्ध भी इन विषयों पर प्रकाशित होते रहे। इनमें 'भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव'[1] *'कविता का मर्म'*[2], द्विवेदी जी के *'कवि और कविता'*[3]

१. कृष्णबिहारी मिश्र, इन्दु, सितम्बर १९१६

२. चन्द्रमनोहर मिश्र, इन्दु, अगस्त १९१५

३. सरस्वती, जुलाई १९०७

प्रभृति निबंध, 'कविता क्या है'[१], 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य'[२], 'कवि और कविता'[३], तथा 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' मे प्रसाद जी के निबन्ध आदि कुछ प्रतिनिधि निबन्ध कहे जा सकते हैं।

साहित्यिक निबन्धो का तीसरा वर्ग आलोचनात्मक निबन्धो का है। "यदि यह कहा जाय कि आलोचनात्मक निबन्धो का जन्म तथा विकास द्विवेदी युग मे हुआ तो असगत न होगा। भारतेन्दु युग मे लिखी हुई आलोचनाओ मे गुण-दोष दिखाने की ही प्रवृत्ति अधिक मिलती है, उन्हे सत्समालोचना नही कहा जा सकता।"[४] पर, इस युग मे विशेष रूप से मध्यकालीन कवियो पर ही आलोचनात्मक लेख लिखे गये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'त्रिवेणी' तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक कृतियो के निबन्ध इसी कोटि मे आते हैं। इस काल मे हिन्दी के आलोचनात्मक निबन्ध लगभग पुराने आदर्शवादी मानदडो के आधार पर लिखे जा रहे थे। शुक्ल जी ने आलोचना के साथ केवल नैतिक दृष्टि ही नही रखी, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि का भी समावेश किया, जिससे हिन्दी के आलोचनात्मक निबन्धो मे एक गतिशीलता आई। शेष निबन्धकार बहुधा ऐतिहासिक महत्त्व ही रखते हैं।

प्रसाद युग मे समस्त गद्य-साहित्य पर सास्कृतिक, राष्ट्रीय तथा सामाजिक तत्त्व छाये रहे। प्रगतिशील युग मे लेखको की दृष्टि और निबन्धो की दशा, दोनो मे परिवर्तन हुआ। सामाजिक जीवन के बहुमुखी उत्थान, नव-जागरण की ताजगी तथा अपने अधिकारो के लिए सघर्ष की भावना भी साहित्य मे मुखर हो उठी थी। वर्तमान युग मे जो निबन्ध-लेखक विशेष रूप से प्रकाश मे आये, वे इस प्रकार हैं—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, जैनेन्द्रकुमार, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, नगेन्द्र आदि इस युग के प्रमुख लेखक हैं। इस युग मे लेखक विशेष प्रबुद्ध हो गया। लेखको ने कुछ मुक्त वातावरण मे आकर साहित्य की व्यापक समीक्षा मे भाग लिया। देश-विदेश की समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओ ने भी आलोचनात्मक निबन्धो मे प्रवेश करना आरम्भ किया। जीवन और साहित्य को नई दृष्टि से देखने और परखने का यह युग था। जैनेन्द्र जी सूक्ष्म चिन्तन से युक्त, एक विराट् व्यक्तित्व को लेकर निबन्धो के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए। नगेन्द्र जी ने एक अनुभूत्या-त्मक विचारक, पारदर्शी आलोचक तथा सुलझे हुए समीक्षक के रूप म निबन्ध के क्षेत्र म प्रवेश किया।

प्रेरणा स्रोत—नगेन्द्र जी ने सन् १६३६ से १६४५ के मध्यवर्ती काल मे निबन्ध-लेखन आरम्भ किया था। राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से यह सक्राति का युग था और नवीन अनुभव पुराने विश्वासो को नया रूप प्रदान करने लगे थे। नगेन्द्र जी युग की इन अगडाइयो से अपरिचित नही थे। उन्होन पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर साहित्य

१. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग २
२. रामचन्द्र शुक्ल, माधुरी, जुलाई १६ ३
३ जयशकरप्रसाद, इन्दु, कला २, किरण १
४. गगाधरसिंह, द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य, पृ० १०३

और समीक्षा के लिए एक ऐसे विशुद्ध वातावरण की आवश्यकता का अनुभव किया, जिसमें देश-विदेश के सभी कला-मूल्य और साहित्य के मानदड घुलमिल सकें और शाश्वत मानवीय मूल्य साहित्य के लिए दृढ आधार प्रस्तुत कर सकें। साहित्य का जो भाग या युग उपेक्षित है, उनकी मूलभूत शक्तियो की खोज करके देखना है कि कही अन्याय तो नही हुआ। विश्व के मनीषियो की ऊपर से विरोधी लगनेवाली विचार-पद्धतियाँ, हो सकता है, विरोधी नही यथार्थत: पूरक हो। कोई देश या कोई जाति अपनी श्रेष्ठता के मिथ्या गर्व मे चूर होकर यदि इन परस्पर पूरक विचार-पद्धतियो की उपेक्षा कर देती है, तो एक ऐसा अमार्जनीय अपराध हो जाता है, जिसको भविष्य की पीढियाँ क्षमा नही कर सकती। साथ ही समाज और जीवन का नवीन मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और ऐतिहासिक विश्लेषण करनेवाली समाजवैज्ञानिक शोधो का उपयोग प्राचीन सिद्धान्तो और मान्यताओं को नवीन रूप देने मे होना चाहिए। युग की यही आकुलताएँ निबन्धकार नगेन्द्र मे मूल प्रेरणा-स्रोत हैं। इस प्रेरणा-स्रोत ने नगेन्द्र जी के चिन्तन को वैज्ञानिक तटस्थता, उदारता, अध्ययन की प्रेरणा और व्यापक दृष्टि प्रदान की। अत. विचारात्मक तथा आलोचनात्मक होते हुए भी उनके निबन्धो मे निबन्ध-कला खिल उठी। यदि उनके सिद्धान्त आलोचना-साहित्य की अमूल्य धरोहर है, तो उनके निबन्ध भी निबन्ध-साहित्य की निधि हैं। उनमें मात्र आलोचना नही है, आलोचना के साथ एक उदार व्यक्तित्व भी उनमे प्रतिच्छायित है।

ऊपर जिस जटिल और व्यापक परिवेश की चर्चा की गई है, वह विश्व के सभी बुद्धिजीवियो तथा मानवता के हितचिंतकों को प्रेरणा दे रहा था। साहित्य को यदि जीवित रहना है, तो मानव-मन मे सद्भावनाओं की विजय के प्रति एक अनाविल आस्था उत्पन्न करनी ही होगी। राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी बडी सघर्षमय थी। किन्तु, निबन्धकार नगेन्द्र को इन स्थूल परिस्थितियो ने इतना अधिक प्रभावित नही किया। उन्होंने अपना दायित्व यही समझा कि किसी पक्ष का अन्ध समर्थन करनेवाले प्रचारवादी आलोचको से साहित्य को मुक्त करना है, क्योकि आलोचक समाज की सृजन शक्ति को भी नियन्त्रित करता है और उसे दिशा भी प्रदान करता है। इस प्रकार के नवीन मानो और मूल्यो पर आधारित आलोचना की एक नवीन और स्पष्ट पद्धति की स्थापना मे निबन्धकार नगेन्द्र ने भाग लिया। उन्होने विचारात्मक लेख ही लिखे है और वे भी अधिकाशत: समालोचनात्मक। उन्होने निबन्धकार के रूप मे केवल शुक्ल जी से प्रभाव ग्रहण किया, पर उन्होने पाया कि शुक्ल जी भी अपने निबन्धो मे पूर्ण निष्पक्ष नही रह पाये थे। उनके निबन्धों मे जब पाठक अपने को गभीरता के शिखर पर स्थित पाता था, तो उसे कुछ ऐसी घाटियाँ भी दिखाई देती थी जिनकी निचाई की उसे आशा ही नहीं थी। नगेन्द्र जी के निबन्धो मे शिखरों की ऊँचाइयो मे विचरनेवाला पाठक एकदम घाटियो मे गिरने के भय से मुक्त रहता है।

नगेन्द्र जी के निबन्धों का वातावरण : व्यापकता और उसके उपकरण

अभी जिस व्यापक परिवेश की चर्चा हुई है वह नगेन्द्र जी के निबन्धो मे छाया हुआ है। देशी और विदेशी विद्वानों के सिद्धान्तो पर विचार-विमर्श से निबन्ध के वातावरण

की व्यापकता प्राप्त होती है। इससे व्यापक, शाश्वत और सामान्य मूल्यों अथवा आदर्शों तक पहुँचने की साधना अभिव्यक्त होती है। नीचे की सूचियों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि नगेन्द्र जी का निबन्धकार कितनी व्यापक परिस्थितियों से अपना कार्य सम्पादन करता है।

संस्कृत के विद्वानों का नामोल्लेख

नगेन्द्र जी ने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का गम्भीर मथन किया है। फलत उनके निबन्धों में निम्नलिखित आचार्यों तथा उनकी धारणाओं का प्राय उल्लेख हुआ है—भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, अभिनवगुप्त, भट्टनायक, कुतक, आनन्दवर्द्धन, शारदातनय, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, भट्टतौत, रामचन्द्र गुणचन्द्र, श्रीहर्ष, जयदेव, पडितराज जगन्नाथ, नदिकेश्वर, शिलालिन, मेधाविन, कश्यप, भानुदत्त[१]। काव्यशास्त्री ही नहीं, अन्य विषयों के संस्कृत विद्वान् भी इन निबन्धों में प्रवेश पा सके हैं। कौटिल्य, वात्स्यायन आदि के सम्बन्ध में चाहे मात्र उल्लेख ही हो[२], पर इससे निबन्धकार की दृष्टि की अतीत यात्रा का वैविध्य स्पष्ट होता है। संस्कृत-साहित्य के अमर रत्नों की ज्योति किरणें भी नगेन्द्र जी के निबन्धों के वातावरण में विकीर्ण है। उनके नामों की सूची इस प्रकार है—व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण, माघ, भारवि, अमरक[३]।

अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वानों का उल्लेख

नगेन्द्र जी के निबन्धों में बगला के विद्वानों और साहित्यिकों का नामोल्लेख सबसे अधिक हुआ है। इनकी सूची इस प्रकार है—माइकेल मधुसूदन दत्त, रामकृष्ण परमहंस, राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र चटोपाध्याय, शरत्चन्द्र।[४] तेलुगु के इन विद्वानों का नामोल्लेख मिलता है—रायप्रोलु सुब्बाराव, अ० रामकृष्ण राव।[५] इनके अतिरिक्त तमिल के भारती, मलयालम के वल्लतोल, गुजराती के उमाशंकर जोशी, मराठी के केशवसुत तथा गोविन्दाग्रज आदि के उल्लेखों ने उनके निबन्धों में समस्त भारतीय साहित्य का वातावरण मूर्त्त कर दिया है।[६]

पाश्चात्य विद्वानों का उल्लेख

पाश्चात्य क्षेत्र के बहुत-से नाम नगेन्द्र जी के निबन्धों में आये हैं, जिनकी एक लम्बी सूची है। इस सूची के लम्बे होने का कारण यह है कि लेखक की दृष्टि भारतीय

१. इस दृष्टि से 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेषण' तथा 'अनुसधान और आलोचना' का अध्ययन पर्याप्त होगा।

२ देखिए 'अनुसधान और आलोचना', पृ० १७

३ देखिए 'अनुसन्धान और आलोचना', 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण'।

४ देखिए 'विचार और विवेचन', 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' तथा 'अनुसन्धान और आलोचना'।

५. देखिए अनुसन्धान और आलोचना, पृ० ४२

६. देखिए 'अनुसधान और आलोचना', पृ० ४२

और पाश्चात्य विचारधाराओ के ऊपर विशेष केन्द्रित रही है। यह सूची इस प्रकार दी जा सकती है—प्लेटो, अरस्तू, प्लेटोनिस, हीगेल, एडिसन, क्रोचे, क्लाइववेल, ड्यूवाइ, शोपेनहार, फ्रायड, युग, एडलर, ड्राइडन, मार्क्स, लाजाइनस, रस्किन, हडसन, कीथ, टालस्टाय, दान्ते, मैथ्यू आर्नल्ड, बर्गसा, रिचर्ड्स, ब्रेडले आदि।[1] इन विचारकों के अतिरिक्त प्रायः सभी रोमांटिक कवियों के सम्बन्ध मे भी कुछ-न-कुछ कहा गया है। उनके नाम लेकर सूची बढाना अनावश्यक लगता है।

नगेन्द्र जी ने हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन प्राय: सभी प्रमुख कवियों, लेखकों और आलोचको का किसी-न-किसी रूप मे उल्लेख किया है। इन समस्त विचारधाराओ का व्यक्त या अव्यक्त रूप से लेखक के व्यक्तित्व पर प्रभाव है। इन सूचियो से जहाँ वातावरण पर प्रभाव की सीमाओ का भी अनुमान लगाया जा सकता है, वहाँ ऐसा अनुभव होता है जैसे लेखक ज्ञान-विज्ञान और मनन-चिंतन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित समस्त व्यक्तित्वो को भेद-भाव भूलकर स्वीकार करता है और पूर्वाग्रहो या पक्षपात से बननेवाली खाइयाँ समाप्त हो जाती हैं। विश्व-मानव से सम्बन्धित परिस्थितियों का विश्व के विचारकों से यही तकाजा है कि वे एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करें जिसमें मानव देश और जातियो के व्यवधानो से ऊपर उठकर एकता का अनुभव कर सके।

निबन्धों का वर्गीकरण

आज सामान्यीकृत (Generalised) अध्ययन के स्थान पर विशिष्ट अध्ययन की स्थापना हो गई है। सामान्यीकरण मे सबसे बड़ी बाधा यह है कि वैयक्तिक विचिलताएँ प्रकाश मे नही आ पातीं। इन विचिलताओ मे ही लेखक के व्यक्तित्व का निवास रहता है। सामान्य रूप से निबन्धों का यह वर्गीकरण किया जा सकता है—सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, समीक्षात्मक, विचार-प्रधान, भाव-प्रधान, वर्णन-प्रधान, आत्मचरितात्मक, स्वप्नकथात्मक, प्रतीकात्मक, कथात्मक, संस्मरणात्मक तथा हास्य-व्यग्यात्मक। इस सूची में कुछ निबन्ध विषय की दृष्टि से वर्गीकृत हैं, कुछ उद्देश्य की दृष्टि से तथा कुछ शैली की दृष्टि से। किन्तु, वैज्ञानिक दृष्टि से विषय, उद्देश्य और लेखक का दृष्टिकोण शैली को भी प्रभावित करते हैं। इन सबको लालित्य के परिमाण की सारणियो के अनुसार दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—कलात्मक लालित्य की सजग दृष्टि से लिखे गये निबन्ध तथा ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से लिखे गये निबन्ध। व्यक्तित्व का तत्त्व दोनों में ही व्याप्त रहता है, पर उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार मे अन्तर आ जाता है। प्रथम कोटि के निबन्धों मे व्यक्तित्व एक स्वच्छन्दता का अनुभव करता है और द्वितीय कोटि के निबन्धों मे नेपथ्य-कथन की भाँति कभी-कभी अपनी सूचना देता रहता है। नीचे की सूची में विचार-प्रधान निबन्धो का एक वर्ग माना गया है। समीक्षा भी विचार का ही एक अग है। साथ ही विचार के व्याख्या, विवेचन, विश्लेषण आदि कई रूप हो सकते हैं।

---

१. देखिए 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेषण' तथा 'अनुसन्धान और आलोचना'।

डा० श्रीकृष्णलाल ने निबन्ध शैली का बाह्य और आभ्यतर तत्वों के आधार पर यह वर्गीकरण किया है[१]—
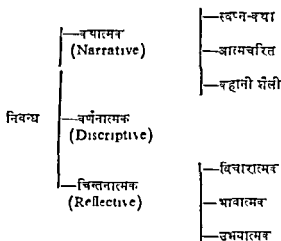
डा० श्रीकृष्णलाल ने निबधो के चार रूप माने हैं पुस्तक के रूप मे सगृहीत, प्रस्तावना के रूप मे लिखे गये निबन्ध, पैम्फलेट के रूप मे तथा विभिन्न पत्रो मे प्रकाशित होनेवाले।[२] किन्तु, इन रूपो मे कोई मौलिक भेद नही है। कभी-कभी निबन्ध-सग्रह एक निश्चित योजना के अनुसार होते हैं तथा निबन्ध-प्रबन्ध का वैसा ही रूप खडा हो जाता है, जैसा कि मुक्तक-प्रबन्धो का। प्रस्तावनाओ मे व्यक्ति या कृति का भाव ही विशेष रूप से रहता है। एक प्रकार से यह भी समीक्षा का रूप ही है। पैम्फलेट मे दृष्टि थोडी-बहुत प्रचारात्मक हो जाती है। लिखित अभिभाषण भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। साप्ताहिक या मासिको मे प्रकाशित लेख पत्रकार-कला (Journalism) के भाग ही बन जाते हैं। इनमे वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिक सजगता विशेष आ जाती है।

नगेन्द्र जी के निबंधों का वर्गीकरण

जहाँ तक नगेन्द्र जी के निबधो का प्रश्न है, उनका वर्गीकरण भी शैली के आधार पर ही होना चाहिए। उनके निबन्धो का एक वर्गीकरण विषय की दृष्टि से इस प्रकार किया गया है—[३]

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३२७–३२८
२. देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० ३२७
३. डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, साहित्य सन्देश, निबंध विशेषांक, अगस्त १६६१

१. शास्त्रीय सैद्धांतिक
    (१) साहित्यिक
    (२) मिश्रित
    (३) अन्य
२. प्रशस्तिमूलक
३. तुलनात्मक
४ वैयक्तिक
५ आलोचना-विषयक
६. भावात्मक या संस्मरणात्मक
७. व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी

इस वर्गीकरण का आधार विषय बताया गया है, पर यह एक मिश्रित आधार पर हुआ वर्गीकरण ही है। प्रशस्ति, तुलना, संस्मरण—ये विषय के नही शैली के ही रूपातर-मात्र है, साथ ही 'भावात्मक' या 'संस्मरणात्मक' शीर्षक भ्रामक है। इन दोनो शब्दो का अर्थ एक ही नही है। पारिभाषिक दृष्टि से भावात्मक निबन्ध संस्मरणो से भिन्न हैं। डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने इस शीर्षक मे केवल संस्मरणो का ही उदाहरण दिया है : बीबी . एक संस्मरण (विचार और विश्लेषण) तथा दादा : स्व० बालकृष्ण शर्मा नवीन (अनुसन्धान और आलोचना)। शिथिलता इस बात से भी व्यक्त होती है कि 'रवीन्द्र के प्रति' निबन्ध को प्रशस्तिमूलक भी कहा गया और 'भावात्मक या संस्मरणात्मक' निबन्ध के अन्तर्गत भी रखा गया है। इनमे से संस्मरणात्मक तथा तुलनात्मक को शैली के अन्तर्गत भी रखा गया है। इस प्रकार विषय और शैली की दृष्टि से किये गये वर्गीकरण के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नही दिखाई पड़ती। उक्त लेखक ने नगेन्द्र जी के निबन्धो का शैलीगत वर्गीकरण कुछ विस्तारपूर्वक किया है। यह इस प्रकार है—[1]

(१) शास्त्रीय शैली, (२) गोष्ठी शैली, (३) सवाद शैली, (४) नाटकीय शैली, (५) भावात्मक शैली, (६) प्रश्नोत्तर शैली, (७) विश्लेषणात्मक शैली, (८) व्यंग्यप्रधान मिश्रित शैली, (९) तुलनात्मक शैली, (१०) आत्मकथात्मक शैली, (११) पत्रात्मक शैली, (१२) चर्चा शैली, (१३) संस्मरणात्मक शैली।

ऊपर के वर्गीकरण को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगेन्द्र जी के निबन्धो का सर्वागपूर्ण और वैज्ञानिक वर्गीकरण नही हो पाया है। वर्गीकरण मे जो सुबोधता और स्पष्टता अपेक्षित है, वह नीचे की सूची मे मिल सकती है—

---

१. साहित्य सन्देश, निबन्ध विशेषांक, अगस्त १९६१, पृ० ११५

निबन्ध
शुद्ध शैली
मिश्रित शैली
विचार-प्रधान
व्यक्ति-प्रधान (भाव-प्रधान)
कथात्मक
आत्म-कथात्मक
संस्मरणात्मक
तुलनात्मक
स्वप्न-कथात्मक
संवादात्मक
प्रतीकात्मक
सामान्य सूचनात्मक
साहित्यिक
अन्य गंभीर विषय (संस्कृति आदि)
काव्यात्मक
समग्र व्यक्तित्व के प्रभाववाले
हास्य-व्यंग्यात्मक
वर्णनात्मक
वार्त्ताएँ
पुस्तक-परिचय
व्याख्यात्मक
विश्लेषणात्मक
समीक्षात्मक
सैद्धान्तिक
काव्यशास्त्रीय
साहित्य-शास्त्रीय
समीक्षा-शास्त्रीय
शोध-शास्त्रीय
मनोविज्ञान-शास्त्रीय
प्रवृत्तियों या वादों-सम्बन्धी
अन्य (ऐतिहासिक)

उक्त वर्गीकरण का आधार मुख्यतः शैली ही है। क्योंकि निबन्ध के विषय अनन्त हैं, अतः उन्हें वर्गों में बाँटने की चेष्टा अनावश्यक है। संसार की सभी वस्तुओं पर निबन्ध लिखे जा सकते हैं और लिखे गये हैं। शैली ही निबन्ध में मुख्य है। शैली के व्यक्तित्व से सम्बद्ध आतरिक तत्त्व भी हैं और अभिव्यक्ति से सम्बद्ध बाह्य भी। अपने व्यक्तित्व से लिपटे अनुभूत्यात्मक चिन्तन को किसी भी वस्तु के माध्यम से निबन्धकार व्यक्त कर सकता है। यही व्यक्तित्व का तत्त्व निबन्ध को वह लालित्य प्रदान करता है, जो उसे कलाकृति बना देता है।

नगेन्द्र जी के निबन्धों के तीन प्रकार माने जा सकते हैं· (१) निबन्ध सग्रहों, अन्य रचनाओं और सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका तथा प्रस्तावना के रूप मे मिलनेवाले निबंध, (२) निबन्ध-सग्रहों मे सगृहीत निबन्ध तथा (३) पत्रकार-कला की दृष्टि से लिखे गये निबन्ध। अन्तिम प्रकार में उनके विद्यार्थी-जीवन मे लिखे गये निबन्ध आते हैं, जिनको उनके निबन्ध-सग्रहों में स्थान नही मिला। अब भी यदा-कदा वे ऐसे लेख लिखते हैं।[1] इस प्रकार के निबन्ध नगेन्द्र जी के कृतित्व मे महत्त्वपूर्ण स्थान नही रखते, यद्यपि ये उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन को स्पष्ट करने के लिये तथा उनके कृतित्व के विकास का ऐतिहासिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में सहायक हो सकते हैं। शेष तीन प्रकारों का वर्गीकरण नीचे प्रस्तुत किया गया है।

भूमिकाएँ और प्रस्तावनाएँ—इनके दो वर्ग हो सकते हैं: (१) निबन्ध-सग्रहों की भूमिकाएँ तथा (२) सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ। उनके अब तक सात निबन्ध-सग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनके साथ जो भूमिकाएँ सम्बद्ध हैं, वे आकार मे अत्यन्त सीमित हैं। इनके सीमित आकार का कारण कथन की सूत्रप्रियता है। इनमे मुख्यत· पुस्तक विशेष से सम्बद्ध कुछ प्रेरणा और परिचय के सूत्र हैं, और कुछ ऐसे सुझावपूर्ण सकेत-सूत्र हैं, जो अध्येता के लिये प्रकाश-किरणों के समान मुस्कराते रहते हैं। अत· आकार की मूलात्मक सक्षिप्तता कुछ महत्त्वपूर्ण अर्थों को अपने मे समेटे है। इनके तत्त्वार्थ पर आगे विचार किया गया है। नीचे की सूची से इनके आकार की सीमितता स्पष्ट हो जाती है—

१. विचार और अनुभूति	(१९४४)	११ पंक्तियाँ
२. विचार और विवेचन	(१९४९)	६ ,,
३. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	(१९५१)	७ ,,
४ विचार और विश्लेषण	(१९५५)	१३ ,,
५. अनुसधान और आलोचना	(१९६१)	१५ ,,
६. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध	(१९६२)	१० ,,
७. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	(१९६२)	५ ,,

इतनी सक्षिप्त भूमिकाओं मे भी कुछ मार्मिक और महत्त्वपूर्ण तथ्य अनुस्यूत हैं।

डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ मुख्यत· काव्यशास्त्रीय हैं। उनके सम्पादकत्व मे संस्कृत के कुछ महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अनुवाद सम्पन्न हुआ है।

१. उदाहरण के लिए 'पाप-पुण्य' निबन्ध, धर्मयुग, १६ अक्तूबर १९६०, पृ० ११

इनकी भूमिकाएँ आकार मे भी लम्बी हैं और इनमे शोध और परम्परा-निरूपण की दृष्टि प्रमुख होने से अधिक गाम्भीर्य आ गया है और यदि अलग से प्रकाशित कर दी जायें तो काव्यशास्त्र की परम्परा मे सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण अनुसधान-परक ग्रन्थ बन जायेगा। नगेन्द्र जी की भूमिकाओ के यही दो वर्ग आकार की दृष्टि से हो सकते हैं।

निबन्ध-सग्रहो मे सगृहीत निबन्ध—इन सग्रहो मे सगृहीत निबन्ध शुद्ध निबधो की कोटि मे आते है। इनकी शैली और विषय-वस्तु का आगे विवेचन किया गया है। यहाँ केवल इनका स्थूल वर्गीकरण करके सगृहीत निबधो की वर्गीकृत सूचियाँ देना अभीष्ट है। ऊपर हमने निबन्धो का जो सामान्य वर्गीकरण स्थिर किया है, उसमे यदि नगेन्द्र जी के निबन्धो को नियोजित किया जाय, तो वर्गीकरण की रूपरेखा इस प्रकार बनेगी—

१ शुद्ध शैलीवाले निबन्ध

(क) विचार-प्रधान

(अ) सामान्य लोकप्रिय सूचनाओ वाले

रेडियो-वार्त्ताएँ
महादेवी जी की दो नवीन अभिव्यक्तियाँ
हिन्दी मे हास्य की कमी

(ख) साहित्यिक निबन्ध

(अ) कवि अथवा लेखक की समीक्षा

बिहारी की बहुज्ञता
तुलसी और नारी
बच्चन की कविता
गिरिजाकुमार माथुर
प्रसाद के नाटक
गुलेरी जी की कहानियाँ
महादेवी की आलोचक दृष्टि
इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद
आचार्य श्यामसुन्दरदास की आलोचना-पद्धति
प्रेमचन्द
पत का नवीन जीवन-दर्शन
राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास
दिनकर के काव्य-सिद्धान्त
रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव
पत जी की भूमिकाएँ
भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक

(आ) कृति-समीक्षा

कामायनी मे रूपक तत्त्व
कामायनी का महाकाव्यत्व
जय-भारत
कुरुक्षेत्र
इरावती
सुखदा
दीपशिखा
दीपशिखा की भूमिका
त्यागपत्र और नारी

(इ) अन्य विषय

पाप पुण्य

(ग) सैद्धान्तिक निबन्ध

(अ) काव्यशास्त्रीय

रस का स्वरूप
साधारणीकरण
शृङ्गार रस
कविता क्या है
रस शब्द का अर्थ विकास
करुण रस का आस्वाद

(आ) साहित्यशास्त्रीय

साहित्य की प्रेरणा
साहित्य मे कल्पना का उपयोग
साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति
साहित्य का मानदण्ड
साहित्य का धर्म

(इ) समीक्षाशास्त्रीय

साहित्य और समीक्षा
आलोचना की आलोचना
आधुनिक काव्य के आलोचक
हिन्दी का अपना आलोचनाशास्त्र
कहानी और रेखाचित्र
नव-निर्माण : साहित्य की व्यापकता के उपादान

(ई) शोधशास्त्रीय

अनुसधान का स्वरूप
हिन्दी मे शोध की कुछ समस्याएँ
अनुसंधान और आलोचना

(उ) मनोविज्ञानाश्रित
फ्रायड और हिन्दी-साहित्य

(घ) *ऐतिहासिक आलोचना-विषयक निबन्ध*

(अ) वादो या प्रवृत्तियो से सम्बद्ध
छायावाद
राष्ट्रीय कविता
वैयक्तिक कविता
प्रगतिवाद
प्रयोगवाद

(आ) अन्य ऐतिहासिक निबन्ध
व्रजभाषा गद्य
हिन्दी-साहित्य का आदिकाल
रीतिकाल के कवि आचार्यों का योगदान
स्वतत्रता के पश्चात् हिन्दी-कविता
स्वतत्रता के पश्चात् हिन्दी-आलोचना

(ङ) व्यक्ति-प्रधान निबन्ध

(अ) समग्र व्यक्तित्व के प्रभाववाले
रवीन्द्र के प्रति

(आ) हास्य-व्यग्यात्मक
यौवन के द्वार पर

२. मिश्रित शैली के निबन्ध

(अ) स्वप्नकथात्मक
हिन्दी-उपन्यास

(आ) आत्मकथात्मक
मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन

(इ) सस्मरणात्मक
बीबी : एक सस्मरण
दादा : स्व० बालकृष्ण शर्मा नवीन
रेडियो मे पन्त जी का आगमन

(ई) सवाद या नाटक-शैली
हिन्दी मे हास्य की कमी

(उ) पत्रात्मक शैली
केशव का आचार्यत्व

(ऊ) तुलनात्मक

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र
आचार्य शुक्ल और आई० ए० रिचर्ड्स
हिर्मकिरीटिनी और वासवदत्ता
वोल्गा से गंगा और बिल्लेसुर बकरिहा

निबन्ध-शैली

(क) निबन्धकार नगेन्द्र का आंतरिक संघर्ष

जिस प्रकार नगेन्द्र जी के कवि और लेखक में संघर्ष रहा उसी प्रकार उनके भीतर निबंधकार और समालोचक का संघर्ष भी निरन्तर बना रहा। आलोचना और निबन्ध-कला का एक संयोग नगेन्द्र जी के लेखन में मिलता है। किसी-किसी विद्वान् ने तो इस संघर्ष में आलोचक नगेन्द्र की विजय ही घोषित कर दी है।[१] प्राय यही संघर्ष निबंधकार शुक्ल में भी था। हृदय और बुद्धि के संघर्ष का निर्णय वे स्वयं नहीं कर पाये और उसे उन्हें पाठक पर ही छोड़ना पड़ा। जो त्रिकोणात्मक व्यक्तित्व शुक्ल जी का था वही कवि, आलोचक और निबन्धकार का त्रिकोण नगेन्द्र जी में मिलता है। पर, इस संघर्ष की दिशा नगेन्द्र जी में बदली हुई मिलती है। शुक्ल जी का दबा हुआ कवि आदर्शवादी था और नगेन्द्र जी का दबा हुआ कवि स्वच्छन्दतावादी। शुक्ल जी का आलोचक आदर्शवादी नैतिकता से प्रकाश ग्रहण करता था, नगेन्द्र जी का आलोचक नैतिक मूल्यों को स्वीकार करने में असमर्थ है। शुक्ल जी का निबंधकार आदर्शवादी मूल्यों की विजय-यात्राओं में पड़ने वाली बाधाओं पर खीजता था, झुंझलाता था और कभी व्यंग्य के तीक्ष्ण आघातों से उन बाधाओं को धराशायी कर देना चाहता था। नगेन्द्र जी के निबंधकार में इस प्रकार की खीझ और व्यंग्य की प्रवृत्ति नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री भारतभूषण अग्रवाल ने लिखा है—"प्रत्येक तथ्य के सभी पहलुओं पर सम्यक् धैर्य से विचार करते हैं और जो निष्कर्ष तर्क एवं विवेक द्वारा पुष्ट न हो सके उसे मात्र आग्रह या भावोच्छ्वास से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं करते। इस गुण में मैं उन्हें शुक्ल जी से भी बड़ा निबन्धकार मानता हूँ। कतिपय आलोचकों ने डॉ० नगेन्द्र जी को खीझ, क्रोध, हर्षोल्लास आदि प्रकट न करते देखकर निराशा व्यक्त की है। पर मैं इनके अभाव को सच्चे आलोचक का गुण मानता हूँ।"[२] इस प्रकार नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व के अनुकूल ही उनके निबन्धों की विषय-योजना और शैली-शिल्प का रूप स्थिर हुआ है। उक्त त्रिकोणात्मक संघर्ष में बड़े कौशल के साथ समन्वय कराया गया है। उनका कवि खीझ, उदाहरणों तथा अलंकृत शैली में व्यक्त न होकर संतुलित, सुष्ठु और संघटित शिल्प की रचना में व्यस्त हो जाता है। परिणामतः गीत की कड़ियाँ चाहे रचित न हों, पर प्रत्येक वाक्य एक अनूठे आकार

---

१. "सच तो यह है कि निबन्धकार को आपका आलोचक पनपने नहीं देता—वह आलोचक से दबा-दबा सा रहता है। आलोचक के समान उसका व्यक्तित्व आकार और अन्तर को सगठित करके उभर ही नहीं पाता।" —हिन्दी निबन्धकार, जयनाथ नलिन, पृ० २३७

२. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १७

मे ढल जाता है। जहाँ तक कवि-सुलभ अनुभूति की तीव्रता का प्रश्न है वह भी अन्तर्मुख होकर विचारों या सिद्धान्तो के गाम्भीर्य को ही अपना विषय बना लेती है। अनुभूति-रस मे स्नात विचारगाम्भीर्य यद्यपि अभिव्यक्त होकर बाह्यतः शुष्क-सा लगता है, पर प्रबुद्धचेता पाठक उस क्रम-बद्ध रसात्मक गाम्भीर्य का अनुभव कर सकता है। गम्भीर से गम्भीर विषयो का प्रतिपादन भी नगेन्द्र जी के यहाँ अनुभूतिमूलक हो उठता है।[1] सृजन के सम्भार और शिल्प की मानसिक प्रक्रिया के कारण उनके लेखन की गति भी अत्यन्त मन्थर है।[2] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नगेन्द्र जी के अधिकाश निबन्ध आलोचनात्मक होते हुये भी सृजन के आन्तरिक प्रेरणा-केन्द्रो से प्रेरित, शिल्पगत सौष्ठव से युक्त, अनुभूति की अतलस्पर्शी तीव्रता से गतिशील और विचार की अनुभूत्यात्मक परिणति के रासायनिक प्रभाव से सम्पन्न हैं।

(ख) नगेन्द्र जी के लेखो मे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

निबन्ध-सम्बन्धी आरम्भिक धारणाओ मे ही व्यक्तित्व-प्रकाशन का निबन्ध-कला से अटूट सम्बन्ध माना गया है। मौण्टेन ने इस बात को स्वीकार किया था।[3] ए० सी० बेन्सन ने भी व्यक्तित्व-प्रकाशन को निबन्ध का केन्द्र माना है।[4] निबन्ध का विषय कोई भी हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि किसी विचाराश का विशद बोध हो तथा रमणीयता से युक्त होकर वह अनुभूतिमूलक रूप मे आस्वाद्य बन सके और व्यक्तित्व के विशिष्ट तत्त्वो को लेकर अभिव्यक्त हो। इन्ही तत्त्वो के कारण निबन्ध गद्य की एक ललित विधा के रूप मे स्वीकृत हो सका। व्यक्तित्व के तत्त्वो से युक्त होकर शैली वैयक्तिक विशेषताओ की क्रमणिका बन जाती है। यही 'Style is man' का मर्म है। डा० श्यामसुन्दरदास ने भी व्यक्तित्व के तत्त्व को प्रमुख माना है। व्यक्तित्व के अभाव में प्राचीन निबंधों को वे निबध की कोटि मे नही रखते।[5] बाबू गुलाबराय जी ने भी निबध की परिभाषा मे व्यक्तित्व और निजीपन को महत्त्वपूर्ण माना है—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या

---

१ "मेरा प्रतिपादन मूलतः अनुभूतिमूलक ही होता है, क्योंकि मैं साहित्य में अनुभूति को ही अन्तिम प्रमाण मानकर चलता हूँ। मैं विचारों को अनुभूति के रूप में ही प्रस्तुत करता हूँ।"
—साहित्य सन्देश, भाग २३, अक १, पृ० १६४

२. "मैं लिखने से पहले मन में ही गीत की रचना कर लेता था। यह प्रक्रिया अब भी यथावत् बनी हुई है। मैं अपने आलोचनात्मक निबन्धों की भी प्रायः रचना ही करता हूँ। कभी-कभी तो वाक्य के वाक्य मन में रच लेता हूँ। इसलिये मेरी लेखन गति अत्यन्त मथर है।" —वही, पृ० १६५

३ "These essays are an attempt to communicate a soul." —Montaigne

४. "An Essay is a thing which some one does himself, and the point of essay is not subject, for any subject will suffise, but the charm of personality." —(From the Art of the Essayist)

५. "प्राचीन निबन्ध एक प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिये गये। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा। न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कारपूर्ण मुद्रा दिखाई दी और न उनमें भावनाप्रधान शैली का प्रवेश हो पाया" —साहित्यालोचन, पृ० २११

प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।"[1]

निजीपन का तात्पर्य व्यक्तित्व के निजी स्वरूप से है। व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्ति के गुणो से होता है। उसका चरित्र उसकी मूल भित्ति है। वैयक्तिक गुणों में व्यक्ति के शील, सौजन्य, निष्ठा आदि का समावेश होता है। पर व्यक्तित्व इन सब गुणो का समूह नही है। सख्यातीत गुणों के योग से विलक्षण रसायन की भाँति इन सबको लिये हुए इनमे व्याप्त तथा इनसे अतिरिक्त भी झलकता हुआ जो अनिर्वचनीय सत् हमें मिलता है, वही व्यक्तित्व है। इसी विलक्षण रासायनिक सश्लेषण-व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य बिहारी की नायिका की "वह चितवनि और कछू, जिहि बस होत सुजान" व्याख्या में मिलता है।[2] इसी व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया प्रत्येक लेखक की शैली मे झलकती रहती है।

नगेन्द्र जी की निबन्ध-कला भी इसका अपवाद नहीं है। उनके व्यक्तित्व का एक तत्त्व तो सभी निबन्धो में प्राप्त है और वह है उनका स्वच्छन्द अध्ययन, स्वतन्त्र चिंतन तथा मुनिमानस की-सी गम्भीरता।[3] व्यक्तित्व की यह विशेषता उनके कुछ व्यक्तिपरक तथा शैली की दृष्टि से प्रयोगशील निबन्धों को छोड़कर सभी निबन्धों मे व्याप्त मिलती है। इन व्यक्तिपरक निबन्धों मे भी चिंतन गम्भीर ही है, पर उसका प्रस्तुतीकरण व्यग्यपूर्ण हो गया है। इन निबन्धो में व्यक्तित्व का व्यावहारिक अश ही अधिक सचेष्ट है। सिद्धान्तो की ऊहापोह मे व्यस्त मन जैसे कभी-कभी यह सब भी कर लेना चाहता है।

नगेन्द्र जी को अपने निबन्धों को विचार-प्रधान कहना ठीक नहीं दीखता। उन्होंने अनेक बार अपने निबन्धों के विषय मे यही बात कही है। सम्भवतः ऐसे कथनो में वे निबन्धो के सम्बन्ध मे अपनी मानसिक परिस्थिति का ही कथन करते हैं। जब तक निबन्ध उनके मन मे व्याप्त रहता है तब तक उन्हें गम्भीर विचारो का भावन और आस्वादन होता रहता है। भावो की सघनता मे और आस्वाद्य रस की सघनता में सिद्धान्त और विचारो की गम्भीरता उन्हें होती दीखती है। पर जब वे निबन्ध लेखनी के माध्यम से प्रकट होने लगते हैं तब उनका वह गाम्भीर्य प्रभाव की दृष्टि से पूर्वस्थिति को प्राप्त कर जाता है अर्थात् उनका भावपक्ष केवल स्पष्ट व्यवस्था की चारुता मे तथा रचनात्मक एक-सूत्रता में ही सीमित हो जाता है और प्रभाव की दृष्टि से उनके वे भाव पाठक को नही मिल पाते जिनके माध्यम से वे गम्भीर विचारो का अनुभव करके उनसे तादात्म्य का अनुभव कर रहे थे। निबन्धों की एकसूत्रता और उनकी योजना विचारो के साथ उनके निर्भ्रान्त सीधे भावात्मक तादात्म्य के परिणाम हैं। हृदय और बुद्धि का वह द्वैत जिससे प्रेरित होकर शुक्ल जी ने कहा था कि मेरा हृदय भी कुछ कहता गया है—नगेन्द्र जी मे नही है।

---

१. काव्य के रूप, पृ० २३६

२. "अनियारे दीरघ दृगन, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥" —बिहारी रत्नाकर, दोहा ५८८

३. "आपके निबन्धों में शास्त्रीयता की गहरी छाप के साथ-साथ स्वतंत्र चिंतन, शैली की प्रौढ़ता, वैज्ञानिक दृष्टि पर्याप्त मिलती है।"
—डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, साहित्य-संदेश, अंक २, भाग २३, पृ० ११४

उनकी साधना, उनके समग्र व्यक्तित्व की साधना है। तो, इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं कि उनके निबन्धों में अध्ययन की गहराई और चिंतन की प्रौढता झलकती है। साथ ही यह भी स्वीकार है "यद्यपि प्रारम्भिक निबन्ध अपेक्षाकृत उथले और सीमित हैं और बाद के निबन्ध अपेक्षाकृत गहरे और व्यापक, फिर भी यह द्रष्टव्य है कि प्रत्येक निबंध में डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व की अचूक छाप है।"[1] यह व्यक्तित्व की छाप कहीं भावपरक है, तो कहीं विचारपरक।

(ग) निबन्धों में सजीवता, व्यंग्य और भावात्मकता

व्यक्तित्व का निरूपण करते हुये हम देख चुके हैं कि नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व में गाम्भीर्य और चाचल्य का अद्भुत मिश्रण है। उनके निबन्धों में कहीं गाभीर्य का प्राधान्य हो जाता है और कहीं (चाहे ऐसे निबन्ध कम हों) भावात्मकता का। गम्भीर निबन्धों में अनुपात गाम्भीर्य का ही अधिक रहता है। फिर भी यत्र-तत्र शैली में भावात्मकता और वाणी में व्यंग्य मिल जाता है। कुछ सजीवता बीच-बीच में कतिपय यथार्थ जीवन के उदाहरणों में मिल जाती है। नीचे ऐसे कुछ उदाहरण दिए गए हैं—

(अ) "उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व म पुजीभूत कर देता है।"[2]

(आ) 'जैसे, ब्रह्मा और उसकी कन्या की कहानी में······।"[3]

(इ) 'जिस प्रकार कोई धातु-शोधक उपलब्ध खनिज पदार्थों को स्वच्छ और शुद्ध करके हमारे सम्मुख रखता है······।"[4]

(ई) 'जिस प्रकार एक सुपुत्र अपने पिता से जन्म और पोषण पाकर उसकी सेवा और रक्षा करता है, उसी प्रकार······।"[5]

(उ) "उदाहरण के लिए आक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड से भरे किसी कमरे में अगर आप प्लेटीनम का एक तन्तु डाल दें तो वे दोनों तो सल्फर-एसिड म परिवर्तित हो जायेंगे—परन्तु प्लेटीनम के तन्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं आयेगा"।[6]

ऊपर दिए गए उदाहरणों में वैविध्य स्पष्ट है, जैसे कुछ उदाहरणों का स्रोत पौराणिक है, कुछ का ऐतिहासिक, कुछ का पारिवारिक और कुछ का दैनिक जीवन है। पर, जिस प्रकार शुक्ल जी जीवन के साथ घुल-मिलकर अपनी भावनाओं के अनुरूप और अपनी व्यग्य-वृत्ति के सतोष के लिए अधिक मुखर और विस्तृत उदाहरण चुनते थे, वह प्रवृत्ति नगेन्द्र जी में नहीं है। अपने विवेचन और विश्लेषण के क्षणों में उन्होंने जैसे किसी मूल को

---

१ डा० नगेन्द्र क सर्वश्रेष्ठ निबध, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० १६
२ विचार और विवेचन, पृ० ३२
३ विचार और अनुभूति, पृ० ७
४ विचार और विश्लेषण, पृ० १२
५ विचार और अनुभूति, पृ० ११
६ विचार और विवेचन, पृ० ६२

ही स्पष्ट करने की दृष्टि से एक उदाहरण पकड़ा और सूत्र-रूप से उसे विवेचन के साथ पिरो दिया। उदाहरणों के माध्यम से न किसी सामाजिक भावना को ही प्रकट किया गया है और न उन्हे विशद बनाने की चेष्टा ही मिलती है। कभी-कभी उदाहरणो मे शैली के अलकरण के माध्यम से काव्यात्मकता आ जाती है। किन्तु, ऐसे उदाहरण अत्यन्त विरल हैं—"जिस प्रकार नदी का उन्मद प्रवाह कुछ ककड पत्थरो को भी सहज रूप मे बहा ले जाता है उसी प्रकार उनकी स्फीत वाग्धारा मे दो-चार अनगढ शब्द अलक्षित ही बह जाते हैं।"[१] ऐसे जीवन्त उदाहरणों के अतिरिक्त उन्होने कुछ साहित्यिक उदाहरण और उद्धरण भी दिए हैं, किन्तु उनकी योजना में भी लेखक की वृत्ति रमती नहीं दीखती। केवल विषय के स्पष्टीकरण का उपयोगितावादी पक्ष दिखाई पड़ता है।

उदाहरणो के अतिरिक्त नगेन्द्र जी ने कुछ निबन्धो में अपने वैयक्तिक अनुभवो अथवा स्वानुभूत घटनाओ को भी नियोजित करने की चेष्टा की है। इससे शैली मे अवश्य ही कुछ निजीपन और सजीवता का समावेश हुआ है। नीचे इन निजी अनुभवो के कुछ उदाहरण दिये गये हैं—

(अ) "हमारे एक मित्र ने काफ़ी मनोयोग से अपनी प्रेमिका को पाने के लिए काव्य-रचना की, परन्तु आखिर उन्हे अदालत की कार्यवाही काव्य-रचना की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ी।"[२]

(आ) "कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपो के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य मे सामाजिक गुणो का विरोध करता हुआ अहवाद का पोषण करता हूँ।"[३]

(इ) "मैंने स्वय इस उपाय का व्यवहार करके देखा है और मुझे इससे बडा सतोष है। विद्यार्थी को उसकी रुचि के अनुकूल······।"[४]

(ई) "अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय मे पधारे थे। उन्होने बडे उत्साह के साथ······।"[५]

(उ) "एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुये मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस' कैसे लिखा जायेगा······।"[६]

(ऊ) "शैलेन्द्र मोहन जौहरी सैन्ट जॉन्स मे मेरे सहपाठी थे; उसमानिया यूनिवर्सिटी

१. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १५०
२. विचार और अनुभूति, पृ० ४
३. विचार और विवेचन, पृ० ५२
४. अनुसंधान और आलोचना, पृ० ८६
५. अनुसंधान और आलोचना, पृ० ८२
६. अनुसन्धान और आलोचना, पृ० ९१

मे छः वर्ष तक अंग्रेजी के अध्यापक रहने के बाद……पिछले से पिछले शनिवार की शाम को मेरे साथ थे।"[1]

(ए) "……अपने छात्र-जीवन की एक घटना याद आ गई जब हमारी महिला-प्राध्यापक ने 'सर' और 'मैडम' के बीच लडखडाते हुए हम लोगों को डाँट कर कहा था—ऐड्रैस मी ऐज सर।"[2]

(ऐ) "एक दिन सहसा अपराह्न मे राव साहब ने टेलीफोन कर मुझे बुलाया और कहा कि आपसे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और गोपनीय विषय पर परामर्श करना है।"[3]

इस प्रकार की स्थूल घटनाओ के उल्लेख से निबन्धो के वातावरण मे यथार्थता, निजीपन और सजीवता आ जाती है। नगेन्द्र जी ने कही-कही कुछ ऐसी स्थूल घटनाओं का भी उपयोग किया है, जो वातावरण को अधिक यथार्थता प्रदान करती है और पाठक को रिपोर्ताज का-सा आनन्द आने लगता है। उदाहरणस्वरूप 'केशवदास का आचार्यत्व' नामक निबन्ध कक्षा म दिये गये व्याख्यान की शैली मे लिखा गया है। कक्षा के वातावरण को सजीवता प्रदान करने मे इस प्रकार के अश सहायक रहे हैं—

(अ) 'सवा ग्यारह पर घटा बजा और मैं क्लास की ओर चल दिया। क्लास के बाहर पहुँचते ही मैंने देखा कि आशा स्याही से रगे हुए हाथो को धोने के लिये जा रही थी। मुझ देखकर ठिठक गई।……मैंने हाजिरी लेना शुरू किया, जिसके उत्तर मे 'यस सर' या 'यस प्लीज' की आवाजें आने लगी।"[4]

(आ) "व्याख्यान समाप्त करते-करते मस्तिष्क की अपेक्षा मेरा श्वास अधिक थक गया था। विद्यार्थियो की भी उँगलियाँ तो कम-से-कम थक ही गई थीं, कुछ की उँगलियाँ रग भी गई थी। एकाध की नाक पर भी टीका लग गया था। क्लास छोडकर बाहर आया तो देखा कि मिस गर्ग और डॉक्टर सिन्हा, दोनो क्षुब्ध-सी खडी हुई हैं।"[5]

नगेन्द्र जी के काव्यशास्त्रीय तथा गम्भीर निबन्धो मे सावधानी से खोज करने पर ही कुछ ऐसे स्थल मिलेंगे, जहाँ राग का उष्ण सस्पर्श हो अथवा व्यग्य और हास्य का हलका वातावरण। किसी विचार के अनुभूतिमूलक परीक्षण और आस्वादन के क्षण सभवत इतने घनीभूत हो जाते हैं कि व्यग्य या हास्य अथवा शैली का अलकरण एक प्रकार से रसाभास-सा लगने लगता है। इनमे मानसिक तारतम्य विरल नही होता है, अत भाषा-शैली भी गुम्फित हो जाती है। इसीलिए जिन भावों को स्थूल रूप से व्यक्तित्व के प्रकाशन मे सहायक माना जाता है, वे गम्भीर निबन्धो मे स्थान नही पाते। यदि कही कुछ छीटे मिलते भी हैं तो वे भी गम्भीर होते हैं, सतही नही। तुलसी के आलोचकों

१ विचार और विश्लेषण, पृ० ७८
२ वही, पृ० २३
३. अनुसधान और आलोचना, पृ० ११७
४ विचार और विश्लेषण, पृ० १२
५. वही, पृ० १५

तथा उनके भक्तो पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने 'तुलसी और नारी' नामक निबन्ध में कुछ व्यंग्योक्तियाँ की है। जैसे—

(अ) "तुलसी के यह सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही रहे हैं कि भारतीय परम्परा ने उन्हे लोकनायक महात्मा पहले और कवि बाद मे माना है।"[१]

(आ) "जब तुलसीदास के समर्थको और भक्तो ने उनके काव्य पर सामाजिक आचार-शास्त्र का आरोप किया तो स्वभावतः ही आधुनिक नारी की उद्बुद्ध चेतना ने सहृदयता के न्यायालय मे अपने प्रति न्याय की माँग की।"[२]

एक स्थान पर आचार्य केशवदास के आचार्यत्व पर व्यंग्य किया गया है। केशव ने सभी रसो की स्थिति शृंगार रस मे करने की चेष्टा की है। उनके इस प्रयत्न का तथ्य-कथन ही इस प्रकार किया गया है कि वह एक व्यंग्य बन गया है—"रौद्र मे एक ओर तो सखी द्वारा राधा के मान का निवारण है……दूसरी ओर रति-रण मे कृष्ण के रौद्र भाव का चित्रण है। इसी प्रकार भयानक मे भय का, राधा और कृष्ण पर, शृंगारपरक प्रभाव दिखाया गया है जिसके कारण *कामिनियाँ प्रिय के कंठ से लग जाती हैं।*"[३] व्यंग्य के उपर्युक्त उदाहरणो के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यंग्य उतना मुखर नही हो पाया है, जितना कि शुक्ल जी मे है। व्यंग्य की मात्रा भी बहुत ही कम है। पर, कुछ ऐसे भी निबंध है जिनमे व्यंग्य का विकसित तारुण्य दृष्टिगत होता है। इन पर आगे स्वतंत्र रूप से विचार किया गया है।

नगेन्द्र जी की आरम्भिक कृतियो मे उनका व्यंग्य-चातुर्य कुछ विशेष प्रकट हुआ है। प्रसाद जी के नाटकों के दोष बतलाते हुए उन्होने लिखा है कि "अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओ की गति-विधि सँभालना कठिन हो गया है, और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी को जबरदस्ती खिलाफ उठाना पड़ा है।"[४] यहाँ व्यंग्य के प्रभाव से भाषा भी कुछ चटुल हो गई है। गुप्त जी की वर्णन-शैली के विषय मे एक स्थान पर वे लिखते हैं: "वर्णन के शब्द एक दूसरे से कंधे से कंधा भिड़ाकर नहीं चल रहे। उनमे धक्का-मुक्की मची हुई है, वे इस समय 'डेवलप' कर रहे हैं। यह वेग बढ़ता ही जाता है, अन्त मे राम की मूर्छा के साथ वर्णन भी एक साथ क्षीण होकर गिर पड़ता है और उसको वांछित विराम मिल जाता है।"[५] इसीलिए श्री अमरनाथ जौहरी ने यह मत व्यक्त किया है—"नगेन्द्र मे व्यंग्यात्मक वाक्चातुर्य भी प्रचुर मात्रा में मिलेगा। किन्तु उनका व्यंग्य तीखा एवं कड़वा नहीं होता। अंग्रेजी लेखक डीन स्विफ्ट के समान वे बर्बरता से कटु शब्दो मे समाज एवं व्यक्तियो पर चोट नही करते। इसका स्पष्ट कारण यह है कि वे

१. विचार और विश्लेषण, पृ० ४३
२. वही, पृ० ४३
३. वही, पृ० २७
४. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १२
५. साकेत : एक अध्ययन, पृ० ११९-१२०

मुख्यत साहित्यिक चिंतक हैं, उनका क्षेत्र समाज-सुधार नही है। अपनी वाक्-विदग्धता से वे हृदय पर एक हल्की सी चोट करते है।"[१]

कुछ स्थलो पर डा० नगेन्द्र का कवि भी जागरूक हो उठा है और अपने अनुसार शैली का विधान करने मे लग गया है। इन स्थलो पर अलकरण की योजना और प्रसाद शैली की स्पृहणीय झाँकी मिल जाती है। ये स्थल बहुधा तब आते हैं जब उनके विचारक के सम्मुख कोई कवि अपनी काव्य-सम्पदा का प्रतिनिधित्व करते हुए आ उपस्थित होता है। उस समय उस कवि की भाषा और उसकी शैली भी नगेन्द्र जी की अनुभूति के विषय के अन्तर्गत आ जाती है। परिणामत वही शैली और शब्दावली लेखक के प्रभाव की अभिव्यक्ति मे नियोजित हो जाती है। उदाहरणार्थ उनके सामने प्रसाद का व्यक्तित्व आया और भावात्मक शैली उनकी रूपरेखा प्रस्तुत करने मे लग गई—"शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरगो को दबाकर धूप मे मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश, जो झझा और विद्युत् को हृदय म समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।"[२]

इस उद्धरण मे शैली और शब्दावली नाटककार प्रसाद की है। लेखक ने उसका उपयोग करके इस भावात्मक चित्र को अधिक व्यजक बना दिया। उनकी शब्दावली का प्रयोग करके आगे लेखक ने लिखा है—"कोलाहल की अवनी तजकर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम स्थल की खोज करत होंगे, उस समय यह रगीन अतीत उन्ह सचमुच बडे वेग से आकर्षित करता होगा।"[३]

कहने की आवश्यकता नही कि इस वाक्य में 'ले चल मुझे भुलावा देकर' वाले गीत का स्वर गूँज रहा है। पत जी का व्यक्तित्व भी लेखक को बडे वेग से प्रभावित करता आ रहा था। पत जी के साहित्य का समग्र प्रभाव, उनकी विशिष्ट शैली और शब्दावली के साथ, नगेन्द्र जी की वीणा मे झकृत होने लगता है—'पत जी के ज्योति-स्पर्श से रेडियो का वायु-मडल एक स्निग्ध-स्वर्णिम प्रकाश से दीपित हो उठा।"[४] पत जी का एक और भावात्मक चित्र द्रष्टव्य है—"मैं कई वर्ष बाद पत जी से मिला था, वही सौम्य-स्निग्ध दृष्टि—कुछ चकित-सी, परिचित वेश-भूषा से मुक्त रमणीय कवि-रूप, ऐसा लगता था जैसे कैशोर्य यौवन के द्वार से ही लौटकर प्रौढि मे प्रवेश कर चुका हो।"[५]

महादेवी वर्मा से भी नगेन्द्र जी प्रभावित हैं।[६] अत यह स्वाभाविक है कि उनका चित्राकन करने मे भी लेखक कुछ भावुक हो जाय। महादेवी वर्मा की नगेन्द्र जी के द्वारा पुर्नियोजित शैली और भाषा मे महादेवी का चित्र सुन्दर बन पडा है—"आज

१. हिन्दी के आलोचक (स० शचीरानी गुर्टू), पृ० २१४
२. विचार और अनुभूति, पृ० ३६
३. विचार और अनुभूति, पृ० ३७
४. अनुसधान और आलोचना, पृ० १२२
५. वही, पृ० ११८
६. "महादेवी की कविता के रसभीने रगों और उनके व्यक्तित्व एव वेश भूषा की सादगी के बीच सामजस्य स्थापित कर चुका था।"—डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबध, पृ० १४६

छ सात वर्षों के बाद महादेवी जी के साधना-मंदिर का द्वार खुला है और करुणा के स्नेह में जलती हुई इस दीपक की लौ को अब भी एकाकीपन में तन्मय और विश्वास में मुस्कराती हुई देखकर हिन्दी के विद्यार्थी का सशंक मन उत्फुल्ल हो उठा है।"[१]

गिरिजाकुमार माथुर के सम्बन्ध में लिखते हुए उनके सामने 'मेरा तन भूखा, मेरा मन भूखा' का छायावादी स्वर तथा रहस्यमय लोक की झाँकी मुखरित हो उठी—"यह शृंगार न तो भूखे तन और भूखे मन का आहार है और न किसी अदृश्य आलम्बन के साथ कल्पना-विहार है।"[२] इस प्रकार अधिकाशत. उन व्यक्तियों का कथन करते समय लेखक विशेष भावुक हो जाता है, जिनसे उसका निजी भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। इन स्थलों पर शैली भी रंगीन हो उठती है। गम्भीर शास्त्रीय निबन्धों में ऐसे सरस और प्रसन्न स्थल प्राय: नहीं मिलते हैं।

व्यक्तियों के अतिरिक्त निबन्धों में जहाँ कहीं काव्य के उद्धरण दिये गये हैं, वहाँ भी शैली कुछ काव्यात्मक हो गई है। इस सम्बन्ध में श्री नारायणप्रसाद चौबे का मत इस प्रकार है. "अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों में जहाँ भी काव्य-उद्धरणों द्वारा नगेन्द्र ने अपने मत की पुष्टि एव स्थापना की है, वहाँ उनकी काव्य-प्रतिभा उभर आई है।"[३]

नगेन्द्र जी के कुछ विशिष्ट शैलीवाले निबन्ध

कुछ निबन्धों में नगेन्द्र जी स्वयं एक शैलीगत खिलवाड़ और मनमौजी वृत्ति को लेकर चले हैं। इन निबन्धों में 'केशव का आचार्यत्व', कहानी और रेखाचित्र', 'हिन्दी उपन्यास', 'यौवन के द्वार पर' तथा 'वाणी के न्याय मन्दिर में' आते हैं। इन निबन्धों में विषयवस्तु को विवेचन तो मिला है, और उस विवेचन मे गाम्भीर्य भी है, पर एक ऐसा वातावरण उस विवेचन के लिये प्रस्तुत किया गया है कि सब कुछ एक व्यंग्य बनकर रह गया है। वातावरण प्रस्तुत करने के लिये कुछ रेखाचित्र भी सलग्न कर दिये गये है, जिससे व्यंग्य को स्थानीयता और वैयक्तिक यथार्थता प्राप्त हो जाती है। वातावरण मुख्यतः कक्षा का, गोष्ठी का अथवा न्यायालय का है। इसी कारण कुछ नाटकीयता भी आ जाती है। गोष्ठी के वातावरण में अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता और विचार-प्रदर्शन की स्वतन्त्रता रहती है। ऐसे निबन्धों में नगेन्द्र जी सीधे-सीधे कोई बात कहते नहीं दीखते, उनकी दृष्टि एक 'फन' उपस्थित करने की ओर भी रहती है। ऐसा लगता है मानो कोई कल्पनाशील शिल्पी ताजमहल-जैसी गम्भीर इमारतें बनाकर श्रम-मोचन के लिए शीशमहल की रचना करने लगा हो। यहाँ पर उनका विश्लेषणशील मन विश्लेषण-व्याख्यान तो करता है, पर अपनी ही सुगंध मे मुग्ध मृग की भाँति स्थिर न रहकर चचलता की चौकड़ियाँ भरता है। ये निबंध नगेन्द्र जी के निबंध-साहित्य में कम होते हुये भी पर्याप्त वैविध्य प्रस्तुत कर देते हैं। उनमे विचारधारा वैयक्तिक होते हुये भी सामूहिक अथवा सामाजिक रूप धारण कर लेती है। उनमें व्यंग्य इतना निखरा है कि गम्भीर निबंधों में खटकनेवाले इसके अभाव की भी पूर्ति हो जाती है।

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० १२१

२. अनुसन्धान और आलोचना, पृ० १२७

३. डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त, पृ० ८

कुछ उदाहरणो से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। ऊपर केशवदास पर किये गये व्यग्य का उदाहरण दिया गया है। अन्य निबधो से भी कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'कहानी और रेखाचित्र' मे साहित्यिक गोष्ठियो पर व्यग्य करते हुए एक स्थान पर लिखा गया है—

'*पिछली बार मैंने कान्ता से पूछा था कि दिल्ली मे साहित्यिक जीवन कैसा है,* तो उसने कहा था कि साहित्यकार तो यहाँ बुरे नही हैं, लेकिन साहित्यिक जीवन कोई खास नही है। ले-देकर शनिवार-समाज है, उसमे भी तू-तू मैं मैं या हा-हा ही-ही रहती है।"[1]

इस कथन मे दिल्ली के साहित्यिक जीवन पर एक करारी चोट दिखाई देती है। साथ ही इस प्रसग मे अग्रेजी के वाक्याशो और अग्रेजी शब्दो द्वारा वातावरण को एक नाटकीय यथार्थता प्रदान की गई है। इस गोष्ठी नाटक मे कई व्यक्ति नाटकीय पात्रो के रूप मे उपस्थित हैं। 'हिन्दी उपन्यास' शीर्षक निबन्ध स्वप्न कथा के रूप मे लिखित है। उपन्यासकारो की यह भी एक गोष्ठी है, जिसमे लेखक सूत्रधार की भाँति पृष्ठभूमि मे रहता है और उपन्यासकार आकर स्वय अपने विचार व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द जी से कुछ वाक्य कहलवाये गए हैं, जो देवकीनन्दन खत्री के प्रति व्यग्यरूप हैं—"मेरा उद्देश्य केवल मनोरजन करना नही है—वह तो भाटो और मदारियो, विदूषको और मसखरों का ·· ···(सहसा बाबू देवकीनन्दन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहाका मारकर हँसते हुए)—आशा है आप मेरा मतलब गलत नही समझ रहे हैं।"[2] जैनेन्द्र जी पर उग्रजी के द्वारा यह व्यग्य कराया गया है—"जिनके आत्मरूप नायक अवसर आते ही नपुसक बन जाते है, उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है?"[3] इस प्रकार परस्पर व्यग्यमय कथोपकथन चलता रहता है। व्यग्य की इस विरल बौछार के पश्चात् आकाश स्वच्छ हो जाता है, पाठक के मस्तिष्क मे सभी प्रमुख उपन्यासकारो का मत और रूप स्पष्ट हो जाता है।

'वाणी के न्याय मदिर मे' और 'यौवन के द्वार पर' दोनो ही निबध न्यायालय के वातावरण को लिए हैं। प्रत्येक कलाकार और साहित्यिक अपनी कृतियो और अपने प्रतिपादित विचारो के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी होता है। समाज का यह अधिकार है कि वह अपने कलाकारो से कुछ पृच्छायें कर सके। 'वाणी के न्याय मदिर मे' का वातावरण बहुत ही नाटकीय कर दिया गया है। इस निबन्ध का आरम्भ इन सूचनाओ से किया गया है :

स्थान

काव्य-लोक जिसका प्रचलित नाम ब्रह्मलोक भी है।

पात्र

ज्ञानशकर	प्रेमाश्रम का नायक	वादी
प्रेमचन्द	प्रेमाश्रम के रचयिता	प्रतिवादी
मनोहर	प्रेमाश्रम का पात्र	

---

१ विचार और विश्लेषण, पृ० ७८

२. विचार और अनुभूति, पृ० १८

३ वही, पृ० २०

भगवती वीणापाणि—काव्य-लोक की अधिष्ठात्री न्यायालयाध्यक्षा, न्याय-मंत्री, महाप्रतिहार आदि।[1]

इसमें 'प्रेमाश्रम' के एक प्रमुख पात्र ज्ञानशंकर ने प्रेमचन्द जी पर कुछ अभियोग लगाए हैं। इन अभियोगों की भाषा बडी व्यग्यपूर्ण है। जैसे—"......वे यथार्थवादी कलाकार होने का दम्भ करते हुए भी भयकर आदर्शवादी—अथवा यो कहे कि आदर्श-भीरु—है।"[2] तथा "वे बार-बार कलाकार के उच्च गौरव को भूलकर प्रचार के निम्न धरातल पर उतर आते हैं और एक सामान्य मचवीर की तरह प्रोपैगैण्डा करने लगते है।"[3] इस प्रकार प्रेमचन्द जी के उपन्यास साहित्य पर जो दोषारोपण किये जाते है, उनको व्यग्य-पूर्ण शैली मे प्रस्तुत किया गया है और प्रेमचन्द जी के उत्तरो मे उनके निराकरण के सम्बन्ध मे तर्क दिए गये हैं।

'यौवन के द्वार पर' सभा की शैली मे लिखा हुआ निबन्ध है, जिसमे प्रेमचन्द के कृतित्व की समीक्षा की गई है। 'वाणी के न्याय मदिर मे' दिनकर, अचल और नरेन्द्र शर्मा के काव्य की विवेचना सोहनलाल द्विवेदी को प्रतिवादी के रूप मे प्रस्तुत करके की गई है। न्यायालय के वातावरण को लेकर लिखे गए इस निबध का समस्त वातावरण हास्य और व्यग्य से परिपूर्ण है। आधुनिक कवियो पर पुराने आलोचको की खीझ इस प्रकार व्यक्त की गई है—"इस पर वहाँ उपस्थित अनेक वयोवृद्ध लेखक आगबबूला हो गये—इन कल के लौंडो ने अन्धेर मचा रखा है, एक तो हिन्दी-साहित्य की यह दशा कर दी और फिर दूसरो पर विश्वास नही करते।"[4] इन कवियो को जब यह छूट दी गई कि वे अपने पक्ष-समर्थन के लिए अपने-अपने आलोचक चुन लें, तो उनके चुनाव पर लेखक ने व्यग्य की मीठी चुटकियाँ ली हैं। दिनकर ने पडित बनारसीदास चतुर्वेदी को नही चुना, इस पर लेखक ने व्यग्यात्मक टिप्पणी जोडी—"इस लेखक ने पडित बनारसीदास चतुर्वेदी-जैसे अभिभावक को—जिन्होने 'रेणुका' को हिन्दी कविता के मूर्धन्य पर आसीन करने के लिए भागीरथ प्रयत्न तो नही (क्योकि वह तो सफल हो गया था) परन्तु गाँधी-प्रयत्न अवश्य किया था—क्यो नही साथ लिया।"[5]

इस प्रकार के उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व मे हास्य और व्यग्य का अभाव नही है। युग के प्रायः समस्त प्रमुख लेखको, कवियों और उपन्यास-कारो पर व्यग्य-वर्षा करने के लिये वे कटिबद्ध हो ही गये और एतदर्थ इन विशिष्ट शैली के निबन्धो की सृष्टि कर डाली। इस प्रकार के निबध मे आया हुआ व्यग्य निर्दोष और अहिंसावादी कहा जा सकता है। उनका उद्देश्य यह नही कि इससे किसी के मन को पीड़ा पहुँचे या किसी के दुर्बल पक्षो का उद्घाटन किया जाये। अपने इन व्यग्यो के सम्बन्ध में

१. वही, पृ० ११०
२. वही, पृ० १११
३. विचार और अनुभूति, पृ० १११
४. वही, पृ० ७२
५. वही, पृ० ७४

स्वयं नगेन्द्र जी लिखते हैं—"इस लेख के पूर्वार्द्ध में मेरी लेखनी से मौज में आकर निरुद्देश्य ही कुछ छींटे पड़ गए हैं। ये छींटे फ्लेपपलीन के छींटों की तरह सर्वथा निर्दोष हैं, इसलिए मुझे इनके लिए कोई सफाई नहीं देनी। फिर भी यदि इनमें किसी का मन मैला होता है तो उसमें मैं अपने को दोषी न मान सकूँगा।"[१] सम्भवत नगेन्द्र जी शैली के मिश्रित आनन्द के पक्षपाती अधिक नहीं हैं। इसलिए उनके गम्भीर निबन्धों मे शुद्ध सात्विक गाम्भीर्य का ही आनन्द प्राप्त होता है। जहाँ व्यंग्यात्मक शैली है, वहाँ विषय की गम्भीरता शैली के ऊपरी स्तर पर नहीं आ पाती और शुद्ध व्यंग्य का वातावरण प्रस्तुत किया जाता है। नगेन्द्र जी के विशुद्ध वैयक्तिक और संस्मरणात्मक निबन्ध भी पर्याप्त सजीव हैं। इनमें 'दादा स्व० प० बालकृष्ण शर्मा नवीन,' 'बीबी एक संस्मरण', 'पंत जी का रेडियो मे आगमन' तथा मेरा व्यवसाय और साहित्य सृजन' आते हैं। बालकृष्ण शर्मा नवीन और बीबी होमवती देवी के संस्मरण मे करुणाविगलित वातावरण और आँसुओं से गीले क्षणों का सरल और मार्मिक शैली के साथ अनुपम संयोग हुआ है। प्रभाव की दृष्टि से ये दोनों ही संस्मरण तीव्र और तीखे हैं। नगेन्द्र जी का मन अपने वैयक्तिक रागात्मक सम्बन्धों के दैवी विच्छेद से संतप्त होकर जैसे बीती हुई घड़ियों की स्मृतियों के साथ संसार से आहत हो गया हो और कुछ लिखने के लिए एक मानसिक तनाव के आग्रह से विवश हो गया हो—कुछ ऐसा अनुभव इन संस्मरणों को पढ़ने से होता है। फलत शैली भी कुछ अधिक भावाभिव्यंजक हो गई है। इसकी भाव-व्यंजकता भाषा के माध्यम से उतनी व्यक्त नहीं है, जितनी परिस्थितियों के यथार्थ आकलन और संयोजन से स्पष्ट है।

डा० नगेन्द्र ने साहित्यकारों के साथ होनेवाले अपने सम्पर्क-सम्बन्ध का विश्लेषण इस प्रकार किया है · "कालातर में प्रसाद और प्रेमचन्द को छोड़कर इस युग के प्राय सभी मूर्धन्य लेखकों से परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मेरे साहित्यिक सम्बन्ध क्रमश दो वर्गों मे विभक्त हो गये। पहला वर्ग तो ऐसे लेखकों का है जिनके साथ मेरा कवि-सहृदय-सम्बन्ध ही अधिक है—इस सम्बन्ध मे संसर्गजन्य सहज आत्मीय भाव की अपेक्षा बुद्धि और कल्पना से संस्पृष्ट एक प्रकार की अप्रत्यक्ष श्रद्धा ही रहती है। दूसरे वर्ग के कवि-लेखकों के साथ साहचर्य का भी सुयोग मिलने से कल्पना-तत्त्व क्षीण और भाव-तत्त्व अनायास ही प्रगाढ़ हो गया है।"[२] नवीन जी और बीबी दोनों ही इस दूसरे वर्ग में आते हैं। ये दोनों ही शुद्ध संस्मरण शैली मे लिखे हुए निबन्ध हैं, जिनका सम्बन्ध भाव की गहराइयों से है। इन संस्मरणों में रेखाचित्र की शैली मिलकर एक गहरा प्रभाव उत्पन्न कर देती है। नवीन जी का एक चित्र देखिये—"उनके शुभ्र अलक-जाल की सँवारी हुई बंकिमा जहाँ इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरति की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं हैं वहाँ उनका घुटनों तक का जाँघिया इस रहस्य का उद्‌घाटन कर रहा था कि अतत जीत उनके फक्कड़पन की ही होती है।"[३]

१. विचार और अनुभूति, पृ० ८४

२. अनुसंधान और आलोचना, पृ० १०७

३. वही, पृ० १०६-११०

इस धूप-छाँही चित्र मे स्थूल तथ्यों तथा लेखक पर तज्जन्य प्रभावों का अविरल संयोग है। इस चित्र मे गति कम है, प्रभाव का उभार अधिक है। उन्होने नवीन जी का एक गतिशील चित्र भी खीचा है—

"काव्य-पाठ करते समय उनका व्यक्तित्व एक विशेष रस-दीप्ति से मडित हो उठता था। उनका स्वर-सधान जहाँ हृदय के कवित्व का बाहर की ओर सम्प्रेषण करता था, वहाँ अर्धनिमीलित आँखें उस वहिर्गत रस को फिर से प्राणों की ओर खीचने का *प्रयास-सा करती थी।*"[1]

इसके चौदह वर्ष बाद डा० नगेन्द्र जी द्वारा *एक नवीन टेंगिल से* नवीन जी का एक और चित्र इस प्रकार खींचा गया. *यही चित्र उनकी महायात्रा से पूर्व का चित्र है।* देखिए—"वेश आदि भी उनका वही चिर-परिचित था: शरीर पर सुन्दर सिली हुई शेरवानी और सिर पर वही, बकिमा के साथ धारण की हुई, गाँधी टोपी जिसमे से दोनों ओर उनके शुभ्र-केश-गुच्छ अलग दिखाई दे रहे थे। वे सामान्यत. प्रसन्न थे फिर भी *लगता था मानो उनकी आत्मा का चैतन्य प्रकाश विलीन हो गया है*—उस पुरुष शरीर की रूपरेखा तो पूर्ववत् स्पष्ट थी किन्तु *रग जैसे रीत चुका था। उनकी वह तेजोदीप्त* दृष्टि अतर्मुख हो गई थी और मन के भावों की निखिल व्यजना केवल 'हरे राम' मे सिमटकर रह गई थी।"[2]

इस चित्र मे जीवन का अन्तिम छोर मृत्यु की निविडता मे उलझा हुआ दिखाई पड़ रहा है। मृत्यु-पूर्व अभिनन्दन की योजना के वातावरण मे सम्भावित मृत्यु से उत्पन्न करुणा भर उठी थी। इस प्रभाव को और गहरा बनाने के लिए नगेन्द्र जी ने अभिनन्दन *के समय के वातावरण का यह करुण चित्र अकित किया है*—"*कवि दिनकर ने अभिनन्दन-*पत्र पढ़ा······जिस समय वे अभिनन्दन-पत्र समर्पित कर चरणस्पर्श के लिए झुके, नवीन जी की अवरुद्ध भावुकता सहसा द्रवीभूत हो गई। इस घटना का प्रभाव दुर्निवार था—सभी की आँखें छलछला उठी: दद्दा—श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने आपको न सँभाल सके, अन्य वरिष्ठ जन भी विचलित हो उठे।"[3]

बीवी होमवती-विषयक संस्मरण में भी इसी प्रकार भावात्मक प्रस्तावना, एकाध रेखाचित्र तथा स्मृतियों के अनन्त भण्डार मे से चुनी हुई कुछ स्मृतियाँ तथा भावपूर्ण कथन *एक करुण ततु मे गुम्फित मिलते हैं।*[4] *इन दोनों सस्मरणों की शैली एक विशेष* निजीपन के साथ संयोजित है और प्रभाव की दृष्टि से अद्वितीय है। 'पत जी का रेडियो मे आगमन' भी एक सस्मरण ही है। इसका उद्देश्य पत जी के व्यक्तित्व को एक नई यथार्थ स्थिति में रखकर देखना है। पर इसमे स्थितियो का क्रम-नियोजन रिपोर्ताज का-सा स्वाद देता है। पत जी जैसे स्वच्छदमना कवि की नौकरी के प्रस्ताव के

१. अनुसन्धान और आलोचना, पृ० ११०
२. वही, पृ० १११-११२
३. वही, पृ० ११२
४. देखिए 'विचार और विश्लेषण', पृ० ११५-१२०

प्रति क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, यह जिज्ञासा ही लेखक के मन में भर उठी है—"मैं शायद पंत जी के जीवन में पहली बार नौकरी का प्रस्ताव करने जा रहा था। उसके औचित्य पर मुझे सन्देह होने लगा मानो मैं कोई अभद्रता कर रहा हूँ।"[1] प्रस्ताव के पश्चात् लेखक उनकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा में आतुर था। इसके पश्चात् पन्त जी की स्वीकृति तथा रेडियो स्टेशन के वातावरण से उनके स्थूल परिचय की संक्षिप्त कथा है। पंत जी के आगमन से लेखक को जो उल्लास हुआ वह अन्त में इन शब्दों में *व्यक्त हुआ है— 'पंत जी के ज्योति-स्पर्श से रेडियो का वायुमंडल एक स्निग्ध स्वर्णिम* प्रकाश से दीपित हो उठा।"[2]

'मेरा व्यवसाय और साहित्य सृजन' नामक निबन्ध शैली की दृष्टि से आत्म-कथात्मक कहा जायेगा। इसमें लेखक ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्व की साहित्य-वृत्ति और व्यवसाय-वृत्ति के संघर्ष को कुछ व्यापक संकेतों के साथ चित्रित किया है। अपनी आनन्दवादी वृत्ति की व्याकुलता का चित्रण करते हुये उन्होंने विश्वविद्यालय में आने पर एक अनुपम भावात्मक सुख का अनुभव किया। इस अनुभव को भावात्मक शैली में लेखक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"मुझे लगा कि भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे 'मोटे खनिज तेल' और 'रासायनिक खाद' की उस दुनिया से कामायनी के इस *'आनन्दलोक' में आ गया हूँ' ···मेरे मन पर लगी हुई दफ्तरी मशीन की वह कालोंच अपने-* आप ही बह गई।"[3] इस उद्धरण की अलंकृत और भावात्मक शैली से स्पष्ट हो जाता है कि भावुकता के क्षणों में नगेन्द्र जी अपनी शैली पर लगे हुए बौद्धिक नियंत्रण के प्रति विद्रोही हो उठते हैं। अलंकृत शैली में ही अपने रेडियो जीवन के विक्षोभ को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—"उस समय काली पंक्तियों से अंकित सफेद कागज की ये धज्जियाँ केंचुल-वेष्टित सर्पों के समान फुफकारने लगती थीं।"[4]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि उनके विशिष्ट या मिश्रित शैलीवाले निबंधों की शैली विशेष भाव-प्रवण, चित्रात्मक, यथार्थ, अनायासित और कभी-कभी अलंकृत है। इस शैली में लिखे गये निबन्धों की चर्चा अधूरी ही रहेगी, यदि 'साहित्य की प्रेरणा' और 'कवीन्द्र के प्रति' लेखों पर सामान्यत विचार न कर लिया जाय। 'कवीन्द्र के प्रति' नामक लेख अभिनन्दन-पत्र की शैली में लिखा हुआ है। नगेन्द्र जी ने स्वयं इसे एक 'प्रशस्ति' कहा है और अभिनन्दन भी प्रशंसितमूलक ही होता है। इसमें 'तुम' या 'तुम्हारा' साधारण मध्यम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग हुआ है, जिसमें लेखक 'आप' शब्द से उत्पन्न अभिनंदनीय के साथ वाली दूरी से मुक्त होकर सामीप्य का अनुभव करता है। प्रत्येक परिच्छेद का आरम्भ एक भावगर्भित विशेषण से हुआ है। ये विशेषण ही सम्बोधन बनकर परिच्छेद को शेष पंक्तियों का नियंत्रण करते हैं। विशेषण इस प्रकार हैं 'कवि गुरो!' 'सत्य द्रष्टा!' 'शिवसंकल्प!' 'युग पुरुष!' 'भारतीय जागरण के अग्रदूत!' आदि। समस्त

---

१. अनुसंधान और आलोचना, पृ० ११८

२. वही, पृ० १२२

३. विचार और विश्लेषण, पृ० १११

४ वही, पृ० ११०

शैली काव्यमय और भावसिक्त है। निम्नलिखित पंक्तियों को लिखते समय जैसे लेखक की भाव-धारा किनारों को डुबोकर बहने लगी—

"तुम प्राची के आँगन मे बाल-रवि के समान उदित हुए, तुम्हारी प्रखर किरणों ने भारत के जड़ीभूत अन्धकार को विदीर्ण कर दिया—ज्यों-ज्यों तुम अपना स्वर ऊँचा करते गये, हमारे रूढि-बधन शिथिल होते गये। हमारे जागरण का इतिहास तुम्हारे ही विकास का तो इतिहास है।"[1]

अपने स्वभाव के अनुसार नगेन्द्र जी ने रवीन्द्र के शब्दो का प्रयोग करके भी कुछ भावपूर्ण पंक्तियाँ लिखी हैं—"रक्तवर्ण मेघों मे शताब्दियो के सूर्य अस्त हो गये हैं, जब हिंसा के उत्सव मे अस्त्रों की झकार के साथ-ही-साथ मृत्यु की भयकर उन्माद-रागिनी बज रही है, जब भद्रवेशिनी बर्बरता पक-शय्या से जगकर उठी है, जब कवियो का स्वर श्मशान-श्वानो के छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है, हे विश्व-शांति के गायक, तुम्हारे स्वर सदा के लिये मौन है।"[2]

इन पंक्तियो मे करुणा का उद्रेक इतना अविरल और अनाविल है कि पाठक का मन करुण रस मे स्नात हो जाता है। इस प्रकार भावुकता की शैली-रचना मे नगेन्द्र जी के अतस्थ कवि की अपनी भी चमत्कृति है। साथ ही उसकी कल्पना-शक्ति विवेच्य व्यक्ति की शब्दावली भी उधार ले लेती है।

'साहित्य की प्रेरणा' का वातावरण अत्यन्त भावात्मक है। इसका आरम्भ एक प्रश्न से हुआ है: पर यह प्रश्न सामान्य नही, एक 'रस-विमुग्ध सुन्दरी' का कवि से उसके ही अन्तर्मन के सम्बन्ध मे प्रश्न है। इसके पश्चात् कवि के मुखरित मौन के द्वारा उत्तर दिलाने की चेष्टा की गई है। वही प्रश्न फिर आचार्य से किया गया है। आचार्य और कवि की भाषा का अन्तर, दोनो की विवेचन-शैली का अन्तर बन जाता है। कवि के उत्तर की भाषा यह है—"मेरे मन के गहन स्तरो मे सोई हुई वासना-रूप पीड़ा एक साथ द्रवित होकर आँखो मे आ गई—मेरी कविता के स्फुरण की ठीक यही कहानी है। सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के सचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है······अभाव की पीड़ा मे जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है तभी मेरे मानस से कविता की उद्भूति होती है।"[3], शेष निबन्ध आचार्य-कथन से ही पूर्ण है। बीच-बीच मे सुन्दरी के सतोष की विज्ञप्ति होती रही है। अन्त मे निष्कर्ष लेखक ने अपने दिये हैं।

इन विशिष्ट प्रकार के निबन्धों की शैली के सम्बन्ध में श्री भारतभूषण अग्रवाल के मत को देकर चर्चा को समाप्त किया जाता है—"इन निबन्धो में हमें एक प्रसन्न प्रवाह के साथ-साथ घटनाओ, कथोपकथनों और मुद्राकनों के भी पुट मिलते हैं। अपने आलोचनात्मक निबन्धों मे विषय के प्रति सतुलन बनाने के लिए नगेन्द्र जी जिस तटस्थता का प्रयोग

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० २
२. वही, पृ० २
३. विचार और अनुभूति, पृ० ३

करते हैं उससे इन निबन्धों का विवर्तन प्रफुल्ल विस्मय प्रदान करता है। इसलिए इन निबन्धों की भाषा भी अपेक्षाकृत हलकी और कलकलमयी हो जाती है।"[1]

नगेन्द्र जी की निबन्ध-शैली की प्रमुख विशेषताएँ

नगेन्द्र जी उन निबन्ध लेखकों में से है जो शैली के निबन्धन को विषय-वस्तु के प्रतिपादन की भांति महत्त्वपूर्ण मानते है। "अधिकांश निबन्ध लेखक निबन्ध-रचना को सरल समझकर उसके रूप और प्रकार पर विशेष ध्यान नहीं देते। पर नगेन्द्र जी के साथ यह बात नहीं है। वे निबन्ध रचना में उतनी ही सावधानी और श्रम बरतते है जितना कुशल कवि अपनी कविता की रचना में।"[2] निबन्ध के प्रति नगेन्द्र जी का वस्तुत एक कलात्मक दृष्टिकोण है। वे अपने निबन्ध की सुगठु काया में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं सह सकते। इसलिए वे अपने निबन्धों को मात्र विचारात्मक या आलोचनात्मक कहने को तैयार नहीं है। विचारात्मक होते हुए भी शैली की दृष्टि से ये निबन्ध उनकी कलात्मक कृतियाँ हैं।

नगेन्द्र जी के निबन्धों में सृजन तत्त्व पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। सृजन और रचना की प्रक्रिया के मिश्रण ने उनकी निबन्ध-शैली को अनुपम बना दिया है। उन्होंने सृजन और रचना का तात्त्विक अन्तर इस प्रकार किया है—'रचना अथवा निर्माण एक योजनाबद्ध बुद्धिसम्मत प्रक्रिया है जिसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है, सृजन आत्म-साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है जिसमें वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। निर्माण का लक्ष्य है कल्याण, सृजन का लक्ष्य है आनन्द।"[3] नगेन्द्र जी ने केवल कल्याण के लक्ष्य में रचना की होती, तो उनकी शैली में कलात्मक तत्त्व कम रहते। निबन्ध शैली में कलात्मक तत्त्वों का बाहुल्य, उनकी सृजन-वृत्ति और आनन्दवादी दृष्टि का परिचायक है। इस सृजन की प्रक्रिया के कारण ही नगेन्द्र जी की लेखन-गति अत्यन्त मथर है। एक वाक्य या कुछ वाक्यों के समूह की रचना करने के पश्चात् लेखक मानो यह अनुभव करता है कि कविता का एक सुन्दर छन्द बन गया।

निबन्ध की एक परिभाषा यह दी जाती है—"निबन्धनातीति निबन्ध।"[4] पहले की परिभाषाओं को यदि छोड दिया जाय तो शैली की विशदता को निबन्ध का एक आवश्यक अंग पाश्चात्य जगत में भी जाना जाता है।[5] इस प्रकार वहाँ भी प्रौढ और परिमार्जित

---

१ डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध, पृ० १६

२ डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १६

३ विचार और विश्लेषण, पृ० १०६

४. राजा राधाकान्तदेव बहादुरेण विरचित 'शब्द कल्पद्रुम', द्वितीय खड, पृ० ८८४

५. "An Essay is a composition of moderate trends on any particular subject or branch of a subject originally implying want of finish but now said of a composition more or less elaborate in style though limited in range"

—The New Oxford English Dictionary, Vol III, P. 293.

शैली को निबन्ध मे महत्त्वपूर्ण माना गया है। नगेन्द्र जी में शैली की यह प्रौढता सम्भवतः सभी हिन्दी-लेखकों से उन्हें पृथक् करती है। निबन्धकार प्रतिपाद्य का पहले सांगोपांग मनन और चिन्तन करता है। उसका विश्लेषणशील मन एक-एक तन्तु को वैज्ञानिक की भाँति निरखता-परखता है और विषय का अनुभूतिपरक भावन उसे समग्र रूप प्रदान करता है। रचना मे यही समग्र रूप प्रकट होता है। रचना की प्रत्येक स्थिति को लेखक की कल्पना-शक्ति सयमित और सतुलित रखती है। जब तक इन समस्त स्थितियो के अस्फुट और बेडौल अग कॅट-छॅट नही जाते तब तक एक कुशल शिल्पी की भाँति नगेन्द्र जी को सन्तोष नही होता। उनकी आनन्दवादी वृत्ति की चरम परिणति रचना के सुष्ठु और सतुलित रूप मे ही होती है। अनावश्यक विस्तार या असगत कथन बीन-बीनकर अलग कर दिये जाते हैं। फलत: अर्थगर्भित शब्दो मे मुक्त, सुनिश्चित और सूत्र-वृत्त के आधार पर रचे गए वाक्य एक-दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं। इससे उनकी निबन्ध-रचना सुगठित हो गई है। "निबन्धो का यह कसाव और यह सर्वांगता डा० नगेन्द्र जी की निबन्ध-कला की प्रमुख विशेषता है।"[1]

शैली की शिथिलता का एक कारण लम्बे वाक्यो की रचना भी है। नगेन्द्र जी यथासम्भव लम्बे वाक्यो से बचते हैं। उनका क्रम बहुधा यह रहता है कि विषय-प्रतिपादन या किसी विचारांश के उत्थापन मे कुछ छोटे-छोटे वाक्य आ जाते हैं, फिर एक या दो बडे वाक्यों मे दो-तीन छोटे वाक्यों मे आये हुए विषय की सटीक और सक्षिप्त व्याख्या की जाती है। फिर भी, अधिकांश वाक्य सयोजको से युक्त होकर, सयुक्त वाक्य प्राय. नही बनते। केवल वाक्य मे पदो की सख्या बढ जाती है। इस प्रकार विवेचन के क्षणो मे भी सयुक्त वाक्यो की दीर्घता न होने से शैली की कसावट मे अन्तर नही आता। मानसिक प्रक्रिया की सघनता ही शैली की सम्बद्धता मे प्रतिबिम्बित होती रहती है।

शैली का दूसरा गुण उसकी पारदर्शिता है। जिस प्रकार स्फटिक-शिला के नीचे प्रवाहित अन्तर्धारा स्पष्ट दीखती है, उसी प्रकार शैली की स्वच्छन्दता मे होकर विचारधारा की प्रवाहाकुल लहरियाँ स्पष्ट परिलक्षित होती है। शैली की इस पारदर्शिता का कारण लेखक के मन की निष्कलक कान्ति है। भ्रम या उलझन का कलक अनुभूति की शक्ति से प्रक्षालित हो जाता है तथा नियोजनशील कल्पना मानसिक कांति मे प्रेरित होकर शैली के उपकरणो का स्पष्ट और निर्भ्रान्त विधान कर देती है। जिस लेखक का मन मकड़ी के जाले की भाँति उलझनो से पूर्ण है, उसकी शैली मे यह पारदर्शी स्पष्टता और रमणीय एकसूत्रता नहीं आ सकती। मानसिक प्रक्रिया का एक दूसरा कलक पूर्वाग्रह अथवा स्पष्ट-वादिता का अभाव हो सकता है। व्यक्तित्व के विवेचन मे यह देखा जा चुका है कि नगेन्द्र जी सिद्धान्तत स्पष्टवादी हैं और आलोचक के धर्म के रूप मे निष्पक्षता और मानसिक स्वास्थ्य को आवश्यक मानते हैं।[2] वे अपनी बौद्धिक प्रक्रिया के प्रति इतने ईमानदार हैं

---

१. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० १०

२. "आचार्य जहाँ धर्म का लक्ष्य 'अपनी आत्मा को प्रिय होना' करता है वहाँ आत्मा से उसका तात्पर्य शुद्ध अविकृत अन्त:करण से है। इसी प्रकार आलोचक का आत्म भी शिक्षित और सस्कृत होगा।"
—विचार और अनुभूति पृ० १४

कि अपनी दुर्बलताओं को छिपाने की आत्म प्रवचना से सप्रयत्न बचने की चेष्टा करते हैं।[१] इस प्रकार अपनी विचारगत उलझनों और अबोधताओं को जो लेखक स्वीकार कर लेता है, उसकी शेष विचारधारा भ्रमरहित होती है और तदनुरूप शैली स्पष्ट और पारदर्शी। नगेन्द्र जी में ये दोनों स्पष्टताएँ मिलती हैं।[२]

नगेन्द्र जी की शैली की एक और विशेषता भावों या विचारों की एकमूलता है। कहाँ से आरम्भ करके यत्र-तत्र स्फीति देते हुए कहाँ विचारों का समाहार करते हुए अन्त करना है यह सब उनके निबन्धों में एक सुनिश्चित विधान के अन्तर्गत चलता है। यदि ग्राफ के रूप में उसके मूल विकास की अभिव्यक्ति करें तो आरम्भ से लेकर निष्कर्ष के पूर्व तक सत्योद्घाटन क्रमशः शृङ्खलाबद्ध होता हुआ चरमबिन्दु की ओर बढ़ता जाता है। निष्कर्ष में वह पुनः लौटकर अपनी मूल रेखा पर आ जाता है और उस रेखा पर कुछ दूर चलकर समाप्त हो जाता है। इस विकास-क्रम में योजना इतनी निश्चित और दूरदर्शितापूर्ण रहती है कि न कहीं उलझन न ग्रन्थि, और न टूटना। विचारों की उत्तेजना के समय शैली कुछ गम्भीर-मंथर तो हो जाती है, पर चपल नहीं। उनके निबन्धों में विचार की सघनता के साथ शैली की गति गौरव के कारण मंथर हो जाती है, पर व्यंग्य और भावपूर्ण उदाहरणों की योजना में पद-विन्यास विशेष चपल हो जाता है। नगेन्द्र जी में मंथरता और चपलता का यह अनुपात सर्वत्र नहीं मिलता . केवल विशिष्ट प्रकार की शैली में चापल्य की वृद्धि हो जाती है, जिसका हम पीछे विवेचन कर चुके हैं।

नगेन्द्र जी का निबन्ध-विधान

नगेन्द्र जी के निबन्धों का उद्देश्य प्रायः किसी साहित्य-सिद्धांत, साहित्य-समस्या अथवा किसी कृति या कर्त्ता के व्यक्तित्व अथवा कृतित्व का विश्लेषण करना ही रहा है। इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर ही वे निबन्ध के आरम्भ, मध्य और अन्त का नियोजन करते हैं। समस्त वातावरण मुख्यतः प्रश्न और उत्तर या समस्या और समाधान में विभाजित रहता है। वे विषय के पूर्व और उत्तर दोनों पक्षों को प्रकट करते हैं। ये पूर्व और उत्तर पक्ष कभी-कभी दो व्यक्तियों के माध्यम से व्यक्त होते हैं और कभी लेखक स्वयं दो रूपों में अवतरित होता है। प्रश्न को उसकी समस्त जटिलता के साथ उठाया जाता है और उत्तर को लेखक अपनी शक्ति-भर ज्ञान विज्ञान के सिद्धान्तों और वैज्ञानिक तर्कों से पुष्ट करता हुआ विशद बनाता जाता है। जिस प्रकार एक ब्लाटिंग पेपर पर स्याही की एक बूंद एक निश्चित परिधि तक फैलकर रुक जाती है और फिर स्याही की एक दूसरी बूंद उसे और अधिक विस्तृत करती जाती है, इसी प्रकार नगेन्द्र जी का विषय भी प्रश्नों और समस्याओं से विस्तृत होता-होता अपनी अन्तिम परिधि प्राप्त कर लेता है।

---

१. अनेकत्र नगेन्द्र जी ने अपनी दुर्बलताएँ स्वीकार की हैं। जैसे—"साहित्य या कला का एकान्त वस्तुगत रूप क्या होता है और वैज्ञानिक पद्धति उसको कहाँ तक ग्रहण और स्पष्ट कर सकती है, यह मैं अभी नहीं समझ सका।" —विचार और अनुभूति, पृ० १७

२. देखिए 'डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध', पृ० १७

(क) निबन्धों का आरम्भ

नगेन्द्र जी के निबन्धों का आरम्भ अधिकांशतः मध्य में आये हुये विवेचन का भाग ही बन जाता है। कभी-कभी एक गम्भीर उपोद्‌घात या संक्षिप्त विषय-प्रवेश के रूप में आरम्भिक अनुच्छेद रहता है। कुछ निबन्धों का प्रारम्भ विशिष्ट है। इनके प्रकारों पर भी संक्षिप्त रूप में विचार कर लेना चाहिए।

१. **आरम्भ में किसी घटना का उल्लेख** . इस प्रकार का आरम्भ विषय-विवेचन के लिए एक नाटकीय सन्नद्धता उपस्थित करता है। साथ ही विषय के आरम्भिक तन्तु को, जो प्रमुखतः प्रश्न होता है, विशेष सजीवता प्राप्त हो जाती है। जीवन के संस्पर्श से जैसे जड़ में भी स्फूर्ति आ गई हो। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(अ) "कविता-पाठ समाप्त करके ज्यों ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस-विमुग्ध सुन्दरी बोल उठी, इन कविताओं की प्रेरणा तुमको कहाँ से मिलती है, कवि ''[१]

(आ) "हमारे एक साहित्यिक मित्र ने जीवन में कुछ सिद्धान्त स्थिर कर रखे हैं। उनमें से एक यह भी है कि अध्ययन का मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।"[२]

(इ) "अभी थोड़े दिनों की बात है, 'साहित्य-सन्देश' में हिन्दी के प्रौढ़ समालोचक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का एक लेख छपा था।"[३]

(ई) "कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपों के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य में सामाजिक गुणों का विरोध करता हुआ अहंवाद का पोषण करता हूँ।"[४]

(उ) "फ्रायड पर वार्ता प्रसारित करने का मुझसे आग्रह शायद इसलिए है कि मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं।"[५]

(ऊ) "कुछ समय पूर्व भगवतीबाबू ने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक साहित्य-गोष्ठी में कहा था..............।"[६]

२. **किसी उद्धरण से निबन्ध का आरम्भ** · उद्धरण से आरम्भ करने की प्रणाली कुछ पुरानी ही है, पर नगेन्द्र जी ने इसमें वैविध्य प्रस्तुत करने की दृष्टि से भारतीय और विदेशी, प्राचीन और नवीन, गद्यात्मक और पद्यात्मक उद्धरणों का प्रयोग किया है। नीचे के कुछ उद्धरणों से यह बात पुष्ट हो जाती है—

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० ३
२. वही, पृ० ४६
३. वही, पृ० ७२
४. विचार और विवेचन, पृ० ५१
५. विचार और विश्लेषण, पृ० ५८
६. वही, पृ० १६७

"इनके—छायावादी कवियों के भाव झूठे, इनकी भाषा झूठी, इनके छन्द झूठे, इनके अलंकार झूठे।"[१]

'रस का स्वरूप' का आरम्भ साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के दो श्लोकों से किया गया है। 'शृंगार रस' के आरम्भ में भी विश्वनाथ का ही एक श्लोक उद्धृत है। 'ब्रजभाषा का गद्य (टीका साहित्य)' का आरम्भ एक मज़ाक से किया गया है—"इस प्रसंग में मुझे यूरोप के किसी नाटककार का एक मज़ाक याद आ जाता है जिसमें एक पात्र बड़े ही गम्भीर और जिज्ञासु भाव से दूसरे से पूछता है—'मिस्टर, गद्य क्या होता है?'"[२] 'कामायनी का महाकाव्यत्व' निबन्ध का आरम्भ लांजाइनस के इस उद्धरण से होता है—"महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्य में ......कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।"[३]

३ *शास्त्रीय आरम्भ* इस प्रकार का आरम्भ अत्यन्त गम्भीर होता है। *कभी शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ, कभी उसके सामान्य अर्थ और कभी उसके प्रयोगार्थ को देकर अथवा कोई सिद्धान्त वाक्य जोड़कर निबन्ध को आरम्भ से ही गम्भीरता के वातावरण में प्रविष्ट करा दिया जाता है। कुछ शब्दार्थमूलक आरम्भ देखे जा सकते हैं—*

(अ) "साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना।"[४]

(आ) "मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नहीं है—पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्यशास्त्र से किया गया है।"[५]

(इ) "हिन्दी में 'रिसर्च' के लिये अनुसंधान, अन्वेषण, शोध तथा खोज आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है।"[६]

४ *प्रश्न से आरम्भ : कभी-कभी नगेन्द्र जी प्रश्न या प्रश्नावली से निबन्धों को आरम्भ कर देते हैं। यह निबन्ध और लेखक के स्वभाव के अनुकूल ही है। 'हिन्दी में हास्य की कमी' तो एक पूरा संवाद ही है, जिसमें प्रश्न और उत्तर ही आयोजित हैं।* पर, ऐसे *निबन्ध भी हैं जिनके आरम्भ से प्रश्न* और समाधान रखे गये हैं। 'बिहारी की बहुज्ञता' और 'कामायनी में रूपक-तत्त्व' का आरम्भ इस प्रकार ही किया गया है—

(अ) "बिहारी की बहुज्ञता का विवेचन करने से पूर्व इस प्रश्न का समाधान कर लेना आवश्यक हो जाता है कि बहुज्ञता और कवित्व का क्या सम्बन्ध है।"[७]

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० ६३
(इस लेख में चार चरण हैं और चारों चरणों का आरम्भ इसी प्रकार के उद्धरणों से किया गया है।)
२. विचार और विश्लेषण, पृ० ५२
३. अनुसन्धान और आलोचना, पृ० ४६
४. विचार और विवेचन, पृ० ३०
५. विचार और विश्लेषण, पृ० १
६. वही, पृ० ११
७. वही, पृ० ३६

(आ) "कामायनी के रूपकतत्त्व की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नो का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है।"[१] 'कविता क्या है'[२] तो वाक्य ही प्रश्नवाचक है। इसी प्रकार 'हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र' निबन्ध का आरम्भिक अनुच्छेद चार प्रश्नो का समूहमात्र है।[३]

(ख) निबन्ध का मध्य

नगेन्द्र जी के निबन्धो का मध्य एक सघन वन की भाँति है, जिसमे राह निकलना कठिन है और राह यदि मिल भी जाये, तो उसके दोनो ओर झाडियाँ लगी हैं। लेखक सावधानी से इन झाडियो को हटाता हुआ पाठक के मार्ग को मुक्त करता जाता है। ऐसी कुछ स्थिति मध्य की है। विवेचन और विश्लेषण की एक ऐसी ऊहा-पोह मध्य मे रहती है, जिसमे पाठक का मन अत्यधिक स्पष्ट निरूपण और पारदर्शी शैली के होते हुये भी उलझ-उलझ जाता है। डा० नगेन्द्र की लिखने की मथरता पाठक की मथरता बन जाती है। पैर जल्दी उठाने मे पाठक को भय रहता है कि कही कुछ छूट न जाय। इस निबिडता मे फँसे हुए पाठक को लेखक अनेक ज्योति-सकेत देता है। कभी मनोवैज्ञानिक विवेचन से कुछ अपनापन-सा प्रतीत होता है, फिर कभी आध्यात्मिक विवेचन विषय को गूढ बना देता है, भौतिक विज्ञान के प्रकाश मे सामयिकता लाने का भी प्रयास किया जाता है और फिर विकास के ऐतिहासिक पथ पर प्रवाह, गति-सुलभ होकर, सम और सुखद हो जाता है। इस प्रवृत्ति का एकत्र रूप हमे 'शृङ्गार-रस'[४] मे मिलता है। इसके उपशीर्षक इस प्रकार हैं : मनोवैज्ञानिक विवेचन, आध्यात्मिक विवेचन, वैज्ञानिक विवेचन और भारतीय साहित्य मे शृङ्गार भावना का विकास। 'विचार और अनुभूति' के पश्चात् उदाहरण और मन की मौज से प्रेरित स्थलो की हरीतिमा विरल से विरलतर होती गई है और इस हरीतिमा के अभाव मे नगेन्द्र जी के निबध मरुखड-जैसे प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि विचार का आस्वाद करता हुआ लेखक पाठक के लिए उसे आस्वाद्य बनाने का पूरा प्रयत्न करता है, पर कुशल वैद्य की भाँति दवा के साथ स्वाद का मिश्रण नही कर पाता।

नगेन्द्र जी के निबन्धो मे एक विशेष शैली निबन्ध के मध्य मे मिलती है, जिसे हम संख्या शैली कह सकते है। इसका प्रयोग लेखक पाठक के मार्ग-प्रदर्शन के लिए सक्षिप्ति के रूप मे करता है और कभी इसका प्रयोग वर्गीकृत विश्लेषण प्रणाली के लिए किया जाता है। साथ ही कारण-कार्य परम्परा भी बडी सग्रथित है।

(ग) निबन्ध का अन्त

नगेन्द्र जी प्राय अपने निबन्धो को निष्कर्षांत रखते है। कभी-कभी निबन्ध के मध्य मे भी पूर्वांश के साराश या निष्कर्ष मिलते है, जो विचार की विस्तृति को मूलबद्ध कर देने

१. वही, पृ० ६५
२. अनुसंधान और आलोचना, पृ० ४
३. देखिए 'विचार और विश्लेषण', पृ० ४
४. देखिए 'विचार और विवेचन', पृ० ३७-५१

के पश्चात् आगे के चिंतन के लिये संक्षिप्त भूमिका प्रस्तुत करते हैं। व्याख्या और विश्लेषण के अधिक बिखर जाने के कारण लेखक यह अनुभव करता है कि स्थापनाओं की सुस्पष्ट स्वीकृति आवश्यक है। आलोचक निबन्धकार का यह कर्तव्य भी है कि तर्क में उलझी हुई स्थापनाओं को अन्त में प्रस्तुत कर दे। पाठक विवेचना की ऊहा-पोह में परिश्रान्त होकर अन्त में स्थापनाओं की संक्षिप्ति से बौद्धिक विश्राम प्राप्त करता है और लेखक भी अपनी स्थापनाओं से फिर एक बार संक्षिप्त रूप में अवगत होकर यह परीक्षण कर लेता है कि कुछ अविवेक तो नहीं हुआ।

निष्कर्षों को देने की प्रमुख शैली संख्याओं में वस्तुतत्त्व को घटित कर देना ही है। विवेचन और तर्क की सुव्यवस्था का प्रभाव जो निबन्ध के मध्य में पड़ता है, वह अन्ततः स्थापनाओं के परिगणन में पूर्ण हो जाता है। 'साहित्य की प्रेरणा',[1] 'साहित्य और समीक्षा',[2] *'आचार्य शुक्ल और डा० रिचर्ड्स'*[3] आदि *निबन्ध उदाहरण के रूप में लिए* जा सकते हैं। ये संख्या-शैली के निष्कर्ष दो प्रकार के हैं एक तो सूत्रात्मक शैली में हैं और दूसरे विस्तृत। उदाहरण के लिए 'आचार्य शुक्ल और डाक्टर रिचर्ड्स' निबन्ध के निष्कर्ष लगभग दो पृष्ठ में आय हैं और संख्या में केवल दो ही हैं। व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्धित निबन्धों के अन्त बहुधा निर्णयात्मक हैं। इनमें 'प्रसाद के नाटक' जैसे निबन्धों को लिया जा सकता है। विशिष्ट शैली के निबन्धों के अन्त विशेष कलात्मक हैं।

भाषा

भाषा की दृष्टि से साधना के स्तरों की भाँति नगेन्द्र जी के विकास-स्तर देखे जा सकते हैं। 'सुमित्रानन्दन पंत' और 'साकेत : एक अध्ययन' पुस्तकों में सामग्रीचयन और प्रतिभा का *प्रभावात्मक दर्शन तो परिमार्जित दीखते हैं, पर भाषा की दृष्टि से वह प्रौढ़ता* दृष्टिगोचर नहीं होती, जो उनकी परवर्ती कृतियों की प्रमुख विशेषता बन गई। बौद्धिक साधना की सघनता, चिन्तन की गहनता, विवेचन की व्यापकता और शैली की एकसूत्रता के विकास के साथ भाषा का भी युगपद विकास होता रहा। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' (१९४०) में भाषा की प्रौढ़ता के विकास की सम्भावनायें आकुलित दीखती हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आ जाने से कुछ पारिभाषिक शब्दावली भी मिलने लगती है। इस कृति के पश्चात् तो नगेन्द्र जी की भाषा अपने चरम विकास की ओर बड़ी तीव्रता से गतिशील *रही है।*

भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों की प्रौढ़ भाषा-शैली का स्थायी प्रभाव लेखक की बौद्धिक प्रक्रिया पर पड़ा है। साथ ही, पश्चिम के अभिव्यंजनावादी और सौन्दर्यवादी आलोचकों के सिद्धांतों के अवगाहन और अपने उद्देश्य के अनुकूल उनके प्रयोग की चेष्टा भाषाकार नगेन्द्र को अधिक सजग और सावधान बना देती है। 'विचार और अनुभूति' (१९४४) में भाषा कभी शास्त्रीय और पारिभाषिक तट को स्पर्श करती हुई प्रवाहित

१. विचार और अनुभूति, पृ० १० ... इसमें तीन निष्कर्ष हैं।
२. वही, पृ० १७-२८ .. इसमें सात निष्कर्ष हैं।
३. वही, पृ० ८६-८८

होकर चलती है और कभी-कभी एक मनमौज से प्रेरित होकर कलात्मक शैली के सुरम्य पुलिन का भी स्पर्श कर लेती है। 'विचार और विवेचन' (१९४९) तक आते-आते तो जैसे कलात्मक भाषा का सुरम्य पुलिन ढह गया और भाषा अत्यन्त गंभीर और प्रौढ बन गई। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने उनकी वाक्य-रचना-शैली को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारतीय शास्त्रों की लोकप्रिय सूत्रात्मक शैली के प्रभाव से कुछ सूत्रात्मक वाक्य नगेन्द्र की भाषा के विशेष अंग बन गये, जिनमें गठन और कसाव में वामन के सूत्रों की आत्मा बोलती है। भाषा की प्रौढता के इस विकास-क्रम को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—" 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में······भाषा-शैली में भी एक विकासात्मक प्रौढता के दर्शन होते हैं......१९४४ में उनकी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' प्रकाशित होती है······नगेन्द्र जी की भाषा यहाँ तक आते-आते पर्याप्त समृद्धि प्राप्त कर लेती है। 'विचार और विवेचन' में यह कला और विकसित होती है। विषय के अनुरूप ही भाषा और शैली भी प्रौढ होती जाती है······'विचार और विश्लेषण' भाषा-शैली के गाम्भीर्य और सौष्ठव की दृष्टि से नगेन्द्र-साहित्य की विशेष उपलब्धि है।"[1]

नगेन्द्र जी की शब्द-साधना कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उन्होंने अनेक बार स्वीकार किया है कि उनके विचार भी अनुभूति की उष्णता प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से शब्द-चयन का कार्य कठिन हो जाता है और शब्द-प्रयोग दुहरी आवश्यकता में बँध जाता है। उनके निबन्धों मे अनुभूति और विचार के क्षिप्र प्रवाह में प्रवाहित होकर प्रत्येक शब्द को अत्यन्त स्फुट और सुडौल हो जाना पडता है। बिना इसके उसे प्रयोग में स्थान प्राप्त नही होता, साथ ही प्रत्येक शब्द की जडिमा, चिंतन की गतिशीलता से घुलकर, एक विशेष ऊर्जा और जीवन-कांति से लाभान्वित होती है, जो शब्द के अंतराल में उदित हो जाती है। ऐसे शब्द उनकी शैली में अपरिहार्य हो जाते है। वस्तुत "उनमें प्रत्येक शब्द अपनी अनिवार्यता से उपस्थित हैं।"[2] श्री जयनाथ 'नलिन' के अनुसार 'भाषा शिल्पी के रूप में आप विशुद्ध तत्समवादी हैं।"[3] तत्सम शब्दों मे कभी-कभी वे ऐसे रूप भी प्रयुक्त करते हैं, जो सामान्य भाषा-शैली में नही मिलते। जैसे 'स्नायवी', 'वायवी', 'प्रोद्भास', 'प्रौढि', 'उद्भूति' आदि। संस्कृत की इस विशिष्ट और सामान्य तत्सम शब्दावली ने भाषा को जटिल अवश्य बना दिया है, पर उनके निबंध जिस वर्ग के लिए उद्दिष्ट है उस वर्ग के लिए शब्द की उपर्युक्त साधना के फलस्वरूप तथा प्रयोग की सटीकता के कारण दुरूहता समाप्त हो जाती है। शब्दों की जटिलता एक सापेक्ष तथ्य है जिस पर सग्राहक की स्थिति के अनुसार विचार किया जाना चाहिए। भाषा पर नगेन्द्र जी की रचनात्मक प्रवृत्ति की भी अमिट छाप है। उन्होने अनेक शब्दों को नवीन अभिव्यक्तियुक्त संरचना भी की है : 'तरल प्रवहमान भावुकता', 'कल्पना-विलास', 'भाषा की रेशमी जाली', 'आवेश की प्रखर शिखाएँ अलंकार राशि में फूट उठी हैं आदि।

तत्सम-प्रिय होते हुए भी नगेन्द्र जी ने अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अर्थ-व्यंजना

---

१. डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धांत, नारायणप्रसाद चौबे, पृ० ९—१०

२. भारतभूषण अग्रवाल, डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १७

३. हिन्दी निबंधकार, पृ० २३८

की उपयुक्तता की दृष्टि से ग्रहण किया है। उर्दू के शब्दों की संख्या तो नगण्य है,[१] पर अंग्रेजी के शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इतना निश्चित है कि नगेन्द्र जी शब्द-विशेष के प्रयोग से पहले उसकी पर्याप्तता के विषय में आश्वस्त हो जाते हैं। नीचे ऐसे अंग्रेजी-शब्दों की सूची दी गई है—

(क) पारिभाषिक शब्दावली

इम्प्रेशनिस्ट	फार्म
लिरिकल	क्लासिकल
रोक्यूलर पाइन्ट	डाइमेन्शन
पोइटिक्स	स्टूडियो
ट्रेजिडी	आक्सीजन
सलफर डायोक्साइड	प्लेटिनम
रोमांटिक	एक्सप्रेशन
एलिगरी	टेक्नीक
गेस्टाल्ट	नर्सिंग
फैन्सी	रोमान्स
	सेक्स

(ख) सामान्य शब्द

ओवरहॉल	रेकार्ड
प्रेस	स्क्रीन
फिल्म	प्रोक्सी
ह्यूमर	ट्रन्ककॉल
सेक्रेटरी	कनेक्शन
कालबुक	प्लान
बेटरी	फैशन
ड्राइवर	प्यूरिटन
लिपस्टिक	हिस्टोरिकल
चैलन्ज	आर्डर
मोरल्स	स्केच
प्रोपगैंडा	लेबिल
सेक्यूलर	टाइप
रिसर्च	पाइन्ट
एक्सप्रेशन	हीरो
रिटायर्ड	डाइमेन्शन
डेवेलप	साइको एनालिसिस

१ फिर भी उन्होंने 'हिन्दी उपन्यास' लेख में प्रेमचंद द्वारा उर्दू-शब्दों का ही प्रयोग कराया है। 'जिंदगी की चाहर दीवारी', 'जबान के चटखारे' जैसे मुहावरे भी मिलते हैं।

(ग) अंग्रेजी-वाक्यांश

मेटीरियलिस्टिक इन्टरप्रेटेशन ऑफ़ हिस्टोरी ।
हि इज ए चाइल्ड ।
हि रेफ्यूजैम बिकाज पडिल शा सेस नो ।
आइ केन थिन्क फार माइसेल्फ़ ।

(घ) अग्रेज़ी से अनूदित वाक्यांश

१. वीर ही सुन्दरी का अधिकारी है। (None but the brave deserves the fair).

२. जो ओठ चुम्बनो से वचित रहते हैं वे गाने लगते हैं। (Lips that fail to kiss begin to sing).

३. नायक कभी नहीं मरता। (Heroes never die).

एकाध स्थल पर अग्रेजी-वाक्य का प्रयोग बडा व्यग्यपूर्ण हो गया है, जिससे पूरे वातावरण मे सजीवता आ गई है। यथा—"मार्ग की स्त्रियों के पूछने पर कि 'शुभे तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं ?' सीता—'He is Mr. Ram, My husband' (आप श्रीयुत राम मेरे पति हैं) यह नहीं कहती। वे बड़े लाघव से संकोच की रक्षा करते हुए उनका परिचय देती हैं—"गोरे देवर, श्याम इन्ही के ज्येष्ठ है।"[1]

पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में नगेन्द्र जी का योगदान सभी को स्वीकार्य है। विदेशी प्रभावों से युक्त हिन्दी-आलोचना के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्दो के हिन्दी-पर्यायों की रचना या खोज नगेन्द्र जी ने की है "और जहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि जितने नये शब्दों का निर्माण डा० नगेन्द्र ने किया है, उतना आज के और किसी आलोचक ने नहीं। यद्यपि डा० नगेन्द्र ने कहीं-कहीं अग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, पर वहीं जहाँ स्पष्टता के लिये वह आवश्यक लगी है। अन्यथा उन्होने प्राय: सभी अंग्रेजी शब्दों के सटीक और समानार्थी पर्याय हमें दिये हैं।"[2]

नीचे ऐसे कुछ पारिभाषिक पर्यायों की सूची दी जाती है—

Super Ego	अति-अहं
Creative urge	सृजन-प्रेरणा
Contemplated	परिभावित
Tradition & Individual talent	परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा
Sensation	सवेदन
Chivalrous love	शौर्याश्रित शृंगार
Concepts	बौद्धिक धारणाएँ

१. साकेत : एक अध्ययन, पृ० ८८

२. भारतभूषण अग्रवाल, डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १८

Super-natural	अतिप्राकृत
Sublimation	आत्म संस्कार

निष्कर्ष

इस विवेचन के आधार पर निबन्धाकार नगेन्द्र के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष दिए जा सकते हैं—

१ नगेन्द्र जी के निबन्धों की दो कड़ियाँ हैं शुद्ध शैलीवाले और मिश्रित शैली-वाले। इनके विषय की दृष्टि से कई उपवर्ग हो सकते हैं।

२ विषय की दृष्टि से ये सभी विचार-प्रधान आलोचनात्मक निबन्ध हैं, जिनमे से कुछ सैद्धांतिक आलोचना से और कुछ व्यावहारिक आलोचना से सबद्ध हैं। मिश्रित शैली-वाले निबन्ध भी विचार-प्रधान ही हैं, जो व्यंग्य और प्रसादपूर्ण प्रसन्न शैली के स्वर्णिम झीने आवरण मे झिलमिल हैं।

३ सभी निबन्धो की शैली गम्भीर है और इस शैली के प्रमुख गुण हैं—स्पष्टता, एकमूलता और विशदता। लेखक की विवेचन-पद्धति वैज्ञानिक और सुलझी हुई है।

४ भाषा प्राय तत्समबहुला है। अंग्रेजी के वाक्यो का प्रभाव, वाक्यांशो और मुहावरो का प्रयोग तथा अंग्रेजी शब्दो का उपयोग उदारता से किया गया है।

५. सभी निबन्धो के पीछे नगेन्द्र जी का अनुभूति प्रवण व्यक्तित्व सजग है।

चतुर्थ अध्याय

आलोचक नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र का व्यक्तित्व आलोचना के क्षेत्र में एक संस्था के समान विराट् है। उनके आलोचना-सिद्धांत अनेक स्रोतों से निर्मित और पुष्ट हुए हैं। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र से लेकर नवीनतम आलोचना-पद्धतियों का बृहत् इतिहास उनके आलोचक के दृष्टिपथ में है। हिन्दी के रीतिकालीन कवि-आचार्यों के सैद्धांतिक पक्ष पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण शोध की है। उसके पश्चात् आलोचना की जितनी धाराएँ हिन्दी के क्षेत्र में प्रवाहित हुई हैं, वे भी उनके व्यक्तित्व में विश्राम लेती हैं। प्लेटो और आरिस्टॉटिल से लेकर इलियट और रिचर्ड्स तक के पाश्चात्य समीक्षा-सम्बन्धी विचारों का भी उन्होंने पूर्ण अवगाहन किया है। इतना विस्तृत अध्ययन लिए हुए आलोचक नगेन्द्र कुछ सार्वभौमिक और सार्वकालिक शाश्वत मानवीय आलोचना-मूल्यों और एक व्यापक मानदंड की खोज में निरत हैं। यह साधना वैयक्तिक धरातल पर तो रही ही है, जहाँ आवश्यकता पड़ी है वहाँ साहित्यिक सहकारिता की स्थापना करके उसे सामूहिक साधना का रूप भी वे देते हैं। इससे साधना के प्रति उनकी सच्चाई और ईमानदारी प्रकट होती है। हिन्दी-आलोचना के इतिहास में डा० नगेन्द्र की यह वैयक्तिक और सामूहिक समीक्षा-साधना एक स्मरणीय घटना रहेगी।

पीठिका—आज हिन्दी का आलोचना-साहित्य इतना समृद्ध है कि उस पर एक सात्विक गर्व का अनुभव किया जा सकता है। इसके विकासोन्नयन में अनेक मनीषियों का योगदान है। रीतिकालीन आचार्यों की साधना कवि-शिक्षा से ही विशेष रूप से संबद्ध है और वर्तमान आलोचना-पद्धति को इसका कोई महत्त्वपूर्ण योगदान भी नहीं है। अव्यक्त रूप से इसका जो महत्त्व है, उसका मूल्यांकन डा० नगेन्द्र ने दो प्रकार से किया है। इसका पहला मूल्य यह है कि यह वह कड़ी है जो संस्कृत काव्यशास्त्र से हिन्दी-आलोचना को संबद्ध कर रही है।[1] मौलिक चिंतन के अवपतन काल में काव्यशास्त्रगत सैद्धांतिक आलोचना की परम्परा को बनाये रखना और उसके प्रति स्वयं जागरूक रहकर तत्कालीन अभिजात वर्ग की रुचि को उससे संबद्ध रखना रीतिकालीन आचार्य का हिन्दी-आलोचना के इतिहास को एक स्मरणीय योगदान है। इनका दूसरा मूल्य यह है कि इन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र पर छाये हुए ध्वनि-सिद्धान्त के अभेद्य प्रभाव के आवरण से

[1] "अन्य भाषाओं में जहाँ संस्कृत आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया है वहाँ हिन्दी और मराठी में यह अन्तःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का योगदान स्पष्ट है।"

—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ४६७

रस-सिद्धान्त को मुक्त किया है।[1] रीतिकालीन आचार्यों ने नैतिक मूल्यों से काव्य के मूल्यों को पृथक रखा। इसी कारण नैतिक दृष्टिवाले आलोचकों की अनुदारता का भाजन इन आचार्यों को होना पड़ा। डा० भगीरथ मिश्र,[2] डा० नगेन्द्र,[3] डा० ओम्प्रकाश[4] तथा डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'[5] ने इन आचार्यों का पुनर्मूल्यांकन करके इनको उपेक्षा के अनुताप से मुक्त किया। इस दृष्टि से ग्वाल (रचना-काल संवत् १८७९ के लगभग), सेवक (जन्म-संवत् १८७२), लछिराम (जन्म-संवत् १८९८), मुरारिदान (रचना-काल १९५० विक्रमी) आदि आचार्यों में होती हुई यह परम्परा कन्हैयालाल पोद्दार तथा लाला भगवानदीन और रसाल' तक चली आती है।

इस युग में केवल सैद्धांतिक आलोचना ही नहीं हुई, व्यावहारिक आलोचना की ओर भी किंचित् ध्यान दिया गया। भिखारीदास ने हिन्दी की तुकान्त कविता और काव्य-भाषा की कुछ मौलिक समीक्षा प्रस्तुत की है। श्रीपति ने केशवदास तथा अन्य आचार्यों के उदाहरण लेकर उनमें दोष-दर्शन की चेष्टा की है। यह भी व्यावहारिक समीक्षा ही में अन्तर्गत मानी जायेगी। इस काल में कुछ टीकाकारों ने भी यत्र-तत्र काव्य-सौन्दर्य का विश्लेषण किया है।[6] इस दृष्टि से सरदार कवि का 'मानस रहस्य' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। केशव और बिहारी पर भी टीकाएँ हुईं। नगेन्द्र-जैसा जागरूक आलोचक रीतिकालीन सैद्धांतिक आलोचना की सुदीर्घ परम्परा की ओर से विमुख नहीं रह सका।

इसके पश्चात् आलोचना का काल-विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है[7]—

(१) समालोचना का प्रवर्तन काल : भारतेन्दु युग
(२) समालोचना का संवर्धन काल : द्विवेदी युग
(३) समालोचना का विकास काल : शुक्ल युग
(४) समालोचना का प्रसार काल : शुक्लोत्तर युग

यह काल-विभाजन सुविधा की दृष्टि से उपयोगी है। वैसे शुक्लोत्तर युग में अनेक प्रवृत्तियों के अनुसार आलोचना-पद्धतियों का नामकरण किया जा सकता है।

भारतेन्दु युग—प्रवर्तन काल सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से बौद्धिक युग कहा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिक विकास की छाया इस युग पर पड़ रही थी। यह युग बहुमुखी आन्दोलन का युग था। अपने पक्ष-समर्थन में बुद्धिवाद का सहारा लिया जाता था। इस काल की आलोचना में भी बौद्धिकता का प्रयोग होने लगा

---

१. इनका दूसरा महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की।''

—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ४६८

२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
३ रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता
४ हिन्दी अलंकार साहित्य
5 Evolution of Hindi Poetics
६ देखिए 'आलोचना और आलोचक,' डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, पृ० ११
७ देखिए, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास' डा० वेंकट शर्मा, पृ० १४०

था। 'बुक रिव्यू' की सामान्य समालोचना-प्रणाली से लेकर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों की भारतीय और पाश्चात्य विचार-धाराओं का भी प्रवर्तन साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में हुआ। साथ ही ऐतिहासिक, सामाजिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक तथा प्रभावात्मक, आलोचना-शैलियों का भी सामान्य सूत्रपात इस युग में हो गया।[१] फिर भी रचनात्मक साहित्य की तुलना में इस युग की आलोचना का स्तर बहुत नीचा है। इस युग के प्रमुख समालोचक भारतेन्दु और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' हैं। 'आनन्दकादम्बिनी' में प्रेमघनजी ने समसामयिक ग्रन्थों पर अपनी कुछ स्फुट आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों के रिव्यू प्रकाशित होते रहे। भविष्य की संवर्धन-सम्भावनाओं से युक्त हिन्दी-आलोचना का यह शैशव-काल बीत गया। वस्तुतः "भारतेन्दु युग में लिखी गई आलोचनाओं में गुण-दोष दिखाने की प्रवृत्ति ही अधिक थी, उन्हें सत्समालोचना नहीं कहा जा सकता।"[२]

द्विवेदी युग—द्विवेदी युग हिन्दी-आलोचना के बहुमुखी विकास का युग है। इस युग की जीवन-दृष्टि भी विस्तृत हुई, साहित्यकारों के अध्ययन की सीमाओं और पद्धतियों में पर्याप्त विकास हुआ। नैतिकता और आदर्श-निष्ठा इस युग के विचारकों के जीवन-दर्शन की प्रमुख प्रेरणाएँ बनीं। साहित्य के क्षेत्र में रूप की दृष्टि से गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में नवीन विधाएँ सामने आईं, जो अपने सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र शास्त्र की अपेक्षा रखती थीं। वैज्ञानिक और बौद्धिक विकास प्राचीन को नवीन प्रकाश में देखने-समझने का आग्रह कर रहा था। छायावाद-जैसी कुछ नवीन, ऊपर से विदेशी लगनेवाली और विदेशी स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करनेवाली, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं और तत्कालीन समीक्षा के सामने त्याग या ग्रहण की एक जटिल गुत्थी बन गई थी। भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा-पद्धति यदि एक ओर आलोचक के मस्तिष्क को अपनत्व की दृष्टि से अपनी ओर तीव्रता से आकृष्ट कर रही थी, तो दूसरी ओर अंग्रेजी के अध्ययन और प्रचार के साथ आए हुए प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त जीवन के साथ अपनी संगति दिखाकर अपनी महत्ता स्थापित करने की चेष्टा में थे। तत्कालीन समीक्षक के सामने प्रश्न था कि क्या विदेशी के बहिष्कार के युग में इनको अपनाना उचित है? अथवा यह कि क्या इनकी स्वीकृति अपने अतीत की उपेक्षा नहीं है? क्या यह आत्मघात नहीं है कि किसी विदेशी सिद्धान्त की श्रेष्ठता स्वीकार करके अपनी हीनता को आमंत्रण दिया जाय? इस प्रकार द्विवेदीयुगीन आलोचक के सामने बड़े जटिल प्रश्न थे और कार्य के लिए बड़ा विस्तृत क्षेत्र था। इस युग के मनीषी बड़ी सतर्कता से अपने दायित्व के निर्वाह में संलग्न हुए।

शुक्ल युग—द्विवेदी युग की स्थूल इतिवृत्तात्मक आदर्शमूलक काव्य-धारा के प्रति यदि छायावाद को एक प्रतिक्रिया माना जाये तो तत्कालीन आलोचक के नैतिक दृष्टिकोण

१. वही, पृ० १४१
२. द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य, गंगाबख्शसिंह, पृ० १०२

के प्रति शुक्लोत्तर समीक्षकों की आलोचना-पद्धति को ही प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। इस युग में उपयोगितावाद का प्रायः एक स्थूल रूप ग्रहण किया गया। द्विवेदी युग के स्थूल-द्रष्टा सुधारक आलोचक ने कुछ मोटे-मोटे नैतिक सिद्धान्तों को लेकर साहित्य-परीक्षण किया, इसमें लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई।[1] नैतिकता की स्थूल चर्चा व्यक्ति को दम्भी और असहिष्णु बना देती है। इस प्रकार उपयोगिता का स्थायी मूल्य न देखकर उसका तात्कालिक मूल्य ही विशेष रूप से देखा गया। इस असहिष्णुता में रसाश्रित आलोचना-पद्धति धूमिल सी होती जा रही थी। रस या आनन्द की भी उपयोगिता है। वह हमारे आन्तरिक जीवन को आवश्यक पोषण प्रदान करता है। इस रस और आनन्द की दृष्टि को देखकर शुक्ल जी ने आलोचना की स्थूल उपयोगितावादी धारा को एक मोड़ देने का प्रयत्न किया, पर वे भी केवल भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त—रस—की मानव-मन और सामाजिक व्यक्ति के सम्बन्ध से एक नई व्याख्या कर सके। वे पाश्चात्य काव्यशास्त्र या छायावाद-जैसी प्रबल प्रवृत्ति के प्रति सहिष्णु न हो सके। साथ ही शुक्लजी ने आई० ए० रिचर्ड्स के अधकचरे सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव के फलस्वरूप होनेवाले आलोचना सम्बन्धी अतिचार के विरुद्ध भी शस्त्र उठाया। इस समय शुक्लजी यदि आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से गम्भीर अध्ययन कर पाते, तो हिन्दी-आलोचना का इतिहास कुछ अन्य ही होता। पर, 'उस समय तक शुक्लजी की मानसिक आधार-भूमि पूर्णतः बन चुकी थी।'[2] उसमें अब परिवर्तन या संशोधन की संभावना नहीं रह गई थी।

शुक्लजी सच्चे अर्थों में एक नवीन आलोचना पद्धति की स्थापना की, जिसे शास्त्रीय पद्धति कहा जा सकता है और जिसके साथ अन्तर्वृत्तियों का ऊर्ध्व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा गम्भीर बौद्धिकता सन्निविष्ट थे। शुक्लजी की इस पद्धति को कई समालोचकों ने बड़ी दृढ़ता से ग्रहण किया। ये आलोचक पाश्चात्य शैली से भारतीय रस-पद्धति के विविध अंगों की व्याख्या करके शाश्वत मान-मूल्यों में विश्वास रखकर सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में प्रवृत्त हुए। 'साहित्य को ये विद्वान् एक चिरंतन सत्य मानते हैं जिसकी अंतर्धारा युग-युग की आत्मा में होकर निरवच्छिन्न बहती है। युग-धर्म का प्रभाव केवल उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप पर ही पड़ता है, आत्मा का शुद्ध-बुद्ध रस प्रभावातीत है।"[3] श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामनाथ 'सुमन' जैसे कुछ आलोचकों ने इस आलोचना के आधार को इतिहास, मनोदेश और पाश्चात्य विचार-धारा के प्रकाश में और अधिक सुदृढ़ बनाया। द्विवेदी युग में स्वयं द्विवेदी जी, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन ने जिस छायावाद की छाया को हिन्दी-काव्य के लिए एक प्रेत-छाया मानकर उसे मिथ्याडम्बर कहा था, वह स्वर शुक्लजी में कुछ

---

१. डा० नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति', पृ० २२
२. डा० नगेन्द्र, विचार और अनुभूति, पृ० ८१
३. इनमें पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० गुलाबराय, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सत्येन्द्र और प्रोफेसर शिलीमुखी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।
४. डा० नगेन्द्र, विचार और अनुभूति, पृ० ६५

बदल गया था। उन्होंने छायावादी कविता के अभिव्यंजनापरक समस्त वैशिष्ट्यों को देखा और परखा। पर उन्होंने इसका समर्थन नहीं किया : वे इसे केवल अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली-विशेष मानते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास का दृष्टिकोण कुछ अधिक उदार रहा। उन्होंने इन कवियों पर जो आक्षेप किया वह कटु नहीं मृदु है, रूढ़ नहीं विवेकपूर्ण है—"छायावाद की कविता में सबसे खटकनेवाली बात उसके भावों की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सब ही सुगम नहीं। दार्शनिक सिद्धान्त भी सबका काम नहीं।"[1] पीछे पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने छायावाद के मर्म को पहचाना और उसका स्वागत भी किया। पर, पूर्ण मूल्यांकन नहीं हो पाया। इस प्रकार शुक्ल युग में या शुक्लजी के कुछ बाद तक सैद्धांतिक समीक्षा क्षेत्र में भी विकास हुआ और काव्य-क्षेत्र की एक प्रमुख धारा छायावाद के सम्बन्ध में द्विवेदीयुगीन प्रतिक्रिया ने भी क्रमशः दिशा-परिवर्तन किया। पर, छायावाद का सर्वांगपूर्ण दिग्दर्शन या मूल्यांकन इस युग में नहीं हो पाया। यह भी द्रष्टव्य है कि बाद में गुलाबराय-जैसे कुछ आलोचकों की दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ।

शुक्लोत्तर युग—छायावाद-विषयक आलोचना को प्रतिष्ठा उस समय हुई जब प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने निर्भीक और निर्भ्रांत-भाव से छायावाद की महिमा घोषित की।[2] वाजपेयी जी का इसी से ऐतिहासिक महत्त्व हो जाता है।[3] गुलाबराय और शान्तिप्रिय द्विवेदी[4] को यदि पूरक माना जाय तो अयुक्ति नहीं होगी। गुलाबराय जी ने बहुधा छायावाद के दार्शनिक पक्ष का विशेष समर्थन किया। छायावाद के अनुभूति पक्ष का मर्मोद्घाटन द्विवेदी जी ने किया तथा वाजपेयी जी ने मानसिक अन्तर्द्वंद्वों का विश्लेषण करने का प्रयास किया।

इन आलोचकों की विचारधारा ने स्वयं छायावादी कवियों द्वारा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए लिखे गए निबन्धों अथवा काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं को भी महत्त्व प्रदान किया और उनके सम्बन्ध में भी विमर्श होने लगा। इस दृष्टि से जयशंकर 'प्रसाद' के 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के अतिरिक्त महादेवी वर्मा की 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाएँ, पंतजी के 'पल्लव' का प्रवेश तथा निराला जी के 'परिमल' की भूमिका उल्लेखनीय है तथा 'आधुनिक कवि' शीर्षक काव्य-संग्रहों[5] की भूमिकाएँ विशेष रूप से पठनीय हैं। भूमिकाओं के रूप में प्राप्त आलोचना एक नवीन पद्धति मानी जा सकती है। इनमें कवियों ने अपने अन्तर्दर्शन को अत्यन्त तीव्र, दार्शनिक और भावात्मक शैली में उपस्थित किया है। जब कुछ आलोचकों ने छायावाद को दृढ़ समर्थन दिया, और उसके प्रवाह की तीव्रता को अवरोधक तत्त्व न सह सके, तब इन भूमिकाओं का भी मूल्य बढ़ा

१. डा० श्यामसुन्दरदास, हिन्दी साहित्य का इतिहास
२. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं—'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' तथा 'जयशंकर प्रसाद'।
३. "हिन्दी का यह पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भ्रान्त होकर छायावाद के महत्त्व को स्वीकृत और प्रतिष्ठित किया।" —डा० नगेन्द्र, विचार और अनुभूति, पृ० ६८
४. विशेष रूप से द्रष्टव्य—संचारिणी, सामयिकी, युग और साहित्य आदि निबन्ध संग्रह।
५. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित।

और ये हिन्दी-आलोचना की मूल्यवान् निधि ही नही बन गई, छायावाद के आलोचकों के लिए मूल-स्रोत भी बन गई। पर, इस आलोचना-पद्धति को परवर्ती आलोचकों ने अपनाया नही। परवर्ती आलोचकों के लिए वाजपेयी जी प्रभृति आलोचक ही अनुकरणीय बन गये।[1] आलोचना के इसी घनीभूत उन्नयन काल में नगेन्द्र जी का आगमन हुआ।

इस प्रवृत्तिगत आलोचना के संघर्ष की समाप्ति के पूर्व ही प्रगतिवादी विचार-धारा ने छायावाद को ललकार दिया। छायावादी कवि पर अहंवादी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी होने के आरोप लगाये गये। उसके काव्य को कुंठा का साहित्य कहकर त्याज्य और उपेक्षणीय बताया गया। छायावाद के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया सन् १९३७—३८ मे आरम्भ हुई। नगेन्द्र जी ने इस क्रांतिमूलक प्रतिक्रिया को युग की प्रवृत्ति के साथ इस प्रकार सम्बद्ध किया है—'इस प्रतिक्रिया के साहित्यिक और सामाजिक कारण थे। साहित्यिक कारण था छायावादी अनुभूतियों की तरल सूक्ष्मताएँ, जिनके परिणामस्वरूप उसमें रक्त-मांस की कमी हो रही थी। सामाजिक कारण था जीवन मे आध्यात्मिक और सूक्ष्म-संस्कृत के विरुद्ध भौतिक और स्थूल-प्राकृत का आह्वान् अर्थात् गांधीवाद को समाजवाद का चैलेंज।''[2] इस आलोचना-पद्धति का दर्शन मुख्यतः मार्क्सवादी या समाजवादी था।

प्रगतिवादी आलोचकों मे दो लेखक विशेष जागरूक हैं, शिवदानसिंह चौहान और डा० रामविलास शर्मा। इनके साथ ही श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, डा० रांगेय राघव तथा श्री मन्मथनाथ गुप्त को भी नही भुलाया जा सकता है। इन आलोचकों मे चौहान, गुप्त और दिनकर ने मार्क्सवाद के भार को कम करके इसे स्वस्थ और दृढ़ रूप प्रदान करने की भी चेष्टा की।[3] इस आलोचना-पद्धति का प्रमुख दोष यह था कि इसमे प्रचार की गंध आती है। इसमे बुद्धिवाद का मिथ्या गाम्भीर्य और एक विशेष राजनैतिक विचार-धारा का अन्ध समर्थन मिलता है।

आलोचना-क्षेत्र की उक्त प्रवृत्तियों के साथ शास्त्रीय आलोचना-पद्धति की जो अंतर्धारा प्रवाहित हो रही थी, उसको भी नही भुलाया जा सकता। इस परम्परा को रीति-काल की अविच्छिन्न परम्परा का उत्तराश कहा जा सकता है। पुराने खेवे के द्विवेदीयुगीन सैद्धांतिक समीक्षकों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। रामदहिन मिश्र ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र का सम्यक् अध्ययन[4] करके इस क्षेत्र मे एक नवीन पद्धति का सूत्रपात किया। उन्होंने प्राचीनों के लक्षण नवीन दृष्टि से प्रस्तुत करके नवीन उदाहरणों की योजना भी की। उनका 'काव्य-दर्पण' सन् १९४७ मे पहली बार प्रकाशित हुआ। "मिश्रजी ने कहने को तो पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के ज्ञान से भी लाभ

---

१. श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने इसी पद्धति का अनुसरण करते हुये 'महाप्राण निराला' तथा 'छायावाद और रहस्यवाद' तथा श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने 'छायावाद और रहस्यवाद का रहस्य' नामक पुस्तकों का प्रणयन किया।

२. विचार और अनुभूति, पृ० १०६-१०७

३. देखिये 'आलोचना और आलोचक, डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, पृ० ४१

४. "प्राच्य और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपनाकर दोनों दृष्टिकोणों को देखकर ही कविता का स्वाद लेना।" —काव्य-दर्पण, आत्मनिवेदन, पृ० 'क'

उठाया परन्तु जिज्ञासु की भावना से वे उसके पास नहीं गये; यह मानकर चलना कि सब कुछ अपने यहाँ था, व्यक्ति की भावना को कभी भी परिष्कृत नहीं कर सकता।"[१] मिश्रजी का कार्य साहित्यशास्त्र की कोटि में रहा। उन्होंने विविध काव्यांगों पर नवीन दृष्टि से विचार किया है। पर इस युग की शास्त्रीय मेधा रस-सिद्धान्त के नवीन चिंतन और उसे नवीन सिद्धांतों के प्रकाश में देखने-परखने में लगी थी। इस क्षेत्र की प्रमुख पुस्तकें ये हैं—गुलाबराय की 'नवरस', 'हरिऔध' की 'रसकलश', कन्हैयालाल पोद्दार की 'रस-मंजरी' तथा रामचन्द्र शुक्ल की 'रस मीमांसा'। बाबू गुलाबराय ने 'नवरस' की भूमिका में यह स्पष्ट कह दिया कि "इस बात का यथाशक्ति उद्योग किया गया है कि नवरसों के वर्णन में जो गूढ़ वैज्ञानिक सिद्धांत अप्रस्तुत रूप से वर्तमान हैं उसका पूर्णतया उद्घाटन किया जावे।"[२] उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक भी रहा।[३] "रसकलश" और 'रस-मंजरी' में प्रायः पुरानी शैली में ही रस-विवेचन और उदाहरण-योजना मिलती है। शुक्लजी ने भी रस के सम्बन्ध में नवीन अध्ययन किया। कहीं-कहीं उनका चिंतन मौलिक है। रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' में इसी दिशा में प्रयत्न किया है। डा० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों साहित्यशास्त्रों का उपयोग किया है। 'रस और शैली' नामक छठे अध्याय में भारतीय रस शास्त्र की व्याख्या और मनोविज्ञानाश्रित भाव-निरूपण संयुक्त रूप में मिलते हैं।

छायावाद के कवियों ने आत्म-परिचयात्मक भूमिकाओं में भी कुछ शास्त्रीय चर्चा की है। पर इन्होंने प्राचीन आचार्यों के लक्षण-विधान की उपेक्षा करते हुए काव्यांग-संबंधी स्वमत की ही विशेष रूप से चर्चा की है। जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में काव्य की आत्मा पर विचार किया है और काव्य का नया लक्षण बतलाया है। इसमें 'आरम्भिक पाद्य काव्य' शीर्षक लेख में श्रव्यकाव्य-सम्बन्धी तथा 'नाटकों में रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरम्भ' तथा 'रंगमंच' शीर्षक लेखों में दृश्यकाव्य-सम्बन्धी नवीन अनुसन्धान-दिशा का उद्घाटन मिलता है। इस प्रकार प्रसाद जी का उद्देश्य काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुसन्धान ही विशेष रूप से हो गया। पंतजी ने भी 'गद्य-पथ' में अलंकार[४] तथा छन्द[५] पर नवीन युग की चेतना के प्रकाश में विचार किया है।

उक्त सैद्धान्तिक समीक्षा के साथ जब भारतीय काव्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन तथा नवीन वादों का संयोग हुआ तब तत्सम्बन्धी अनुसंधान-कार्य की आवश्यकता का विशेष रूप से अनुभव किया जाने लगा। शोधों ने भारतीय

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य, डा० ओम्प्रकाश, पृ० २४५

२. नवरस, भूमिका, द्वितीय संस्करण

३. "लोग अभी तक काव्य का विषय बहुत अनुपयोगी समझते हैं और इसी कारण वर्तमान समाज में काव्य का यथोचित आदर नहीं। —वही, पृ० ६

४. "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं वे भाव का अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।" "संक्रान्ति युग की वाणी के विचार ही उनके अलंकार हैं।" आदि मान्यताएँ द्रष्टव्य हैं।

५. "भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती है और तदनुसार वे रस विशेष की सृष्टि करने में सहायता देते हैं।" आदि

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को नितान्त नवीन, सुदृढ और व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस युग में होनेवाला काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अनुसंधान-कार्य निम्नलिखित सूची से स्पष्ट हो जाता है—

डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास[1]—१९३७
छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन[2]—१९४३
डा० नगेन्द्र देव और रीतिकालीन पृष्ठभूमि—१९४६
डा० भगीरथ मिश्र हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—१९४८
डा० ओम्प्रकाश हिन्दी साहित्य में अलंकार—१९५१
डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी रीतिकालीन कविता एवं शृङ्गार रस का विवेचन—१९५३।

इस प्रकार शास्त्रीय आलोचना-पद्धति का विलय अनुसंधान में हो गया। अनुसंधान ग्रन्थों के साथ महत्त्वपूर्ण अनुवाद-कार्य भी संलग्न है। श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, शालिग्राम शास्त्री आचार्य विश्वेश्वर आदि विद्वानों ने संस्कृत साहित्यशास्त्र को हिन्दी में अनूदित कर अनुसंधान-सामग्री के स्रोत को स्पष्ट करने का महत् कार्य किया। इन अनूदित ग्रन्थों की भूमिकाएँ शोधपूर्ण हैं।[3] कुछ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का भी अनुवाद किया गया 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' (डा० नगेन्द्र), 'काव्य में उदात्त तत्त्व' (डा० नगेन्द्र) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' (सम्पादक डा० नगेन्द्र) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं।[4] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक समीक्षा के नवीन क्षितिजों का उद्घाटन और खोज इस युग में चल रही है।

सैद्धान्तिक आलोचना की एक और दिशा उल्लेखनीय है। साहित्य की विविध विधाओं, जैसे कहानी, एकांकी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के शास्त्रीय रचना-विधान पर भी आलोचना-कार्य हुआ। साहित्य के इन रूपों के विविध संग्रहों की भूमिकाओं में इनके सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिलती है। स्वतन्त्र रूप में भी कुछ लेख और ग्रन्थ इस दिशा में छपते रहे हैं डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी-संग्रहों की भूमिकाएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में डा० सत्येन्द्र, बाबू गुलाबराय, डा० दशरथ ओझा आदि का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

परम्परानिबद्ध तथा वादप्रेरित सैद्धान्तिक आलोचना के अतिरिक्त एक विशेष पद्धति भी दृष्टिगत होती है। इसको 'फ्रायडवादी आलोचना-पद्धति' कहा जा सकता है।

---

१. Evolution of Hindi Poetics
२. यह थीसिस अंग्रेजी में छपी है।
३ आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित ग्रन्थों—'हिन्दी ध्वन्यालोक', 'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र,' 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आदि—की भूमिकाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।
४ इनमें एम० पी० खत्री का 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त', लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' और देवराज उपाध्याय का 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र' उल्लेखनीय हैं।

इस युग को फ्रायड, मार्क्स और डार्विन की त्रयी ने बहुत अधिक प्रभावित किया। फ्रायड का सीधा प्रभाव हिन्दी-आलोचना पर पड़ा है। इस क्षेत्र में सर्वाग्रणी डा० नगेन्द्र को माना जाता है।[१] आगे डा० नगेन्द्र के इस रूप पर विस्तृत विचार किया जायगा। इस क्षेत्र के दूसरे प्रमुख आलोचक इलाचन्द्र जोशी हैं। उन्होंने फ्रायड, युग और एडलर के सिद्धान्तों की विशद व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं।[२] इस क्षेत्र के तीसरे प्रमुख समीक्षक अज्ञेय जी हैं। उन्होंने कुंठित काम और असन्तुष्ट भोगवृत्ति को इसी आधार पर दार्शनिक रूप प्रदान किया है। उनके विचार 'त्रिशंकु', 'तार सप्तकों' की भूमिकाओं तथा विभिन्न कृतियों की भूमिकाओं में बिखरे मिलते हैं। फ्रायड के अतिरिक्त एडलर का भी प्रभाव अज्ञेय जी के अनुभूति सिद्धान्त पर है। "उनके अपर्याप्तता की अनुभूतिवाले सिद्धान्त पर एडलर का स्पष्ट प्रभाव है जिसमें व्यक्ति अपनी हीनता की ग्रन्थि को मिटाने के लिये प्रयत्न करता है।"[३] किन्तु अज्ञेय जी नवीन प्रभावों से युक्त होकर अब दिशापरिवर्तन के लिए आतुर हो उठे दीखते हैं।[४] अज्ञेय जी के यौन दृष्टिकोण में फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। किसी-किसी विद्वान् का यह मत भी है—"अज्ञेय अपने आलोचनात्मक सम्बन्धों में फ्रायड का उपयोग करने में असफल हैं या उन्होंने किया ही नहीं।"[५] इस परम्परा में और भी कई आलोचक आगे बढ़ते रहे। इस दृष्टि से डा० देवराज तथा श्री नलिनविलोचन शर्मा के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

ऊपर के संक्षिप्त सर्वेक्षण से शुक्लोत्तर युग की सैद्धांतिक समीक्षा की विस्तृति और उपलब्धियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। विविध दृष्टियों के प्रयोग और विविधगामी दिशाओं के उद्घाटन ने इस युग में हिन्दी-आलोचना की अभूतपूर्व समृद्धि की। व्यावहारिक क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास हुआ। कुछ समालोचकों ने शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना-प्रणाली के समन्वयवादी रूप को अपनाकर कृतियों की आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। शुक्लजी तक प्रायः मध्यकालीन कवियों पर आलोचनाएँ लिखी गईं। इस युग में नवीन कवियों पर भी पुराने सिद्धांतों को लेकर आलोचनाएँ लिखी गयीं। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[६] और डा० गुलाब-राय[७] इन आलोचकों का प्रतिनिधित्व करते हैं, पर प्रमुख स्थान इस क्षेत्र में छायावाद के समर्थक आलोचकों का ही बना। नन्ददुलारे वाजपेयी[८], शांतिप्रिय द्विवेदी तथा डा० नगेन्द्र[९]

१. "केवल फ्रायडवादी आलोचना पद्धति को देखकर आलोचना परमेशलों में अकेले डा० नगेन्द्र हैं जो अपने आपको मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वयवादी कहते हुए भी एकान्त रूप से फ्रायड की विचारधारा के अनुयायी हैं।"

—हिन्दी के आलोचक, शचीरानी गुर्टू, पृ० २८५, श्री रामेश्वर शर्मा का लेख

२. द्रष्टव्य—'विवेचना' तथा 'साहित्य सर्जना'
३. साहित्यालोचन, वर्ष १, अंक १, पृ० ३१
४. देखिए 'कल्पना', फरवरी १९६१, रचना : एक नई जिज्ञासा, पृ० १०८
५. हिन्दी आलोचक, शचीरानी गुर्टू, पृ० २१५, श्री रामेश्वर शर्मा का लेख
६. 'बिहारी की वाग्विभूति', 'भूषण' 'घनानन्द' आदि उत्कृष्ट ग्रन्थ इसी पद्धति पर हैं।
७. 'प्रसाद जी की कला', 'हिन्दी काव्य विमर्श' आदि उल्लेखनीय हैं।
८. 'महाकवि सूरदास', 'सूर संदर्भ', 'प्रेमचन्द' आदि।
९. 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत' : एक अध्ययन आदि।

की लयी इस क्षेत्र मे भी प्रमुख रही। गगाप्रसाद पाडेय[1] और निराला[2] जी ने भी कुछ व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी हैं। प्रगतिवादी समालोचकों ने भी अपनी दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के विविध लेखको की समीक्षा की है। इनके पश्चात् प्रयोगवादी समीक्षा-पद्धति भी 'तार सप्तकों' के वातावरण मे गूँजती हुई मिलती है। वादो और सिद्धातो के पचडे मे न पडकर कुछ स्वतत्रमना आलोचक भी साहित्य-साधना मे लीन दिखाई देते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', परशुराम चतुर्वेदी तथा प्रभुदयाल मीतल ऐसे ही समालोचक हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा भगवतशरण उपाध्याय सास्कृतिक इतिहास पुरातात्त्विक शोध और विश्व साहित्य परपरा की दृष्टि से व्यावहारिक आलोचना-क्षेत्र म कार्य कर रहे हैं। इन दिशाओ मे विस्तार की पर्याप्त सभावनाएँ हैं।

व्यक्तिवादी दर्शन का विकास

१८ वीं शती मे मानववादी दृष्टिकोण विकसित हुआ। मानव की गति को अवरुद्ध रखनेवाली गतिहीन या प्रतिगामी शक्तियो को मानव की हुकार और उसकी शक्ति का पहली बार अनुभव हुआ उसे ज्ञात हुआ कि क्राति का मार्ग भी अपनाया जा सकता है। बुद्धिवाद ने प्रथम क्रातिकारी रूप को सुसज्जित किया धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास धराशायी होने लगे। रूसो ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि मनुष्य अपने मौलिक रूप से उच्छिन्न हो गया है।[3] रूसो का लक्ष्य क्राति का स्थूल और व्यवस्थित रूप प्रस्तुत करना नही था। पर उसन अपनी विचार-धारा जिस पीडा और विवशता के साथ व्यक्त की थी, उसने जाने-अनजाने प्रसुप्त मानव भाव धारा को जाग्रत करके क्राति के बीजो का वपन कर दिया।[4] इन विचार-स्फुलिंगो की परिणति तीन क्रान्तियो मे हुई: अमेरिकन स्वातन्त्र्य सग्राम, औद्योगिक क्रान्ति और फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति। प्रथम ने ब्रिटेन के राज-तत्र को विकल कर दिया। द्वितीय ने कृषि के स्थान पर औद्योगिक विकास किया, जिससे समाज के आर्थिक मूल्यो मे एक व्यापक उत्क्राति हुई तथा सामन्तवादी मूल्यो को एक प्रबल धक्का लगा। फ्रान्स की राज्य क्राति ने राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनो को पूर्ण कर दिया, दुनिया ही बदल गई। जनवादी शक्तियो को अपना मार्ग स्पष्ट और प्रशस्त दिखाई देने लगा। जहाँ एक ओर प्राकृतिक विधान के अध्ययन को धार्मिक भावनाओ से मुक्त करके शुद्ध वैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक विज्ञान और मानव विकास का तात्त्विक रूप खोजा जाने लगा। अनेक विचारको का अभिनन्दन स्वर उस नव प्रभात मे क्षितिज-व्यापी हुआ। क्राति के पश्चात् मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विपुल सुधार हुए। समानता, बन्धुत्व और स्वतत्रता की पृष्ठभूमि मे 'इगोइज्म' परिवर्तित होकर 'व्यक्तिवाद' बनने लगा।

---

१ 'महाप्राण निराला' और 'निबन्ध निधि' उल्लेखनीय हैं।

२. 'पत और पल्लव' प्रसिद्ध है।

३ F I C. Hearnshaw, Social and political ideas of some representative Thinkers of the Revolutionary Era, Page 90

४ जवाहरलाल नेहरू, द ग्लिम्पसेस आफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ० ३३

इगोइज्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्य का लक्ष्य है। उसका सम्पूर्ण स्नेह, समूचा लगाव अहम् के जीवित सम्पर्क से ही है। स्वार्थमयी प्रवृत्ति ही उसकी प्राण-शक्ति है। परन्तु व्यक्तिवाद उस मानसिक दृष्टिकोण का सूचक है, जिसके अनुसार व्यक्ति समष्टि से पार्थक्य तो कर लेता है, किन्तु वह घोर स्वार्थवादी मनोवृत्तियों के आवेश में अपने अहम् के प्रति सम्पूर्ण स्नेह और लगाव नहीं रखता। कुछ अंशों में व्यक्तिवाद का भावनात्मक आधार जनतांत्रिक सिद्धांत है।[१] व्यक्ति साध्य है और सामाजिक संस्थान साधन है। व्यक्तिवाद ने कई रूप धारण किए। इनमें मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद भी एक है, जो प्रस्तुत अध्ययन में विशेष प्रासंगिक है। फ्रायड की खोजें इसका मूलाधार है। व्यक्ति-मन के चेतन-अचेतन स्तरों की नवीन खोजों ने व्यक्तिवाद के इस रूप को आश्चर्य-सुन्दर बना दिया। मनोविज्ञान की दो शाखायें इस दिशा में सक्रिय थीं व्यक्ति-मनोविज्ञान तथा अचेतन मनोविज्ञान (irrational psychology)। फ्रायड के सेंसर, ईगो, सुपरईगो, इड, ओडिपस काम्प्लेक्स, और इन्हीबिशन सिद्धांत ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं।[२]

मनोविश्लेषण शास्त्र ने मनोविज्ञान को धार्मिक परिधि की कुंडली से मुक्त किया। फ्रायड के साथ एडलर और युग को भी बहुत कुछ श्रेय दिया जाता है। इनकी मूल देन अचेतन के रहस्यमय स्तरों के उद्घाटन के सम्बन्ध में है।[3] "कुल-मिलाकर हम कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद व्यक्ति के उन कार्यों का प्रतिनिधित्व करता है जो समाज और राज्य जैसी संस्थाओं में आश्चर्य के उत्पादक होते हैं, व्यक्ति जहाँ सामान्य से असामान्य होता है और उसके व्यवहारों में अन्तर आता है। असामान्य होने का कारण व्यक्ति की दमित इच्छायें है, जिनसे मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मनो-वैज्ञानिक व्यक्तिवाद फ्रायड की देन है।"[४]

आधुनिक अर्थ में 'व्यक्तिवाद' पश्चिम की ही देन है। इसने अपने मूल स्थान से देश-विदेश की यात्रा की और मनुष्य को सुस्थिर बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान किया। इसकी भूमिका में वैज्ञानिक उन्नति और अन्धविश्वासों के प्रति भ्रांति थी। पुरानी समाज-संस्थाओं में अविश्वास उत्पन्न करके एक नवीन आभापूर्ण समाज की परिकल्पना के प्रति मानव-मन को इसने आस्थावान् बनाया। साहित्य में भी इसके उष्ण प्रभावों का सुखद स्पर्श अनुभव किया गया। कॉडवेल-जैसे मनीषियों ने मध्यवर्गीय साहित्य-चेतना को व्यक्तिवादी घोषित किया। कलावादी तथा मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ साहित्य-सृजन के क्षेत्र में खिल उठीं। दार्शनिकों ने इसको आवश्यक जीवन-रस दिया। बुद्धि और भाव

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ४४

2. "The Censor, the ego, the super ego, the is, the oedipus complex *and the envitaions are mind deties like the weather deties*"
—*C. Caudwell, Studies in Dying Culture,* Page 15

३. देखिए 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान', डा० देवराज, पृ० ३८

४. डा० बलभद्र तिवारी, आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका, पृ० २२

के अतिचार का समन्वय काट ने किया। उनकी दृष्टि से शुद्ध ज्ञान बुद्धि और अनुभव के सयोग का परिणाम है। काट के उसी सयोग मे व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व विलय हो जाता है। काट की चार विरोधी प्रतिपत्तियाँ मुख्य हैं[1]—१ गुणात्मक क्षेत्र मे व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व विलय हो जाता है, अर्थात् कला या सौन्दर्य की सुखानुभूति तटस्थ अनुभूति है। २ काव्य रूपात्मक है तार्किक और सैद्धान्तिक नही, यह विरोध परिभाषात्मक विशेषता के क्षेत्र मे है। ३ तीसरा विरोध प्रकारात्मक विशेषत्व का है, सौंदर्य उपयोगी होते हुए भी उपयोगिता के सामान्य गुणो से रहित है। ४ इस विरोध का सम्बन्ध निर्देश के क्षेत्र से है। इस परिक्षेत्र मे सौन्दर्य-वस्तु उद्देश्य-पूर्ण है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रयोजन के नियमो से रहित। इस दार्शनिक विचारणा ने जीवन और साहित्य को विशेष प्रभावित किया। फिक्टे ने विवेकरूप मे आत्म-कल्पना की, लेसिंग ने आत्मा और अनात्मा का सम्बन्ध ज्ञान क्षेत्र म अपेक्षित बताया। १८वी शती तक दार्शनिक पक्ष पर आध्यात्मिक रग चढता रहा व्याख्या के आयाम परिवर्तित हुये। १६ वी शती के अन्तिम अश म इतिहास-सम्बन्धी धारणायें बनी इतिहास पर भी पुनर्विचार आवश्यक है।[2] वह मात्र अतीत विवरण नही उसकी भी कारण-कार्य-परम्परा व्यक्ति और समाज के विविध सस्थानो से प्रेरित है। सभ्यता के विकास के विशेष स्तरो पर नवीन दृष्टियो से अध्ययन किया जाने लगा।[3] अपनी विचार-धाराओं की पुष्टि मे विभिन्न देशो के इतिहास के उदाहरण प्रस्तुत किय गय। डार्विन ने मनुष्य के प्राकृतिक विकास का इतिहास प्रस्तुत किया। यद्यपि मनुष्य विकास को जड प्रकृति-शक्तियो से प्रेरित मानने के सम्बन्ध मे आपत्तियाँ उठाई गई, पर इस विकास-पद्धति और निरूपण-शैली ने बुद्धिवाद की गति को प्रभावित अवश्य किया। बीसवी शती की दार्शनिक विचारधारा ने बौद्धिक अतिवाद को नियमित किया। इन सभी धाराओ ने नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।[4]

व्यक्तिवादी विचार-धारा का जो रूप साहित्य से सबद्ध हुआ, उसका रूप नियोजन और प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतनावाद ने किया। फ्रायड ने अचेतनस्थ आदिम और अतृप्त वासना वृत्तियाँ, जो प्रतिक्षण परितृप्ति और अभिव्यक्ति के लिये सघर्षशील रहती हैं, की सामाजिक नियत्रण-जन्य कुठाओ और उनके दमन की क्रिया-प्रतिक्रियाओ का यथार्थवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कुठित वृत्तियो का केन्द्र काम है, इनका उदात्तीकृत रूप भी होता है। इस प्रक्रिया मे असामाजिक तत्त्व सामाजिक कार्यों के सम्पादन म आश्चर्यजनक शक्ति देते है। इसका अवसर न मिलने पर विकृतियाँ मानसिक व्याधियो की सृष्टि करती हैं। स्वप्न-दिवास्वप्न इन्ही की छवि-कृतियाँ हैं—फ्रायड के अनुसार कलाकार तिरस्कृत और उपेक्षित वृत्तियो की कल्पना-मूलक परितृप्ति की योजना इस प्रकार करता है कि अभिव्यक्ति की छलना से अविज्ञ समाज उन्हे सहज रूप म ग्रहण कर लेता है। यह प्रतिभा सृजन का मर्म-रहस्य है। कुठायें 'सौन्दर्य' की सृष्टि करती हैं। रूपगत

१ देखिए 'आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका', बलभद्र तिवारी, पृ० ३६

२ देखिए डा० ताराचद 'इतिहास और साहित्य' शीर्षक लेख, अनुसन्धान की प्रक्रिया, पृ० १६७

३ स्पेंग्लर और टायनबी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

४ P A Sorokin, Social Philosophy of and Age of Crisis, Page S

सौन्दर्य आस्वाद्य आनन्द का कारण है। पाठक की दमित इच्छायें भी इन कलाकृतियों के सम्पर्क से एक तुष्टि प्राप्त करती हैं। उसको इनकी आनन्दात्मक अनुभूति होती है।[१]

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अचेतन पाप (guilty complex) के तनाव से मुक्त होने के लिए कलाकार कला की रचना में प्रवृत्त होता है। उसकी कृति उसे आंशिक रूप से मुक्ति प्रदान करती है। मनोविज्ञान की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने बीसवीं शताब्दी में बुद्धि के अभेद्य घटाटोप में अनुभूतिपरक तत्व की विजय घोषित की। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में मनोवेगों की भूमि पर व्यक्तिवाद की अत्याधुनिक रूप में प्रतिष्ठा की गई है।

विश्व-साहित्य को भी व्यक्तिवादी धारा ने प्रभावित किया। व्यक्ति-केन्द्रित साहित्य की परम्परा तो सुदीर्घ है, पर व्यक्तिवादी दर्शन का प्रभाव नवीन है। अंग्रेजी का रोमांटिक साहित्य व्यक्तिवादी दर्शन से युक्त था। वर्ड्सवर्थ की साहित्यिक स्वच्छन्दता और उसका अंतर्मुख चिंतन, प्राकृतिक जीवन के प्रति अनुराग, आत्मा की मनोहर छवि और नारी के सौन्दर्य-चित्रण में रुचि से इसी का प्रमाण मिलता है। मानसिक अवृत्तियों ने प्रथम बार नारी को साहित्य में इस रूप में स्थान दिया कि हम लेखक के अन्तर्द्वन्द्व से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। कलावाद की पृष्ठभूमि में भी व्यक्तिवादी विचार ही हैं। अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त में भी मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद का गहरा प्रभाव रहा। कवि-मानस की क्रियाओं तथा विशेष क्षणों के विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाया जाता है। अन्तःप्रज्ञा, बौद्धिक खोजों, सामान्य इच्छाओं (आर्थिक क्रियाओं) तथा सार्वभौमिक उद्देश्यों की इच्छा का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। सौन्दर्य-बोध की सहज प्रज्ञा अभिव्यंजना का सुरम्य विधान करती है। क्रोचे ने चेतना के दो स्तर माने हैं। इनमें प्रथम का सम्बन्ध सहज प्रज्ञा अथवा अभिव्यक्ति के भावात्मक सिद्धान्त से सम्बन्धित अज्ञात परिधि से है और द्वितीय का आत्मा के अज्ञान से। यह अज्ञान ही अचेतन क्षेत्र है। कल्पनातत्त्व को क्रोचे ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। मूर्तीकरण की प्रक्रिया को उसने मनोवैज्ञानिक ढंग से ही प्रस्तुत किया। संक्षेप में कला और अभिव्यंजना में अभेद मानकर क्रोचे ने उसे शुद्ध मनोमय भूमि प्रदान की। कला की स्वयंपूर्णता व शुद्धता की दृष्टि से उसने उसको सभी प्रकार के वैज्ञानिक, सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों से पृथक् रखा।[२] परम्परावादी बाह्य उपकरणों का निषेध करके क्रोचे ने एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जो प्रधानतः व्यक्तिवादी दर्शन पर आधारित है। संक्षेप में समाजशास्त्रीय दृष्टि से मार्क्सीय भूमिका पर कॉडवेल (Codwell) ने मध्यवर्गीय साहित्य का आधार व्यक्तिवादी माना है। कलावादियों ने भी प्रच्छन्न रूप से व्यक्तिवाद का ही सहारा लिया। मनोवैज्ञानिकों ने तो उसकी रागात्मक प्रतिष्ठा ही कर दी।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभावस्वरूप पुनर्जागरण काल में व्यक्तिवादी भूमिका बनने लगी थी। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द ने मध्य वर्ग की चेतना को एक प्रकार से झकझोर दिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने क्रांति की

१. देखिए 'नया साहित्य : नये प्रश्न', नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ५४
२. Literary Criticism: a Short History, Alfred A Knope, Page 515

चिनगारियाँ इसमे भर दी थी। आरम्भ मे राष्ट्रीय विचार-धारा के नीचे व्यक्तिवाद दबा रहा। पीछे असफल आंदोलनो से उत्पन्न निराशा और रूढ़ सामाजिक बधनो से उत्पीड़ित अहम् स्फुटित होकर मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद की स्थापना करते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य मे व्यक्तिवाद का प्रबल घोष हो गया। भारतेन्दु युग के ह्रासोन्मुख सामतवादी मूल्यो और ब्रिटिश पूँजीवाद के वातावरण मे मध्यवर्ग ही विशेष जागरूक हो रहा था। मध्यवर्ग की जागृति व्यक्तिवादी तत्त्वो से युक्त होती है। द्विवेदी युग मे आदर्शात्मक व्यक्तिवाद के तत्व प्रबल हो गय। आदर्शवाद और नैतिकता व्यक्तिवाद के अतिरिक्त सभार बनकर द्विवेदीयुगीन विचार-धारा के अग बन गये। श्रीधर पाठक के कृतित्व मे स्वच्छदतावादी कवि-रूप दिखाई पड़ता है। आगे के स्वच्छदतावादी युग की प्रेरणा का मूल स्रोत इन्ही के कृतित्व मे है।

छायावाद युग मे बुद्धिवाद का एक विस्फोट ही मानना चाहिए। काव्य मे वैयक्तिक प्रेम-चर्चा, समाज के निष्ठुर विधान से पलायन, अतृप्तियो का दु:खवादी निरूपण, प्रकृति पर प्रेमास्पद भावो का आरोप तथा प्रतीकात्मक छद्मवेशी अभिव्यक्ति की परितृप्तिकारिणी छवियाँ छायावादी कवि को व्यक्तिवादी भूमिका प्रदान करते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यक्तिवाद को उभारनेवाली शक्ति अतृप्त वासना है। अतृप्ति की आग से सतप्त कवि समस्त समाज के हित पर इतना ध्यान नही दे सकता। अपनी वासनाओ की अतृप्ति के मूल कारण समाज के प्रति उसका एक क्रातिमय आक्रोश भी होता है। 'पर वह ऐसा वीर होता है कि समाज को ध्वस्त करने की प्रतिज्ञा के साथ आत्मघात की भी धमकी देता है।"[१] समष्टिगत दर्शन पर आधारित चेतन धारा छायावादी कवियो को कभी-कभी स्पर्श तो करती है, पर उसकी अभिव्यक्ति और वैयक्तिक पीडा उसे व्यक्तिवाद की सीमा से बहुत दूर नही जाने देती।

जिस समय छायावाद का उन्मेष हो रहा था उस समय नवोदित भारतीय दर्शन के प्रभाव से मानवतावाद की पुनः स्थापना हो रही थी। स्वतत्रता-प्राप्ति के प्रयत्नो पर आध्यात्मिक मानवतावाद की छाया थी। मानवतावाद कभी तिलक के 'गीता-रहस्य' मे प्रतिपादित नवीन कर्मवाद, कभी अरविंद से प्रभावित अतिमानव की विकास-कल्पना तथा कभी गाधीजी से प्रभावित सत्य की विजय के विश्वास और राष्ट्रीयता का रूप धारण कर रहा था। इस प्रकार देश की राजनैतिक चेतना का स्रोत आध्यात्मिक भावो की युगानुकूल परिणति मे था। राष्ट्रीय आन्दोलन मे मध्यवर्ग को विशेष त्याग करना पडा। निराशाओ और असफलताओ ने इस वर्ग के धैर्य की कठिन परीक्षा ली। अग्रेज़ी शासन ने भारतीय जनता को नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो की सुविधाओ का सीमित प्रयोग ही करने दिया था। अतः समाज समुचित रूप मे विकास नही कर पाया था। विश्वविद्यालयो का वातावरण कुछ अधिक विकास और नवीनता लिए हुए था। विश्वविद्यालयो मे आनेवाला मध्यवर्गीय युवक ससार की सामाजिक क्रातियो की आत्मा से परिचित होने लगा था। वह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी अवगत होने लगा। यूरोपीय समाज की विकसित अवस्था

१. संस्कृति और साहित्य, डा० रामविलास शर्मा, ० १६-१७

और उसमें मिलनेवाली स्वच्छन्दता इस युवक के लिए आकर्षण बन गई। 'नारी' ने वहाँ एक नवीन जीवनोन्मेष भी प्राप्त किया था। मध्यवर्गीय शिक्षित युवक पाश्चात्य बुद्धिवाद और विचार से प्रभाव ग्रहण करने लगा। इसके तीन परिणाम हुए : अविकसित या अर्धविकसित तत्कालीन भारतीय समाज की आदर्शवादी व्यवस्था में एक घुटन का अनुभव होने लगा, अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी या रोमांटिक कवियों की भाव-धारा और अभिव्यक्ति एक सुन्दर स्वप्न-लोक के अभिमंत्रण के समान मोहक लगने लगी, तथा समाज की वास्तविक स्थिति और जीवन-संस्कृति का सम्पर्क कम होने लगा। यहाँ तक की राजनैतिक चेतना की गति-दिशा में भी उसका सीधा सम्पर्क नहीं रहा। पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण के ज्ञात-अज्ञात रूपों तथा तज्जन्य निराशाओं ने उसे आर्थिक उत्पीडन दिया और मानसिक पीडा की कसक को बढा दिया। "स्वतंत्रता के नाम पर व्यक्तिगत पूंजी का विस्तार करता हुआ, यह वर्ग समाज में असंतोष और विषमता को बढाता गया। मध्यवर्गीय समाज जिस जमीन पर खड़ा हुआ था, वह उसी के पैरों तले से खिसक गई। किन्तु इसकी अभिज्ञता उसे अंत तक न हो सकी। यही मध्यवर्ग के उत्थान और पतन की दुखांत कहानी रही है।"[१] कॉडवेल ने स्वच्छन्दतावादी कवियों की यही भूमिका स्वीकार की है। इसी भूमिका में साहित्य व्यक्तिवादी और अंतर्मुखी हो जाता है। कल्पना की मनोरम विस्मृति, स्वच्छन्दता की छविमय गहरी प्रकृति, प्रकृति की आमंत्रणमय मूक मुखरता, भाषा की प्रतीकात्मक सज्जा, उन्मुक्त प्रेम की आत्मचुम्बी गहराइयाँ और राग की वैयक्तिक सरणियाँ इस प्रकार के साहित्य की विशेषताएँ बन जाती हैं। इसी में उसकी आनंद-यात्रा की अभिलाषा[२] सुख पाती है। सामाजिक स्वर से संस्पृष्ट और कवि के आत्म-तत्त्व में व्याप्त दर्शन भी इस साहित्य का अंग बन जाता है। भाव का चित्र दर्शन के चित्रपट पर उतरता है।[३]

छायावादी कविता में समष्टिगत अनुभूतियों की भी अवहेलना नहीं हुई। प्रसाद की कुछ कविताओं तथा नाटकगत कुछ गीतों में जागरणकालीन उद्बोधन, अतीत गौरव[४] एवं मानव-प्रेम भर उठे। 'हिमालय के आगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा'[५] तथा 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से' आदि गीत इस राष्ट्र-प्रेम के

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, नंददुलारे वाजपेयी, पृ० ८५

2. "It is undesirable that the exercise of a creative power, that a free creative activity is the function of man; it is proved to be so by man's finding in it, his true happiness".

—Mathew Arnold, Essays on Criticism, The function of criticism at the present time.

3. "Poetry is the spontaneous overflow of powerful emotions recollected in Tranquility".

—*Wordsworth, preface to Lyrical Ballads.*

४. स्कंदगुप्त, अंक ५

५. चन्द्रगुप्त, पृ० १००

उदाहरण हैं। निराला जी ने 'महाराज शिवाजी का पत्र'[1] तथा 'जागो फिर एक बार'[2] जैसे गीतों की रचना की। पंतजी ने 'ग्राम्या' के गीतों में राष्ट्रीयता की झलक भर दी। पर यह धारा नहीं थी युग की आग्रहपूर्ण प्रेरणा थी। छायावादी धारा तो व्यक्तिवाद के कूल किनारों में ही प्रवाहित होती रही।

हिन्दी-आलोचना मे व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ

आचार्य शुक्ल एक ऐसी सुनिश्चित विभाजक रेखा के समान है, जो द्विवेदी युग को छायावाद युग से पृथक् करती है। उनका आदर्शवादी मापदड यद्यपि समष्टि सग्रह से विशेष प्रभावित था, फिर भी उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे वैयक्तिक आग्रह हैं जो एक सुनियत्रित व्यक्तिवाद की मनोरम झाकी प्रस्तुत करते हैं। शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा व्यक्तिवादी और समाजवादी दो धाराओं म विभक्त हो गई। प्रथम धारा के समालोचक कृतित्व और अभिव्यक्ति का विश्लेषण व्यक्तित्व के आधार पर करते हैं। समाजवादी समालोचक सामाजिक सस्थानों और समाज म होनवाले वर्ग-सघर्षों के आधार पर कृतित्व के स्रोत का विवेचन करत है और उपयोगितावादी मापदड से उसका मूल्याकन करत है।

व्यक्तिवादी समीक्षक मनोविज्ञान आदि नवीन समाज-वैज्ञानिक उपलब्धियो का प्रयोग बौद्धिक अनुशासन के रूप म करता है। वह व्यक्ति के अत स्रोतों में कृतित्व का सबध स्थापित करके समाजोन्मुख अभिव्यक्ति मे मानसिक ततुओं की परिणति देखने की चेष्टा करता है। सामाजिक दायित्व को इस समीक्षा पद्धति म द्वितीय स्थान प्राप्त है। निजी व्यक्तित्व के आग्रहों के प्रति कवि किस प्रकार अपने दायित्व का निर्वाह कर रहा है, यह देखना ही वह अपना धर्म समझता है। छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं के स्पष्टीकरण में व्यक्तिवादी विचारणा प्रस्तुत की है। महादेवी[3] ने अहम् का आध्यात्मिक रूप प्रतिष्ठित करके और आत्म तत्व को प्रधानता देकर एक शुद्ध भारतीय व्यक्तिवादी दर्शन को छायावादी काव्य की भूमिका मे रखने का प्रयत्न किया है। उनकी करुणा वैयक्तिक स्तर पर उदित होती है, पर भगवान् बुद्ध की समाजोन्मुख करुणा का सस्पर्श करती सी दीखती है।

शुक्लजी आदर्शवादी दृष्टि के कारण छायावाद का स्वागत अथवा समर्थन न कर सके।[4] सभवत उन्हें छायावादी काव्य धारा की अपेक्षा श्रीधर पाठक और मुकुटधर पाडेय की रचनाओं में विशेष स्वास्थ्य और सौंदर्य मिला। फिर भी व्यक्तिवादी स्वच्छन्द काव्य धारा उनकी दृष्टि को बरबस अपनी ओर खीच खीच लेती है—"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे धीरे काव्य शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमे

---

१ परिमल, पृ० २२५

२. वही, पृ० २०३

३ इनका विचार धारा के लिये द्रष्टव्य हैं—आधुनिक कवि, भूमिका, पृ० २२, यामा, अपनी बात, पृ० ८, दीपशिखा, भूमिका, पृ० १६

४ देखिए 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास', डा० भगवतस्वरूप मिश्र, पृ० ४१०

भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप सघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखायी पडी।"[१] वास्तव मे वस्तुवाद और यथार्थवाद के उस युग मे छायावाद ने कल्पना और भावुकता की स्थापना की। इसमे इतिवृत्त के स्थान पर आत्माभिव्यंजना की सूक्ष्मता है। वर्णन की स्थूलता नही, ध्वन्यात्मकता है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी के विस्मृत मूल को पकडा। उनको लगा कि यद्यपि शुक्लजी की रसास्थायुक्त और समष्टिमूलक दृष्टि छायावाद की समुचित व्याख्या न कर सकी, फिर भी उसकी काव्य-सामग्री के वैभव ने शुक्लजी को कुछ आशावान् अवश्य बनाया था। वाजपेयीजी ने काव्य मे मानव वृत्तियों की महत्ता स्वीकार की और मात्र अभिव्यंजना की वक्रता को निम्नतर स्थान दिया।[२] उनकी आलोचना-शैली की दो प्रधान विशेषताएँ है कलाकार के अन्तर्जगत् का अध्ययन तथा कृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। वाजपेयीजी की समीक्षा-पद्धति मे दर्शन का बोझ नही है। उनकी शुद्ध साहित्यिक दृष्टि मनोविज्ञान से सहायता लेती है और अपनी अनुभूतियों के आधार पर समीक्षा करने की उनकी चेष्टा रहती है। नवीन व्यक्तिवादी आलोचना के क्षेत्र मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य शुक्ल और डा० नगेन्द्र

नगेन्द्र जी का व्यक्तिवादी दर्शन दो रूपों मे प्रकट हुआ है : पूर्व युगो की प्रतिक्रिया के रूप मे तथा आलोचना-प्रक्रिया मे। प्रतिक्रिया द्विवेदीयुगीन काव्य-दृष्टि के प्रति[३] तथा शुक्लजी की आदर्शवादी समष्टि-संग्रह-मूलक आलोचना पद्धति के प्रति हुई। आलोचना की प्रक्रिया सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्रो मे प्रकट हुई। यह उल्लेखनीय है कि छायावादी कविता का समर्थन चाहे शुक्लजी न कर पाये हों, पर वे उसकी सम्भावनाओ के प्रति आशावान् थे और उसकी शैलीगत मनोरमताओ के प्रति एक आकर्षणमय सहिष्णुता का भी अनुभव करने लगे थे। शुक्लजी की आलोचना-शैली मे उनके व्यक्तित्व का निर्जीवन भर गया। यदि प्राचीन तत्त्व भी थे, तो उनके व्यक्तित्व के सस्पर्श ने उन्हे नवीन रूप मे ढाल दिया। विदेशी आलोचना के क्षेत्र की उपलब्धियो से भी यह प्रबुद्ध मनीषी आचार्य विमुख नही रह सका। विदेशी सिद्धातो की भी उन्होने मीमासा की है। अपने पक्ष-समर्थन मे उन्होने आई० ए० रिचर्ड्स को उद्धृत किया है : सम्भवतः वे उनके प्रिय आलोचक थे। स्पिन्गार्न का भी उल्लेख अनेकत्र है। क्रोचे-ब्रैडले का उन्होंने प्राय. विरोध ही किया है : 'अभिव्यंजनावाद' और 'कला कला के लिये' सिद्धातों के प्रवर्तक जो ठहरे। प्लेटो, अरिस्टाटल, जो० डब्ल्यू० मैकेल, ए० टी० स्ट्रांग, राबर्ट ब्रेब्ज, लारा राइडिंग, पेटर आदि के उल्लेख भी मिलते हैं। इस प्रकार विदेशी समीक्षा-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७३।

२. "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव जगत् और मानव वृत्तियों से है। जबकि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्य प्रकाशन से।"
—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ५६

३. देखिए (अ) विचार और अनुभूति, पृ० ५२, (आ) अनुसधान और आलोचना, पृ० ७६

सिद्धांतो के प्रति लेखक की सजगता स्पष्ट हो जाती है। शुक्लजी ने उनके मतो को उद्धृत करके या उनके नामोल्लेख द्वारा अपने विस्तृत अध्ययन को ही प्रकट करना नही चाहा है, उन पर मीमांसा भी की है। जहाँ तक सैद्धांतिक समीक्षा का प्रश्न है, उसमे मनोविकारो का *अर्द्धमनोवैज्ञानिक विवेचन तथा उनकी सामाजिक परिणति की व्याख्या की पृष्ठभूमि मे रस*-सिद्धात को नवीन रूप शुक्लजी ने ही दिया है। उन्होंने रस-दशा की अभूतपूर्व व्याख्या की है, जिसमे नूतनता अँगड़ाई ले रही है। व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की चर्चा भी इस प्रसग मे मौलिक है। शुक्लजी के कृतित्व की छाया उनके आगे के समीक्षको पर भी व्यक्त-अव्यक्त रूप से पड़ी है।

शुक्ल जी के जीवन-काल मे ही उनकी सीमायें भी दिखाई देने लगी थी। सक्षेप मे उनकी समीक्षा के तत्त्व ये थे आदर्श-निष्ठ नीतिवाद, वैयक्तिक अभिरुचि का अतिशय आग्रह, प्रगीत की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य की ओर विशेष आकर्षण, सगुणमार्गी कवियो की श्रेष्ठता की मान्यता, निर्गुणमार्गी तथा रीति साहित्य के प्रति उपेक्षा तथा असहिष्णुता, नवीन काव्य-प्रवृत्तियो के वास्तविक मूल्याकन की आशिक असमर्थता[1]। इन दृष्टियो के प्रति प्रतिक्रिया शुक्लोत्तर समीक्षा मे दृष्टिगत होती है। डा० नगेन्द्र मे भी प्रतिक्रिया का स्वर सुनाई पड़ जाता है। प्रगतिशील लेखको ने उनमे तर्क की अपेक्षा दुराग्रह ही अधिक पाया जिज्ञासा की अपेक्षा पाडित्य-प्रदर्शन ही उनको विशेष दीखा।[2] शुक्लोत्तर सैद्धांतिक समीक्षको के सम्बन्ध मे लिखते हुये डा० नगेन्द्र ने भी लगभग यही कहा है—"इनका सबसे बड़ा गुण न्यायसगत निष्पक्षता है। इनमे शुक्लजी की-सी गम्भीरता और घनता नही है, अत उनकी शुष्कता और हठवादिता भी नही है।"[3] इस उद्धरण से नगेन्द्र जी की ही प्रतिक्रिया प्रकट नही हो रही, नवीन सैद्धांतिक समीक्षको के सशोधनवाद की भी प्रवृत्ति स्पष्ट है। उनमे छायावादी काव्य की, भारतीय और पाश्चात्य स्रोतों का उपयोग करते हुये, व्याख्या करने की एक नवीन प्रवृत्ति मिलती है। डा० नगेन्द्र भी छायावादी रग मे रग गए। छायावाद के प्रति सहानुभूति उनकी प्रथम साहित्यिक प्रतिक्रिया मानी जा सकती है। उन्होने यह अनुभव किया कि शुक्लजी छायावाद को शैली का एक तत्त्व-मात्र मानते थे। इसका कारण है शुक्लजी की वस्तुपरक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यजना मे निश्चित अन्तर मानकर चलती थी।[4] शुक्लजी के आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व की ऐतिहासिक व्याख्या नगेन्द्रजी ने इन शब्दो मे की है—"शुक्लजी के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत कुछ सुधार-युग मे हो चुका था, अत उनके ये सस्कार विदेशी शिक्षा-दीक्षा के बीच भी जड़ पकड़े रहे।[5] शुक्लजी के विस्तृत दृष्टिकोण तथा उनकी समीक्षा पद्धति के सम्बन्ध मे यदि कोई त्रुटि थी, तो नैतिकता के आधार की थी।[6] शुक्लजी का विरोध कभी-कभी

---

१. डा० जगदीश गुप्त, आलोचना, वर्ष ३, अक १, पृ० ६७
२ श्री शिवदानसिंह चौहान, साहित्य की परख
३ विचार और अनुभूति, पृ० ६५
४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० ५६
५. वही, पृ० १००
६ "ये सिद्धान्त यद्यपि अब तक के सभी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्क संगत थे, परन्तु इनका मानसिक आधार नैतिकता के ऊपर ही टिका हुआ था।"

—विचार और अनुभूति, पृ० १००

नगेन्द्र जी मे विशेष मुखर हो उठा है। यह ऐसे वाक्यों में स्पष्ट है—"मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नही कर सकता, क्योकि इसमे एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयसिद्ध तर्क का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यतः उच्छ्वसित हो जाती है।"[१] इस प्रकार उन्होंने शुक्ल जी की आदर्श-निष्ठा और सामाजिक नैतिकता पर आधारित दृष्टि के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया के छायावादी स्वर के साथ अपना स्वर भी समवेत कर दिया।

नगेन्द्र जी ने अनेकत्र शुक्ल जी का महत्त्वांकन भी किया है—"शुक्ल जी प्राणवान् पुरुष थे; उनमे जीवन था, गति थी। यह गति संस्कारवश आगे को अधिक नही बढी, इसलिये भीतर को बढती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गाम्भीर्य और शक्ति। जो कुछ उन्होंने विस्तार मे खोया वह गहराई मे और घनता मे पा लिया।"[२] विस्तार और अग्र गति के अभाव मे शुक्ल जी का व्यक्तित्व युग के साथ नही चल सका। शुक्ल जी ने पुनराख्यान की आवश्यकता समझी और इस कार्य का प्रवर्तन उन्होने कर दिया— "हिन्दी साहित्य की परम्परा को आधार मानकर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल......के विवेचन मे मिल जाता है। शुक्ल जी ने भारतीय सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार विवेचन-आख्यान किया है।"[३] पुनराख्यानक के रूप मे शुक्ल जी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस पुनराख्यान मे सामंजस्य की शक्ति विद्यमान थी। नीति (शिव) का मनोविज्ञान (सत्य) एव सौन्दर्यशास्त्र (सुन्दर) के साथ जितना सामजस्य सम्भव था, उतना शुक्ल जी ने कुशलता से एक मर्मज्ञ आचार्य की भाँति किया।[४] उनकी विशेषता पूर्व और पश्चिम की समीक्षा की अनुभूत्यात्मक चिन्ता थी। उनके व्यक्तित्व की जो परिसीमाएँ थी, उन्होंने ही नगेन्द्र जी को प्रेरणा दी। नगेन्द्र जी विकास का दूसरा कदम बने।

नगेन्द्र जी के व्यक्तिवाद का स्वरूप

नगेन्द्र जी के व्यक्तिवाद के दो किनारे माने जा सकते हैं : छायावादी प्रभाव तथा फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र की मान्यता। छायावादी प्रभाव ने पहले नगेन्द्र जी को कवि बनाना चाहा, फिर वह समीक्षक नगेन्द्र के कर्तृत्व का एक अनुभूति-प्रधान अग बन गया। छायावादी प्रभाव को नगेन्द्र जी ने अनेकत्र भावपूर्ण शैली मे स्वीकार किया है। आरम्भ में छायावाद को अपने समर्थन के लिए आलोचकों का मुखापेक्षी होना पड़ा था, किन्तु बाद मे उसकी प्रभाव-क्रिया इतनी तीव्र और व्यापक हो गई थी कि गुप्त और हरिऔध जैसे नैतिक आदर्शवादी कवियों पर भी इसका जादू चढने लगा था।[५]

१. अनुसंधान और आलोचना, पृष्ठ ८
२. विचार और अनुभूति, पृ० ६२
३. विचार और विश्लेषण, पृ० १०
४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० १००
५. "छायावाद का अब एक व्यापक प्रभाव था। उसका जादू हरिऔध और मैथिलीशरण के सिर पर चढ़कर बोल रहा था। अब उसे आलोचकों के कृपा-कटाक्ष की अपेक्षा नहीं थी।"
—विचार और अनुभूति, पृ० १०२-१०३

सन् १९७५ तक नगेन्द्र जी पर छायावाद के कवियों का गहरा प्रभाव पड चुका था : "उस समय तक मैं पत के अतर्बाह्य-एव सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पर्क मे आ चुका था, निराला की मुक्तकुतल विराट् पुरुष-मूर्ति के अभिभूत करनेवाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था, महादेवी की कविता के रसभीने रगो और उनके व्यक्तित्व एव वेशभूषा की सादगी के बीच सामजस्य स्थापित कर चुका था..... ।"[१] अवसर मिलने पर नगेन्द्र जी ने छायावाद का प्रशस्ति-गान भी किया है।[२] छायावाद के साथ एक ओर अग्रेजी रोमानी दर्शन सम्बद्ध था तथा दूसरी ओर रवीन्द्र का अनुभूति-दर्शन भी उससे ससृप्ट था।[3] पर, प्रसाद के दर्शन का स्रोत शुद्ध भारतीय था—"अपने युग के रोमानी वातावरण से प्रेरित होकर वे पश्चिमी साहित्य की ओर नही गये वरन् भारत के प्राचीन साहित्य मे बिखरे हुए रम्याद्भुत तत्त्वो का सधान करने लगे, जिसकी चरम परिणति हमे कामायनी मे मिलती है।"[४] प्रसाद जी के काव्य मे शैवागमाश्रित आनदवाद ही है जिसका यदि एक छोर शृङ्गार है तो दूसरा शात।[५] प्रसाद ही नही, अन्य छायावादी कवियो मे भी भारतीय दर्शन की झलकियाँ मिल जाती हैं इन कवियो का आधार बौद्धिक था—'अन्य कवियो की कृति के पीछे आरम्भ से ही एक दृढ बौद्धिक आधार था—यथा प्रसाद मे शैव दर्शन, निराला मे अद्वैतवाद, पत मे भविष्योन्मुख आदर्शवाद—वहाँ माखनलाल जी मे एक असम्बद्ध, रहस्यमय चितन-मात्र था।" महादेवी जी ने छायावाद मे सर्ववाद की प्रतिष्ठा की। उन्ही के शब्दो मे 'छायावाद करुणा की छाया मे सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही है।" इस प्रकार बौद्ध दर्शन की समाजोन्मुख करुणा, आध्यात्मिक पीडा से कलवित दु खवाद, भावात्मक अद्वैतवाद और सर्ववाद छायावादी काव्य का दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत करते हैं। ये सब मिलकर मानवतावाद को जन्म देते हैं। गाधी-दर्शन के स्पर्शो ने भी इस पद्धति को आत्माभिराम बना दिया। छायावाद के साथ गाधी-दर्शन का सयोग स्वीकार करना उचित ही जान पडता है। जिन सामाजिक परिस्थितियो ने गाधीवाद को जन्म दिया, उन्होंने ही छायावाद को प्रेरणा दी।

---

१. अनुसधान और आलोचना, पृ० १०६

२. "जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य चेतना जगाकर एक बृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया, जिसने उसकी वस्तुमात्र पर अटक जानेवाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश करके सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाववीचियों को पकड सके; जिसने जीवन की कुठाओं को अनत रगवाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया... उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्तिकाव्य ही कर सकता है।"

—विचार और अनुभूति, पृ० ६०

३. देखिए 'अनुसधान और आलोचना', पृ० ४०-४१

४ वही, पृ० ४१

५. "शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रस की दोनों सीमाओं—शृङ्गार और शान्त—को स्पर्श करते थे। .. यह शात रस निस्तरंग महोदधिकल्प, समरसता ही है।"—प्रसाद

उपर्युक्त सन्दर्भ में नगेन्द्र जी का मत निम्नलिखित है—"बाद मे तो गाधीवाद ने छायावादी रचनाओं को सीधी प्रेरणा दी। दोनों में जो एक स्पष्ट अंतर दिखाई देता है वह मूल चिंता का अंतर नहीं है, अभिव्यक्ति के माध्यम का अंतर है।..........छायावाद और गांधीवाद का मूलदर्शन एक ही है—सर्वात्मवाद।..........भावना के क्षेत्र में जो सौन्दर्य है, वही चिंतन और विचार के क्षेत्र में सत्य है; पहले में जो प्रेम है, वही दूसरे में अहिंसा है।"[१] इस प्रकार छायावादी दर्शन अद्वैतवाद और सर्वात्मवाद के मूलों से अनुप्रेरित है। व्यक्तिवाद को इन्हीं सूत्रों ने आध्यात्मिक अंतर्मुखता प्रदान की। परन्तु इस आध्यात्मिक रूप के नीचे कवि की वैयक्तिक वासनाएँ अंतर्धारा की भाँति प्रवाहित हुई हैं। इन वैयक्तिक वासनाओं को आध्यात्मिकता ने अभिव्यक्ति का संयम और अनुभवों का परिष्कार प्रदान किया।

जैसा कि पहले देखा जा चुका है, मनोविज्ञान के क्षेत्र की शोधों ने भी व्यक्ति के गंभीर और सूक्ष्म स्तरों को प्रकाशित किया। इससे व्यक्तिवाद को भी एक नवीन विश्लेषण प्राप्त हुआ। नगेन्द्र जी को मनोविज्ञान ने भी बहुत अधिक प्रभावित किया। यद्यपि नगेन्द्र जी को फ्रायडवादी शब्द का अपने लिए प्रयोग अनुपयुक्त लगता है[२], पर प्रायः उनके सभी आलोचकों ने उन्हें फ्रायडवादी माना है। मनोविज्ञान ने उनकी आलोचना शैली को नवीन दिशा प्रदान की।[३] इसका कारण यह है कि काव्य की विषय-वस्तु में अनुस्यूत कवि की सौन्दर्यानुभूति, उसकी प्रतीकात्मक और लाक्षणिक अभिव्यक्ति और साहित्य की प्रेरणा सभी कुछ मनोविज्ञान के द्वारा विश्लेष्य थी। आधुनिक युग में व्यक्ति की उद्बुद्ध चेतना और सामाजिक रूढ़ियों के संघर्ष से उत्पन्न मानसिक कुंठाओं का सिद्धांत काव्य पर ठीक ठीक लागू होता है।[४] जहाँ फ्रायड ने व्यक्ति की कामग्रन्थि को उसका केन्द्र माना, वहाँ एडलर ने हीनताग्रन्थि के आधार पर उसकी (साहित्यिक प्रतिक्रिया की) व्याख्या की। युंग की 'जीवनेच्छा' भी व्यक्ति के अंतराल की एक बलिष्ठ वृत्ति की व्याख्या में समर्थ हुई। नगेन्द्र जी ने कामग्रन्थि,[५] जीवनेच्छा[६] तथा हीनताग्रन्थि[७] तीनों को ही यत्रतत्र

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ३
२. "मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं। उनकी यह धारणा गलत है।"
—विचार और विश्लेषण, पृ० ५८
३. "शास्त्र की शब्दावली में काव्य के कला-पक्ष की आलोचना रीति-रूढ़ियों से मुक्त होकर मनोवैज्ञानिक होने लगी।"
—विचार और विश्लेषण, पृ० ६६
४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० ७-८
५. देखिये 'विचार और विवेचन', पृ० ५१-५६
६. "जीवन की मूल भावना है आत्मरक्षा, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है। आत्मरक्षण के उपायों में सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है। अतः क्रियारूप में साहित्य आत्मरक्षा अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है।"
—विचार और अनुभूति, पृ० ११
७. "........समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है : जो हमें जीवन में अप्राप्त है उसी को हम कल्पना में खोजते हैं।"
—वही, पृ० ८

स्वीकार किया है । उन्होने इन तीनो सिद्धातो को परस्पर पूरक माना है । मनोविज्ञान से पुष्ट व्यक्तिवाद आध्यात्मिक रूप धारण करके छायावाद मे आया । प्रसाद के आनदवाद, निराला के अद्वैतवाद, पत की आत्मरति और महादेवी की परोक्षरति इसी मनोविज्ञान से पुष्ट व्यक्तिवाद की आध्यात्मिक परिणति है। साहित्य को जो आलोचक व्यक्ति की आतरिक प्रेरणाओ का फल ही मानता है, वह मार्क्स की अपेक्षा फ्रायड के दर्शन को विशेष महत्त्व देता है । इस सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगेन्द्र जी के विचारो पर मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव है। इसलिए नगेन्द्र जी को मनोविज्ञान की आध्यात्मिक शैलीवाला आलोचक मानना ही अधिक उपयुक्त है।

समाजवादी और व्यक्तिवादी मूल्य

गान्धीवादी विचार-धारा ने व्यक्तिवाद की दिशा बदल दी और उसको एक सुदृढ भूमिका भी प्रदान की । पर, समाजवादी विचार-धारा भी गाधीवाद के साथ साथ प्रवाहित होती रही । डा० नगेन्द्र इन दोनो के सघर्ष को देखते रहे। समाजवादी विचार-धारा के पीछे शाश्वत जीवन-मूल्यो के प्रति एक विद्रोह-भावना प्रबल थी । नगेन्द्र जी ने साहित्य और जीवन के शाश्वत मूल्यों का समर्थन करते हुए अशाश्वतवादी को ललकारा—"समय के अनुसार उसका बाह्य सदैव बदलता रहा है—जीने की विधि बदलती है, परन्तु जीना (आनद-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना) तो निश्चय ही एक शाश्वत सत्य है—इसको घोर से घोर अशाश्वतवादी अस्वीकृत नही कर सकता ।"[1] सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के बदलते हुऐ बाह्य आवरणो को भुलाया नही जा सकता । समय की शक्तियां और युग-प्रवृत्तियां अपने आपमे पर्याप्त प्रबल होती हैं, पर मौलिक मानवीय चिंतन-सत्यो को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता । साहित्य मे इन मौलिक सत्यो का रागात्मक रूप निखरता रहता है । जहाँ तक इन सत्यो को साहित्य के रूप मे ढालने का प्रश्न है, उसको अभिव्यक्ति देने की प्रेरणा और योजना के लिए भी वैयक्तिक चेतना अपेक्षित है । समय पर व्यक्ति भी समाज से अधिक बलवान् होकर उसे मोड दे सकता है ।[2] इसके लिए एक असाधारण प्रतिभा और शक्ति अपेक्षित है। साहित्य भी इन्ही विशिष्ट व्यक्तियों के स्फीत क्षणो की वाणी है ।[3] शत-प्रतिशत सामाजिक प्रतिक्रिया के रूप मे साहित्य को मान्यता देना नगेन्द्र जी को अभीष्ट नही है ।[4] समाजवादी जीवन-पद्धति तथा उसके मूल्यो का घनीभूत रूप हिन्दी मे प्रगतिवाद के रूप मे प्रकट हुआ । नगेन्द्र जी की साहित्यसबधी धारणाएँ उस

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० ११

२. "फिर भी पूर्ण पर विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्त्व आँकें, तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से अधिक बलवती ठहरती है ।"

—वही, पृ० १५

३. "महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा और उद्दीप्त क्षणों की अपेक्षा करता है ।"

—विचार और अनुभूति, पृ० १६

४ देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० १६

समय तक सुदृढ हो चुकी थी। उनका 'आनंदवाद' काव्य की कसौटी के रूप मे परीक्षित और व्यवहृत हो चुका था। प्रगतिवाद साहित्य को सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है, वैयक्तिक नही। प्रगतिवाद ने सत्य, शिव, सुन्दर की नवीन समाजवादी व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की। डा० नगेन्द्र ने प्रगतिवादी जीवन-दर्शन को संकुचित माना, क्योंकि जीवन की धुरी मात्र अर्थ नही है।[१] साथ ही उन्हें यह स्वीकार नही है कि साहित्य को शत-प्रतिशत सामूहिक चेतना कहा जाये—"साहित्यकार में अतर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा उसका अह उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य हो जाएगा।[२] डा० नगेन्द्र को प्रगतिवादी साहित्य मे मिलनेवाली प्रचार-भावना और राजनैतिक विचारो की सी दुराग्रह प्रवृत्ति के प्रति घोर आपत्ति है। इस कसौटी पर साहित्य की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को कसने पर निर्मम निष्कर्ष निकाल लेना अति दुष्कर है। नगेन्द्र जी अत मे कहते हैं—"अतएव आनंद को छोड़कर और कोई कसौटी मानना हमारी समझ मे नही आता। जीवन के मूल्य चिरंतन ही मानने पड़ेंगे क्योंकि जीवन चिरतन है, जीवन की मौलिक वृत्तियाँ चिरंतन हैं—कम से कम मानव-सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तो चिरतन ही चली आई हैं।"[३] प्रगतिवाद की प्रचारवादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उसमें सृजन कम और बुद्धिवादी ऊहापोह और आलोचना ही समृद्ध है। व्यक्ति की तीव्र चेतना के परिपार्श्वों की उपेक्षा करके एक दर्शन की अंधाधुंधी इसे इस रूप में ही स्थापित कर देती है। यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है कि भारत में गाधीवाद से इसका संघर्ष हो रहा है, किन्तु भविष्य अभी अनिश्चित है।

श्री नंददुलारे वाजपेयी और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे गंभीर आलोचक और मनीषी इस नवीन संधान मे निरत हुए। इनमे से प्रथम ने यदि सौन्दर्यवादी तत्त्वों के समावेश से पुनरुत्थान की प्रक्रिया को सबल बनाया, तो द्वितीय ने ऐतिहासिक मानवतावाद और सद्वृत्तियों की विजय के प्रति मानव की आस्था के परिवेश मे प्राचीन को देखा और वर्तमान मे उतारा। डा० नगेन्द्र भी इसी पक्ति मे आते हैं। उन्होंने पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्यशास्त्र की पूरकता मानकर, फ्रायड की खोजों का परीक्षण करके, उनको साहित्य के मानदड के निर्माण मे उचित स्थान देकर, प्रसाद के आनंदवाद की भूमिका पर तथा मनोवैज्ञानिक छवियो से युक्त करके, रसवाद की पुनःप्रतिष्ठा करके, पुनरुत्थान की गति को क्षिप्रता ही नही दी, उसको स्वस्थ दृष्टि और नवीन दिशा भी दी। यदि शास्त्रीय आग्रह नगेन्द्र जी में है, तो भी उसे एकागी नही कहा जा सकता। यदि उनको शुद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक भी माना जाय, तो भी उनकी पद्धति व्यापक और उदार ही कही जायेगी। प्रगतिवादी आलोचना मे न्यायपूर्ण उदारता और बौद्धिक निष्पक्षता एक सीमा मे ही रहती है। आलोचना मे दुराग्रह, पूर्वाग्रह तथा प्रचार पर आधारित एकागिता आलोचना के लिए एक खतरा है। डा० नगेन्द्र की दृष्टि की उदारता ने प्रगतिवाद के विरोध को

---

१. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० ६१-६३
२. वही, पृ० ६६
३. वही, पृ० ६७

उग्र नही बनने दिया । उसके मूल्य-महत्त्व को भी उन्होंने स्वीकार किया है : "प्रगतिवाद की सबसे बडी देन है मार्क्स का दृष्टिकोण । साहित्य की सामाजिक चेतनाओ का अध्ययन स्वय मनोरजक है—उसके द्वारा साहित्य की अन्तर्वृत्तियो पर एक नवीन प्रकाश पडता है । प्रगति का दूसरा शुभ प्रभाव यह हुआ कि आलोचना मे बौद्धिकता की शक्ति आ गई है, जिससे विश्लेषण का गौरव बढ़ने लगा है । विश्लेषण मे अभी प्राय मार्क्स की ही सहायता ली जा रही है, फ्रायड की मतर्प्रवेशिनी दृष्टि अभी हिन्दी को नही मिली······ हमारा विश्वास है कि मार्क्स और फ्रायड का सयत, विवेकयुक्त······उपयोग हिन्दी साहित्य के सूक्ष्मतम तत्त्वो को प्रकाश मे ले आयेगा ।"[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक तत्त्व की उपेक्षा नगेन्द्र जी नही करते । *लेखक या कवि भी समाज से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है । समाज के प्रति उसका* उत्तरदायित्व है और साधारण मनुष्य से अधिक है ।[2] पर लेखकरूप में उसकी प्रतिभा और उसके अभ्यास को केवल एक दायित्व के निर्वाह की साधना करनी है : वह दायित्व है—*निश्छल आत्माभिव्यक्ति* । इस साधना की सफलता पर ही उसकी *कृति* का मूल्य निर्भर है । व्यक्तित्व की महत्ता भी सामाजिक मूल्यों से निरपेक्ष नही है ।[3] पर, इन मूल्यों का निर्णय देशकाल की परिधि मे बाँधकर नही किया जा सकता . अखण्ड शाश्वत *मानव-चेतना-प्रवाह की दृष्टि से ही यह निर्णय करना होगा । मानवीय मूल्यो और* सामाजिक मूल्यों मे पारिभाषिक दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर या विरोध नही है । पर, यदि विरोध हो ही जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय होंगे ।[4] सामाजिक *मूल्यो को अतिशय महत्ता प्रदान करनेवाले प्रगतिवादी लेखको ने आलोचक नगेन्द्र की* गति को कुछ रोका था, जिससे छायावाद की आलोचना करने तथा साहित्यशास्त्र के पुनरुत्थान के द्वारा शाश्वत जीवन-मूल्यों की व्याख्या-स्थापना मे गहराई लाने के लिये उन्हें पर्याप्त अवकाश प्राप्त हुआ ।

नगेन्द्र जी द्वारा व्यावहारिक आलोचना

ऊपर नगेन्द्र जी की विचार-धारा को स्पष्ट किया गया है । उनका 'व्यक्ति', 'मानव' बनता हुआ समष्टि के मूल्यों का अपने में अतर्भाव करके एक व्यापक व्यक्तिवाद का प्रोद्भास देता है । व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे इन क्रमो को ध्यान मे रखा गया है । उदाहरण के लिये कुछ आलोचनाओं को लिया जा सकता है ।

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० १०६

२. देखिए 'विचार और विवेचन', पृ० ५७

३. "व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गांभीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और ये महत्तर मूल्य अत में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होगे ।"

—वही, पृ० ५६

४. "इन दोनों में साधारणत. कोई अविरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जाएंगे ।"

—वही, पृ० ५६

'प्रसाद के नाटक' नामक आलोचनात्मक लेख मे पहले प्रसाद जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है,[१] जो एक प्रभाव-चित्र के रूप में है। प्रसाद जी के व्यक्तित्व का जो प्रतिबिम्ब लेखक के मानस-पटल पर पड़ा है, उसकी निश्छल, रागमय सात्विक अभिव्यक्ति से लेखक ने निबंध का आरंभ किया है। इसके बाद उनके व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया गया है। उनका व्यक्तित्व शिवोपासना केन्द्र पर रचित है। इसी केन्द्र के विश्लेषण से उनका व्यक्तित्व देखा गया है।[२] उनके व्यक्तित्व में चार तत्त्व हैं: कवि-पक्ष, जीवन-दर्शन, सास्कृतिक चेतना, और आनन्द। वर्तमान की विभीषिका के विषपान के अनंतर अतीतवर्ती सांस्कृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध, उनका कवि आनन्द की उपासना करता रहा। यही उनका दृष्टिकोण रोमांटिक हो जाता है। नाटकों का आधार, इसीलिये, सास्कृतिक है: कल्पना तत्कालीन वातावरण को सजीव यथार्थता देती है। द्रष्टा होने के नाते आज की समस्याओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब भी उनमे मिल जाता है।[३] उनकी समरसता और आनंद-भावना सुख और दुःख से परे नाटकों को प्रसादान्त बना देती हैं। चरित्र-कल्पना में उनका दर्शन और कवित्व से समन्वित व्यक्तित्व प्रतिच्छायित है। दार्शनिक प्रसाद का व्यक्तित्व बौद्ध और शैव सूत्रों से बुना हुआ है। अनेक पात्र उनके इसी रूप का प्रतिनिधित्व करते हुये जीवन की व्याख्या करते हैं।[४] उनका कवि नाटक के वातावरण को मधुसिंचित रखता है। समस्त घटनावली रोमास और रस से युक्त है। इस प्रकार नाटकों के सम्बन्ध मे सभी निष्कर्ष नगेन्द्र जी ने प्रसाद के व्यक्तित्व-सूत्रों के विकास से सम्बद्ध करके दिये हैं और इनमें एक तर्कपूर्ण और स्वाभाविक संगति उपस्थित की है। पर नगेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक गहरे नहीं जा सके हैं। इसका कारण यह है कि प्रसाद जी का मनोविश्लेषण उनकी दार्शनिक और सास्कृतिक धारणाओं के मोटे आवरण के नीचे छिपा है। केवल युग की रोमांटिक प्रवृत्ति और दर्शन की स्थूल रेखाओं के प्रकाश में ही नाटकों का विश्लेषण कर दिया गया है।

'गुलेरी जी की कहानियाँ' के आरम्भ में भी गुलेरी जी के प्राणवान् और विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्व की समन्वित भूमिका के उपरान्त उनकी कहानियों को परखा गया है। उनके व्यक्तित्व का यही वैशिष्ट्य है।[५] इसके साथ ही उनके कौटुम्बिक जीवन की झाकी भी

१. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० ३६

२. "शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है।"

—वही, पृ० ३६

३. "उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ प्रतिबिम्बित मिलती हैं।"

—वही, पृ० ३८

४. "प्रसाद के दर्शन-कवित्वमय व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किया है...... बौद्ध और शैव दर्शनों के समन्वय से जीवन की व्याख्या करनेवाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं।"

—वही, पृ० ४०-४१

५. "उच्चकोटि की विद्वता के साथ ही उतनी ही प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व में पाई जाती है...... अपने इस असाधारण पांडित्य को उन्होंने सदैव जीवन का साधन ही माना, साध्य नहीं बनने दिया।"

—विचार और अनुभूति, पृ० ४६

संलग्न है। इसके उपरान्त साहित्यिक क्षेत्र की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए उनका जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया गया है। नगेन्द्र जी के अनुसार उनके साहित्य का आधार छायानुभूतियाँ नही हैं, जीवन की मासल अनुभूतियाँ ही हैं। निदान उनमे मानसिक ग्रन्थियो का सर्वथा अभाव मिलता है। जीवन मे नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुये भी वे सेक्स के नाम पर विचार करनेवाले आदमियो में से नही थे। इस प्रकार इस निबन्ध मे वस्तु और शैली मे झाँक झाँक पडनेवाले कलाकार के व्यक्तित्व के प्रकाश मे कृति का परीक्षण किया गया है।

'राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास' लेख का आरम्भ भी राहुल जी के व्यक्तित्व-दर्शन से किया गया है राहुलजी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनो की विभूतियो से सफल है। उनके विचार-पाडित्य के दो पक्ष हैं—एक तो पुरातत्त्व का व्यापक और गभीर ज्ञान, दूसरे आधुनिक समाजवादी दर्शन अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ठोस व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। इसमे राहुल के बौद्धिक व्यक्तित्व के उन पक्षो का उद्घाटन किया गया है, जो उनकी कृतियों के आधार-स्तभ बन गए हैं। इसके उपरान्त राहुल जी के व्यक्तित्व के सृजन सम्बन्धी उपकरणो की भी चर्चा की गई है।[१] इसी प्रकार 'दिनकर के काव्य सिद्धान्त' मे दिनकर जी के व्यक्तित्व के प्रकाश मे उनके जीवन-दर्शन का उद्घाटन करके, उनकी विचार-धारा को देखा-परखा गया है। 'पन्त का नवीन जीवन-दर्शन' शीर्षक निबन्ध कुछ अधिक व्यक्तित्व-विश्लेषण लिये है।

मार्क्सवादी प्रभाव तथा पत जी के व्यक्तित्व के मूल केन्द्रो मे एक सघर्ष[२] नगेन्द्र जी ने देखा और उसका प्रभाव अभिव्यक्ति पर आँका गया। "उनका सूक्ष्मचेता मन इन बुद्धि-गृहीत भौतिक मूल्यो के विरुद्ध उस समय भी बारबार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर उसी परिचित पथ पर लौट आयेंगे। कारण स्पष्ट है: पन्त के व्यक्तित्व मे वह काठिन्य और दृढता नही है जो मार्क्सवादी विश्वासो के लिये अपेक्षित है।"[३] इस प्रकार पत जी के व्यक्तित्व की गहरी व्याख्या इस लेख में मिलती है और व्यक्तित्व के सघर्ष और मोडो का मनोवैज्ञानिक विवेचन उनके कृतित्व पर जो छाया डालता है, उसी का अध्ययन अभिप्रेत रहा है। अन्य समीक्षाओ में भी पद्धति यही है।

आज के कुछ प्रमुख आलोचको और उद्भावक विचारको की आलोचना में भी नगेन्द्र जी ने व्यक्तित्व-विश्लेषण को नही छोडा है। टी० एस० इलियट के सिद्धान्तो की

---

१. "राहुलजी के पास ऐश्वर्यमती कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भण्डार है, एकान्त, स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन-दर्शन है और सहस्रों वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखनेवाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा शिल्प विशेष नहीं है।"

—विचार और विवेचन, पृ० १२८

२. "…… ……मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पन्त के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते।"

—विचार और विवेचन, पृ० १०२

३. वही, पृ० १०२

दुर्बलता में वे उनके व्यक्तित्व की दुर्बलता को कारणरूप में निरूपित करते हैं।[1] आई०ए० रिचर्ड्स तथा आचार्य शुक्ल के तुलनात्मक अध्ययन में भी व्यक्तित्व का विश्लेषण ही मुख्यत: समस्त विवेचन का आधार है।[2]

प्राचीन काव्यशास्त्रों मे सर्जक के व्यक्तित्व के विश्लेषण की अवहेलना होती रही। भारतीय साहित्यशास्त्र मुख्यत: शैली के उपकरणो तथा काव्य की आत्मा की ऊहापोह में ही अपनी सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता का परिचय देता रहा। रसज्ञ का विश्लेषण भी आचार्य ने किया, पर उसने सर्जक के अंतर्तम मे प्रवेश करके प्रेरणा के मूल स्रोतों और अभिव्यक्ति के अंतस्थ उत्सो की खोज के प्रति उदासीनता ही बरती।[3] पाश्चात्य जगत् मे प्लेटो और अरस्तू भी शैली के तत्त्वो का तो विश्लेषण करते रहे, पर सर्जक के व्यक्तित्व को उन्होने प्राय: भुला दिया।[4] सिसिरो ने सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप मे शैली की आत्मा के रूप मे व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण बताया।[5] कारलाइल ने शैली और व्यक्तित्व का प्रगाढ और अटल सम्बन्ध मानकर सुभाषित किया —स्टाइल इज मैन (Style is Man)। अरस्तू ने चाहे शैली की अपेक्षा व्यक्तित्व को कम महत्त्व दिया हो, पर कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा उन्होने नही की। कवि और काव्य सम्बन्धी उनकी धारणाओं से यह स्पष्ट हो जाता है।[6]

पर, काव्य को कवि का कर्म स्वीकार कर लेने पर भी उनका कहना है कि "काव्य-सृजन के समय कवि का चित्त व्यक्तिगत सुख-दु:खात्मक अनुभूतियो से युक्त होकर एकतान हो जाता है—अर्थात् काव्य प्रत्यक्ष रूप मे कवि की आत्माभिव्यक्ति नही है।"[7] काव्य और कवि में सहज सम्बन्ध स्पष्ट रूप से भारत में स्वीकृत नही किया गया, पर कही कहीं इसकी ध्वनि मिल जाती है।[8] युग और इलियट ने व्यक्तित्व को माध्यममात्र माना। दूसरी ओर, मनोवैज्ञानिक आलोचक काव्य को कवि की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। भारतीय मत का निष्कर्ष डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार दिया है—"कवि माध्यममात्र नहीं है—वह अपनी अपूर्व-वस्तु-निर्माणक्षमा प्रतिभा के बल पर काव्य का कर्ता है। वह

---

१. "इलियट के साथ आरम्भ में ही एक दुर्घटना हो गई है—वह यह कि वे मनोविज्ञान और दर्शन को बचाकर अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करने बैठे हैं... ..इलियट के प्रतिपादन में जो संगठित और प्रौढ़ विचार-धारा का योग होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट असंगतियाँ और भ्रांतियाँ आ गई हैं, उनका कारण यही है कि उनका आरंभ ही गलत हुआ है।"

—विचार और विवेचन, पृ० ६९-७०

२. विचार और अनुभूति, 'आचार्य शुक्ल और डा० रिचर्ड्स' नामक निबन्ध, पृ० ८२

३ देखिए, विचार और अनुभूति

4 Danston, *Greek Literary Criticism*, Page 141-143

५. डा० नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ९६

६. देखिए 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० ३१

७. वही, पृ० ३४

८. "स्वभावोमूर्धनि वर्तते।"

—आचार्य कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्

सवासन है अर्थात् उसमे नाना भावो की संवेदन क्षमता है, परन्तु उसका काव्य उसकी *अपनी व्यक्तिगत जीवनानुभूतियो की अभिव्यंजना नही है—उसके भोक्ता व्यक्ति और स्रष्टा कवि मे तादात्म्य नही है।* यह भारतीय काव्यशास्त्र का सामान्य मत है। अतएव इसमे थोड़ा संशोधन कर यह मानते हैं कि कवि अपने स्वभाव के अनुरूप ही काव्य की *सृष्टि करता है ....कवि के भोक्तृ पक्ष और कर्तृ-पक्ष मे तादात्म्य तो नही है, परन्तु सम्बन्ध अवश्य है।"*[१] नगेन्द्र जी भी कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यही धारणा रखते है।

कवि ने संघर्ष को भी लेखक छोड़ नही सका है। वस्तुत बाह्य जगत् के अह की स्थिति कभी संघर्षमय होती है और कभी समन्वयान्वित। दार्शनिक की भाषा मे यही *आत्म अनात्म का संघर्ष है। आत्म की अभिव्यक्ति का माध्यम अनात्म ही है। सुख और* दुःख इसी संघर्ष की सफलता और विफलता से उत्पन्न होते हैं।[२] इस मानसरूप संघर्ष की अभिव्यक्ति दुःखमय नही होती, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानसरूप धारण करते करते अपना दंशन खो देती है। *इस प्रकार व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की* उत्कट अभिलाषा की तुष्टि साहित्य-सृजन मे छिपी हुई है। कवि या लेखक इस अनात्म-रूप जगत् की क्रिया प्रतिक्रियाओ का अनुभव करता है और उन अनुभवो की जीवन्त समीक्षा करके उनके सार को प्रकट कर देता है। सौन्दर्य इस अभिव्यक्ति का माध्यम है। रोमांटिक काव्य मे व्यक्तित्व की जो प्रतिष्ठा हुई थी, उससे परवर्ती साहित्य और समालोचना पद्धति प्रभावित होते रहे। फ्रायड के प्रभाव ने व्यक्तित्ववादी धारणाओ को और भी सुदृढ़ कर दिया। हिन्दी मे शुक्ल जी ने जब इतिहास के परिपार्श्व मे नवीन दृष्टि से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा तो उन्होने परिस्थितियो के ऐतिहासिक विकास की प्रतिष्ठा कर दी थी। उन्होंने प्रत्येक प्रवृत्ति के जन्म को परिस्थितियो तथा उसके पीछे चली आती परम्पराओ के विवेचन से साहित्यिक युगो और साहित्यिक कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत किया। द्विवेदी युग मे भी कृति के अंतर्सूत्रो मे अनुस्यूत सूक्ष्म व्यक्तित्व की प्रायः उपेक्षा ही हुई।

कवि की अभिव्यक्ति और विषय-वस्तु पर युगीन परिस्थितियो का भी प्रभाव पड़ता है। *नगेन्द्र जी ने सामाजिक परिस्थितियो की उपेक्षा नहीं की। "समष्टिगत आदर्शों* और व्यक्तिगत प्रेरणाओं और आकांक्षाओं के बीच समन्वय का एक ऐसा आधार (उनकी आलोचना-पद्धति) प्रस्तुत करती है जो अभिनव होने के साथ ही उपयोगी भी *है।"*[३] *पाश्चात्य जगत् मे देश, काल और पात्र के अनुसार आलोचना होती रही है।* नगेन्द्र जी भी देश-काल की उपेक्षा नही करते, यह बात उनकी व्यावहारिक आलोचनाओ मे स्पष्ट हो जाती है। 'जयभारत' की आलोचना करते समय उन्होंने गुप्त जी पर युग विवेक और युग धर्म का प्रभाव बताया है—"इन घटनाओ के पुनराख्यान........के

---

१ अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० ३४ ३८

२ "मैं जीवन का अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानसरूप की अभिव्यक्ति है।"

—विचार और अनुभूति, पृ० ६

३. डा० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्त, नारायणप्रसाद चौबे, पृ० १५६

मूल आधार दो हैं : एक युगोचित विवेक-बुद्धि और दूसरा युग-धर्म। महाभारत की कथा में अतिप्राकृतिक एवं अतिमानवीय तत्वों का समावेश स्वभावतः ही अधिक है......' कवि ने इनका विवेक और बुद्धि के द्वारा समाधान करने का सत्प्रयत्न किया है।''[१]

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जिस वैज्ञानिक और तार्किक विवेक-बुद्धि से प्राचीन आख्यानों को युगोचित रूप दिया जा रहा था, उस प्रभाव से गुप्त जी भी मुक्त न रहे। 'कुरुक्षेत्र' की आलोचना में द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न विभिन्न विभीषिकाओं और तज्जन्य ओर-छोरव्यापी भय-भावनाओं को ही नगेन्द्र जी ने कृति के मूल में माना।[२] सोहनलाल द्विवेदी के सम्बन्ध में भी युगीन परिस्थितियों के प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया है—"सोहनलाल जी द्विवेदीयुग की परम्परा के कवि हैं, जिनकी प्रवृत्ति सदैव बहिर्मुखी रही है। फलतः उनकी कविता में युग की आवश्यकताओं की चेतना और उनके प्रति नैतिक उत्साह है।''[३] पर, प्रसाद जैसे अन्तर्मुखी और दार्शनिक कवि-लेखक की कृतियों की समीक्षा में कोई भी युग की स्पष्ट संगति नहीं बिठा सकता; यद्यपि युग-धर्म की प्रच्छन्न ध्वनि उसमें सुनाई पड़ जाती है। यही बात जैनेन्द्र जी जैसे अन्तर्मुख कलाकार के साथ है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि सर्जक का अंतराल विशेष उद्वेलित है, और उसके प्रवृत्तिगत संघर्ष की छटपटाहट अभिव्यक्ति के लिये उत्तरदायी है, तो नगेन्द्र बलात् या हठात् युग-प्रवृत्तियों का आरोप करने के पक्ष में नहीं हैं। यदि सप्रयत्न युगीन परिस्थितियों से कृति का दूर का सम्बन्ध जोड़ना समीक्षक अपना धर्म समझ लेता है, तो मूल प्रेरणा-स्रोत उपेक्षित हो जाता है। इसके विपरीत समाजोन्मुख आदर्श और यथार्थ की भावना को लेकर चलनेवाला कवि या लेखक मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से उजागर नहीं किया जा सकता। बहिर्जगत् में स्थित उसकी प्रेरणा के स्रोत को खोजकर ही उसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टिकोण को लेकर नगेन्द्र जी व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में प्रविष्ट हुये।

विभिन्न वादों के प्रति दृष्टिकोण

ऊपर यह देखा गया है कि व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में नगेन्द्र जी यद्यपि वस्तु, सामाजिक परिस्थिति और व्यक्तित्व—तीनों को लेकर चलते हैं, पर प्रमुखता व्यक्तित्व-विश्लेषण और आत्मस्थ प्रेरणा-स्रोतों की खोज की ही रहती है। उनका व्यक्तिवाद एक स्वस्थ वैचारिक सज्जा को लेकर चलता है पर जहाँ तक प्रवृत्तियों की आलोचना का प्रश्न है, नगेन्द्र जी युग की समस्याओं के विश्लेषण पर ही विशेष बल देते हैं। इसका कारण यह है कि कोई प्रवृत्ति जब वाद का रूप धारण करती है तब

१. विचार और विश्लेषण, पृ० १२४

२. "पारिभाषिक रूप में तो इसे सप्त-सर्गबद्ध पौराणिक प्रबन्धकाव्य कहा जा सकता है, परन्तु वस्तुतः न तो यह पौराणिक ही है और न प्रबन्धकाव्य ही। यह तो अभी समाप्त होनेवाले यूरोप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी चिंता-प्रधान कविता है।

—वही, पृ० १२८

३. विचार और विश्लेषण, पृ० १४०

उसके पीछे वैयक्तिक शक्तियाँ इतनी नहीं रहतीं जितनी सामाजिक शक्तियाँ रहती हैं। किसी वाद में प्रायः क्रिया और प्रतिक्रिया का संयोग रहता है। अपने से पूर्व की कुछ ऐतिहासिक धाराओं का निराकरण करते हुये, कुछ के साथ समझौता करते हुये और कुछ का नवीन रूपांतरण करके परिस्थितियों के अनुकूल जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण और समाज की एक नई व्यवस्था के लिये वाद की सृष्टि होती है। इन्हीं क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में उस वाद का दर्शन अनुस्यूत रहता है। इसलिये किसी वाद का विश्लेषण करने के लिये सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना पड़ता है। आज के युग में संसार दो विचारधाराओं के संघर्ष के बीच चल रहा है। यह संघर्ष कभी प्रलय की संभावना से विश्व को प्रकम्पित कर देता है और कभी प्रकाश की किरणों से मानव के भविष्य को झिलमिल कर देता है। विचार के इस संघर्ष को डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'एक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से आज की दुनिया के सामने उपस्थित हो गया है, और वह है दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष। दर्शन के क्षेत्र में ये विचारधारायें हैं आदर्शवाद तथा भौतिकवाद और राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्रवाद और साम्यवाद......इन दोनों का पार्थक्य जितना स्पष्ट आज हो गया है उतना कभी नहीं था।.. ...परन्तु यह तो इस संघर्ष का स्थूल और बाह्य रूप है, आन्तरिक रूप से यह दो शक्ति संघों का संघर्ष इतना नहीं है जितना कि दो विचारधाराओं का, और उन्हीं से साहित्य का सीधा सम्बन्ध भी है।''[१] इनमें से प्रथम भाव की मूल चेतना और जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को लेकर चलता है। ये मूल्य अपने आध्यात्मिक रूप में गांधीवादी विचारधारा से सम्बन्धित हो जाते हैं। इनमें से दूसरा दृष्टिकोण अधिक भौतिकवादी है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि बनाता है, पदार्थ को मूल सत्ता मानकर सामाजिक जीवन को व्यक्ति से ऊँचा मानकर चलता है। इस विचारधारा का सम्बन्ध साम्योन्मुख मार्क्सवाद से है। इनके सम्बन्ध में पहले भी चर्चा की जा चुकी है। भारत में गांधीजी के विशाल व्यक्तित्व ने दूसरी विचारधारा को आच्छादित सा कर रखा है। गांधीवादी विचारधारा ने साहित्य को जितनी गहराइयों तक प्रभावित किया है वहाँ तक दूसरी विचारधारा नहीं कर पाई है। फिर भी दोनों विचारधाराओं से सम्बद्ध लेखक और आलोचक हिन्दी-साहित्य में हैं।

भारतीय आदर्शवाद अथवा गांधीवाद ने साहित्य में जिन तीन धाराओं को जन्म दिया है, उनका विवरण यों दिया जा सकता है—'भारतीय आदर्शवाद के...... तीन पक्ष हैं। एक सौन्दर्यमय अनुभूत्यात्मक पक्ष, दूसरा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पक्ष, और तीसरा दार्शनिक-नैतिक पक्ष। पहले की अभिव्यक्ति छायावाद में हुई है और दूसरे की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताओं में। तीसरे पक्ष की अभिव्यक्ति अपेक्षया विरल है। वह हिन्दी के केवल एक ही प्रमुख कवि सियारामशरण गुप्त में मिलती है।''[२] दूसरी विचा-

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १

२ वही, पृ० ४

धारा ने प्रगतिवादी और प्रयोगवादी धाराओं को जन्म दिया। इनमें से प्रगतिवादी धारा तो मार्क्सवाद की साहित्यिक प्रतिध्वनिमात्र है और जितना ही इसके स्तरों में मार्क्सवाद और प्रचार अधिक मुखर हुए, उतनी ही इसकी प्रतिक्रिया प्रबलतर होती गई और आज यह धारा संकटग्रस्त है। प्रयोगवाद भौतिकवादी विचारधारा, विद्रोह की तीव्रता, परम्परा के प्रति अनास्था और सूक्ष्म के प्रति प्रतिक्रिया को लेकर चला है, पर "उसका दृष्टिकोण सामाजिक न रहकर अधिकतर वैयक्तिक हो गया।"[१] इन चार धाराओं के अतिरिक्त नगेन्द्र जी ने वैयक्तिक कविता की धारा भी स्वीकार की है। इस धारा का प्रतिनिधित्व बच्चन जी करते हैं। डा० नगेन्द्र की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ये ही पाँच प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। नगेन्द्र जी ने इन प्रवृत्तियों की जो उक्त व्याख्या की है वह अतिस्पष्ट और अतिसरल तो है ही, साथ ही उसमें गाम्भीर्य भी है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन प्रवृत्तियों को हिन्दी के क्षेत्र में बनाने-सँजोने का कार्य दोनों महायुद्धों के बीच के वर्षों ने किया है। साहित्यकार ने इन वर्षों में यह अनुभव किया कि उसकी प्रतिभा विविध राजनैतिक विचारधारों से विक्षुब्ध हुये बिना नहीं रह सकती। उसे लगा जैसे ये विचारधारायें उसे रास्ता दिखा रही हैं और प्रतिभाजीवी जैसे एक अभूतपूर्व विचित्र उलझन में जकड़ गया है। उसे मार्ग-भ्रम के क्षणों की सी झुंझलाहट का अनुभव हो रहा है। सत् और असत् के विवेक को विज्ञान ने जहाँ कुछ प्रकाश दिया, वहाँ कुछ धूमिल भी बना दिया है। पूँजीवाद अपनी अंतिम स्थिति में पहुँचकर कुछ जघन्य और नृशंस कार्यों में निरत हो रहा है और अनस्तित्व में डूबता हुआ अस्थिर सहारे खोज रहा है। मार्क्सवादी समाजवाद के विश्लेषण ने तत्सम्बन्धी समस्त यथार्थ को इतना स्पष्ट कर दिया कि कुछ भी रहस्य नहीं रह गया। गांधीवाद ने अपनी निजी मान्यताओं को लेकर अतिवाद चाहे जहाँ हो, उसका निराकरण करना चाहा। भारत में संघर्ष पूँजीवाद और मार्क्सवाद का इतना नहीं, जितना गांधीवाद और मार्क्सवाद का है। गांधीवाद आस्तिक है, मार्क्सवाद नास्तिक। चेतना यदि किसी परमात्मा का संदेश पा सकती है, तो मार्क्सवादी दृष्टि से मन केवल भूत तत्वों का सहज उत्कृष्ट व्यापारमात्र है। गांधीवाद में यदि अहिंसा की प्रतिष्ठा है, तो मार्क्सवाद में क्रांति की। मानव के विकास-सुधार के प्रति जहाँ गांधीवाद घोर आशावादी है, वहाँ मार्क्सवाद घोर निराशावादी है। व्यक्तिगत पक्ष में गांधीवाद साधन की पवित्रता को प्राधान्य देता है और मार्क्सवाद साध्य की श्रेष्ठता के प्रकाश में साधन को देखता है। व्यक्ति को वह गांधीवाद की भाँति महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। मार्क्सवादी की दृष्टि में वह समाज का एक अंगमात्र है। व्यक्ति के द्वारा सामाजिक व्यवस्था नहीं होती, ऐतिहासिक शक्तियाँ ही विकास-क्रम के अनुसार समाज की व्यवस्था करती हैं। सर्वोदय-दर्शन के विरुद्ध एक वर्ग का नाश मार्क्सवादी विचारधारा का अभिप्रेत है। इस प्रकार दोनों विचार-धारायें ध्रुवीय धुरियों को लिये हुये हैं। भारत में इसीलिये इन दोनों का संघर्ष जटिल

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ४

है। इन दोनो की परीक्षा, तटस्थ होकर, साहित्यकार को करनी है। यदि वह किसी आवेग मे आकर किसी भी परिपाटी का प्रचारक और समर्थक बन जाता है, तो मानवता के लिए एक बडा सकट आमन्त्रित करता है। चुनाव की इससे अधिक जटिल परिस्थिति सभवत. भारतीय इतिहास मे कभी उत्पन्न नही हुई।

उक्त विचारधाराएँ इतनी व्यापक हैं कि इन्होने मानव के सभी क्रिया-क्षेत्रो को प्रभावित किया है। इन प्रवृत्तियो के पीछे मनोवैज्ञानिक धारा को भी स्वीकार करते चलना है। यौन प्रश्न को मनोविज्ञान ने आज बहुत जटिल बना दिया है। मार्क्सवाद ने यौन आवश्यकता को प्राकृतिक माँग कहा है, जिसका निरोध अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक है। गाधीवादी दृष्टि से यौन-नियन्त्रण एक सामाजिक आवश्यकता है। स्त्री और पुरुष मात्र स्त्री-पुरुष नही हैं। उन्होंने इस पाशविक धरातल से ऊपर उठकर कुछ अन्य उच्चतर सम्बन्ध भी बनाये हैं जो यौन-सम्पर्क के क्षेत्र की सीमाएँ सुनिश्चित करते हैं। समस्या-समाधान के इन दो रूपो ने समाज के नवीन व्यवस्थाकारों के सामने जटिलता उपस्थित कर दी है। आज का साहित्यकार यौन-सम्बन्ध के आध्यात्मिक पक्ष की ओर चलने मे असमर्थ है। यौन-सम्बन्ध की जो आध्यात्मिक और रहस्यवादी परिणतियाँ सिद्ध-साहित्य और मध्ययुगीन कविता मे मिलती हैं उनकी छायामात्र का ही स्पर्श आज का रहस्यवाद कर पाता है। इस यौन-अध्यात्म की दृष्टि से प्रेम वह उत्कट पुकार है, जो परमतत्व से विमुक्त होने पर जीव के हृदय मे उठती है। आज का मनोविज्ञान और भौतिकवाद इस सबको अस्वाभाविक नियन्त्रण या उन्नयन कहकर इसे मानसिक कुठाओ की भूमिकामात्र स्वीकार करता है। इसका भौतिक पक्ष यह है कि प्रेम एक यौन-उद्रेक-मात्र है, जिसका दमन हानिप्रद है। अत एक ऐसी समाज-व्यवस्था अपेक्षित है, जहाँ स्त्री-पुरुषो को अपनी यौन-आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति के लिये अधिक से अधिक मुक्ति मिल सके। विवाह जैसे सामाजिक बन्धन भी अवाछित हैं। यौन प्रश्न की द्विविध व्याख्या ने भी इस युग मे साहित्यकार के सामने एक सकट उपस्थित किया। आज उसे यह भी निर्णय कर लेना है कि अपने कार्य मे उसे इन समस्याओ से सम्बद्ध शास्त्रो का कितना उपयोग करना है और अपनी प्रतिभा का कितना प्रकाश देना है। इसी जटिल परिस्थिति को डा० नगेन्द्र ने सूत्रात्मक, गर्भित और अतिस्पष्ट शैली मे '*आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियों*' मे प्रस्तुत किया है।

छायावाद के प्रति दृष्टिकोण

जैसा कि पहले देखा जा चुका है, नगेन्द्र जी प्रवृत्तियो का विश्लेषण युग की परिस्थितियो के अनुसार करना चाहते हैं। छायावाद इतिहास की उन्हीं परिस्थितियो की देन है, जिन्होंने हमे गाधीवाद दिया।[१] प्रथम महायुद्ध ने समस्त यूरोपीय जीवन को

१. "[उन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव (सौन्दर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर।"

—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ६

एक अविश्वासमयी अवसाद-छाया से आच्छादित कर लिया था। परन्तु, भारत पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप जीवन मे कुछ नवीन स्पन्दनो का अनुभव करने लगा। इन नवीन चेतनाओं और स्पदनों की अभिव्यक्ति कुछ अपरिहार्य शक्तियो के कारण सहज सभव नही रह गई थी।[१] इस प्रकार नवीन स्वप्न निराशाओ मे उलझ गये थे। परिस्थितियों की इस जटिलता और अभिव्यक्तिसम्बन्धी इस घुटन की चर्चा छायावाद पर लिखनेवाले प्राय. सभी समीक्षको ने की है।[२] परिस्थितियो की विषमता ने छायावादी लेखक को जीवन की निकट वास्तविकताओं के प्रति उपेक्षाशील बना दिया। परिणामत: वह अतीतोन्मुख, रहस्योन्मुख या अंतर्मुख पलायनवाद से मुक्त हो गया। इस पलायन को सामाजिक दृष्टि से 'दैन्य' और 'अकर्मण्य' का प्रतीक माना गया पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अंतर्मुखी भावना ही है।, बाह्य के दबाव से वृत्तियाँ एक तनाव का अनुभव करती हैं और अभिव्यक्ति के लिए एक विशेष लाक्षणिक सज्जा से युक्त होने की आवश्यकता से अतर्मुखी हो जाती हैं।[3] छायावाद की अतर्मुखी प्रवृत्ति सर्वमान्य है। डा० केसरीनारायण शुक्ल के अनुसार "छायावादी कविता मे बाह्य वास्तविकता से अपने को अलग करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। छायावादी कवि बाह्य पदार्थों के वर्णन में प्रवृत्त न होकर अपनी आंतरिक अनुभूतियो मे अधिक संलग्न प्रतीत होते हैं।[४] शातिप्रिय द्विवेदी ने भी छायावाद मे अंतश्चेतना को प्रमुख माना है।[५] इस प्रकार छायावाद के विरोधी उपहास की दृष्टि से जिस 'पलायन' शब्द का प्रयोग करते हैं, नगेन्द्र जी तथा अन्य छायावाद के समर्थक समीक्षक इसे अतर्मुखी वृत्ति के नाम से ही पुकारते हैं।

डा० नगेन्द्र इस अंतर्मुखी वृत्ति को पूर्वयुग के प्रति एक साहित्यिक प्रतिक्रिया भी मानते हैं। जहाँ स्थूल सुधारवादी बहिर्मुख धारा की प्रतिक्रिया आत्मोन्मुख सर्वोदयी विचारधारा में हुई वहाँ द्विवेदी युग की बहिर्मुख इतिवृत्तात्मकता और उस पर स्थूल नैतिकता के आरोप तथा व्यक्ति के स्थान पर वस्तु की महत्ता की स्थापना के प्रति छायावाद की भावात्मक और वैयक्तिक प्रतिक्रिया हुई है।[६] छायावाद की वैयक्तिकता

१. "राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असतोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी।"

—वही, पृ० ६

२. दीनानाथ शरण, हिन्दी काव्य में छायावाद, पृ० २४

३. "आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव में अतर्मुखी भावना ही है। वास्तव पर अंतर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है।"

—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १०

४. आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृ० १७०

५. संचारिणी, पृ० १७६

६. "द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई।"

—डा० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १०

और उसकी इन प्रतिक्रियाओ की चर्चा प्राय सभी ने की।[१] इस नये उत्थान में जो परिवर्तन हुआ और पीछे छायावाद कहलाया, वह उसी द्वितीय उत्थान (द्विवेदी युग) की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है।[२] द्विवेदी युग के अंतिम वर्षों मे कुछ ऐसी नूतन कविताएँ लिखी गई, जिनसे आगे छायावादी प्रवृत्तियां विकसित हुईं।[३] डा० नगेन्द्र के अनुसार 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त ने भी ऐसी कुछ कविताएँ लिखी थी।[४] जहां डा० शुक्ल ने द्विवेदी युग की कुछ उत्तरवर्ती रचनाओ का छायावाद से कारण-कार्य-सम्बन्ध जोडने की चेष्टा की है, वहाँ नगेन्द्र जी ने छायावाद के प्रभाव की द्विवेदीयुगीन सीमा मे इन रचनाओ को सम्मिलित किया। डा० नगेन्द्र का मत शुक्ल जी के मत के भी विरोध मे है, जिन्होंने मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाडेय को कविता की इस नई धारा का प्रवर्तक माना था।[५] इसी भूल को डा० शुक्ल ने दुहराया है। प्रसाद जी ने गुप्त जी के पूर्व ही 'इन्दु' मे कुछ छायावादी कविताएँ लिखी थीं। इसलिए प्रसाद को ही छायावाद का प्रवतक मानकर[६] मैथिलीशरण गुप्त को इस भाव धारा से प्रभावित मानना ही अधिक इतिहास-सम्मत है।

छायावादी कवियों की दृष्टि सौन्दर्योपासना की थी।[७] छायावादी सौन्दर्य-भावना स्थूल और सूक्ष्म का समन्वय प्रस्तुत करती है। इस शृङ्गारिकता के मूल मे कुठित प्रेम-भावना का परिणाम है। स्वच्छन्द प्रेम और सुधार-युग की कठोर नैतिकता ने कुंठा की भूमिका प्रस्तुत की।[८] इसलिए शृङ्गारिकता की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष रूप असम्भव हो गया। नारी का सूक्ष्म सौन्दर्य इन्ही परिस्थितियो का परिणाम है।[९] यहीं नारी और प्रकृति का साथ होता है। प्रकृति की विभिन्न रूपावली और क्रियाओ पर नारी आरोपित की जाती है। नारी के अंगों का उभार नारी मे नही, उसकी छाया प्रकृति मे देखी जाती है। साथ ही यह आरोपित या अशरीरी सौन्दर्य भोग्य नही हो सकता। सौन्दर्य की अनिंद्य लहरियो मे किसी मूल अचिन्त्य सौन्दर्य-स्रोत की छवियां देखकर रहस्यमय विस्मय की मधुरिमा मे कवि का मन झूल उठता है।[१०] वस्तुत नैतिक आतक ने भोग-वासना की

---

१ देखिए 'हिन्दी काव्य में छायावाद', दीनानाथ शरण, पृ० ६

२. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४७

३. देखिए 'आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत', डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० १६१

४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० १०२-१०३

५. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६५०

६ "प्रसाद जी को हम हिन्दी में छायावाद का जनक मान सकते हैं।"

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, अवन्तिका, काव्यालोचनांक, पृ० १६०

७. "शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की प्रवृत्ति एकाएक सौन्दर्योन्मुखी हो गयी।"

—डा० देवराज, छायावाद का पतन, पृ० १८

८. देखिए 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १०

९. देखिए, वही, पृ० ११

१०. "निदान वे अवचेतन में उतरकर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं, और वह अप्रत्यक्ष रूप था, नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार।"

—डा० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ११

स्थूल अभिव्यक्ति को असभावित कर दिया और उसका विवशताजन्य उदात्तीकृत रूप विस्मयात्मक हो गया। नगेन्द्र जी ने छायावादी शृङ्गार की यह मनोवैज्ञानिक और स्पष्ट व्याख्या की। इस शृङ्गार की दो दिशाएँ थीं—एक प्रवृत्ति और दूसरा दर्शन। छायावादी शृङ्गार के इस सूक्ष्म रूप ने स्थूल दृष्टि का निराकरण करके एक नवीन सौंदर्य चेतना उद्बुद्ध की। साथ ही सौंदर्याश्रित जीवन-स्फूर्ति नैतिकता की कठोर शिलाओं के नीचे से स्पंदित होने लगी। यही छायावादी काव्य की देन है "सौंदर्य की अभिव्यक्ति की लाक्षणिक और प्रकृति-प्रतीकों के माध्यम से योजना करके युग के मानस को अचेतन के दबाव से अंशतः मुक्त किया और कुंठाएँ रंगीन पंखों में उड़कर भावाकाश की ऊँचाइयों में विहरने लगीं।"[१]

छायावादी काव्य में प्रकृति का तत्त्व छाया रहा। इसी कारण कुछ विद्वानों ने छायावाद को 'प्रकृति काव्य' नाम से अभिहित करना ठीक समझा। प्रकृति की मोहमयी माया के विविध रूपों का अस्तित्व सभी कवियों ने स्वीकार किया "इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौंदर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौंदर्य पर आरोप भी ?"[२] विश्वम्भर मानव के अनुसार प्रकृति में चेतना का आरोप भी छायावाद है।[३] पर, यह संभवतः अत्युक्ति है। पंत जी ने प्रकृति में नारी-सौंदर्य के दर्शन किये हैं।[४] आचार्य शुक्ल ने इसी आधार पर इन प्रकृति-चित्रों में संकीर्णता मानी थी।[५] प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके करना उक्त भावना की संकीर्णता सूचित करता है।[६] प्रकृति में मानव-भावनाओं का प्रतीकरूप में चित्रण अप्राकृतिक और अस्वाभाविक माना गया है।[६] किन्तु, केवल इसी रूप में प्रकृति का चित्रण नहीं होता, उसके विविध रूप हैं।[७] डा० नगेन्द्र ने छायावादी कवियों के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण को सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। उन्होंने कुछ विद्वानों की धारणा को भ्रान्त बताया है। कुछ विद्वान् प्रकृति के मानवीकरण को छायावाद का प्राण मानते हैं।[८] किन्तु, नगेन्द्र जी के अनुसार यह आंशिक सत्य है: "यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीप्त वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है," पर इसको छायावाद की मूल प्रवृत्ति मानना एक सुन्दर भ्रम ही है: "परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १६
२. देखिए 'आधुनिक कवि', महादेवी वर्मा
३. देखिए 'सुमित्रानन्दन पंत', पृ० ६६
४. "प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखनेवाली नारी के रूप में देखा है।"
—आधुनिक कवि : पंत, पृ० ९
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६७५
६. देखिए 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० १७१
७. देखिए 'हिन्दी काव्य में छायावाद', दीनानाथ शरण, पृ० १४८
८. "कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राणतत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप है।"
—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ११

प्रकृति का चित्रण नही है, वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन मे जो छायाचित्र उठे उनका चित्रण है। जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है, वह विशेष प्रवृत्ति नही है, वह मन की कुंठित वासना ही है जो अचेतन मे पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीको के द्वारा अपने को व्यक्त करती है।[१]" अन्त मे संक्षिप्त निष्कर्ष इस प्रकार दिया गया है 'निदान, प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपो मे हुआ। एक, कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप मे, और दूसरे, प्रतीक रूप मे।[२]

छायावाद के मूल दर्शन के सम्बन्ध मे भी कुछ भ्रान्तियाँ रही। इतना स्वीकार्य है कि छायावाद की पृष्ठभूमि मे कुछ दार्शनिक सूत्र रहे। प्रेम और सौंदर्य की अशरीरी अभिव्यक्तियाँ रहस्य संकेतो से युक्त होती थी। छायावाद मे समस्त जड-चेतन को मानव-चेतना से स्पन्दित मानकर अंकित किया गया है। इस भावना को यदि कोरा दार्शनिक रूप दिया जायेगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। सर्वात्मवाद को छायावादी कवियो ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो विधियो से ग्रहण किया।[३] छायावादी कवियों की भावप्रवण चिन्तना पर नवोत्थानवादी दार्शनिको—रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद, रवीन्द्र आदि—का प्रभाव सर्वस्वीकृत है। प्रसाद मे योग, दर्शन और उपनिषद् का समन्वय है। महादेवी को बौद्ध दर्शन ने पर्याप्त प्रभावित किया। पंत पर अरविंद का प्रभाव पडा। पर, फिर भी डा० नगेन्द्र के अनुसार सर्वात्मवाद छायावादी काव्य का उद्‌गम स्रोत नहीं है 'परन्तु सर्वात्मवाद को छायावाद का उद्‌गम स्रोत मानना संगत नही होगा। छायावाद का कवि आरंभ से ही सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित नही हुआ।"[४] इस प्रकार छायावाद पर किसी आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप करना भ्रम ही है। दर्शन का ग्रहण अवांतर था, जो अभिव्यक्ति को और अधिक सुन्दर और व्यापक बनाने मे अधिक सहायक हुआ। 'फिर बाद मे तो प्रसाद तथा महादेवी ने भारतीय अध्यात्म-दर्शन के सहारे और पंत ने देश विदेश के विभिन्न दर्शनो के आधार पर अपनी चेतना को और भी परिशुद्ध एवं संस्कृत कर लिया।"[५] नगेन्द्र जी के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूति की सबसे बडी बाधा बौद्धिकता रही।[६] इसी कारण नगेन्द्र जी ने उन लोगो की धारणा को भी भ्रान्त माना है, जो छायावाद और रहस्यवाद मे अभेद मानते हैं।[७] रहस्यवाद और छायावाद के बीच भेद-अभेद के संबध मे प्रारंभ से ही एक समस्या रही है। डा० रामकुमार वर्मा जैसे आलोचक भी इस भ्रान्ति से मुक्त न रह सके।[८] आचार्य शुक्ल भी छायावाद का एक अर्थ रहस्यवाद समझते

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ११ १२
२. वही, पृ० १२
३ देखिए 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १२
४. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १२
५ वही, पृ० १३
६ "आत्म व बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना का सूक्ष्मतर करना तो साधारणत सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति को इतना उभार लिए सहज सम्भव नहीं।" —वही, पृ० १३
७ "पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते।" —आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १४
८. देखिये 'साहित्य समालोचना', 'कविता' शीर्षक लेख—डा० रामकुमार वर्मा।

थे,[१] पर उन्होंने सभी छायावादी कविताओं को रहस्यवादी कविता नहीं माना। इस भ्रम का आधार सौंदर्य और प्रेम की सूक्ष्म आत्मानुभूति है। रहस्यवाद और छायावाद को एक मानने के भ्रम का आधार इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है : छायावाद में कवि प्रकृति को देखता है; उसमें व्याप्त अखण्ड असीम की झलक पाता है और अपने को उसमें एकाकार अनुभव करता है। रहस्यवादी कवि उसके प्रति अपना आत्मनिवेदन करता है।[२] रहस्यवाद में परोक्ष प्रियतम के प्रति जिज्ञासा विशेष होती है। छायावादी कवि प्रकृति में किसी असीम सौंदर्य की छाया देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है। डा० नगेन्द्र ने इस भ्रम में उलझे हुए रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा आदि की चर्चा की है. "यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और आलोचक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिन्तन का मृगचर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमार जी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे बिना उसका महत्त्व समझने में असमर्थ हैं।"[३] नगेन्द्र जी दोनों के भेद का आधार युग की प्रवृत्तियों में देखते हैं : "इसके विरोध में एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से नहीं हुआ। अतएव इसके रूपकों एवं प्रतीकों को यथातथ्य मानकर उस पर रहस्यसाधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रान्तियों का पोषण करना है।"[४] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने अत्यन्त मुखर और स्पष्ट शैली में छायावाद विषयक भ्रम को मूलात्मक रूप से दूर किया। इस भ्रम-निवारण में भी उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि मुख्य है। कुंठाजन्य अचेतन-संघर्ष को बौद्धिक युग में सूक्ष्मतर करके उदात्त बनाया जा सकता है, पर आज के युग में आध्यात्मिक अनुभूति संभव नहीं है।

छायावाद के प्रेरणा-स्रोत के सम्बन्ध में भी एक भ्रम है। एक वर्ग ऐसे आलोचकों का है, जो उसके स्रोत को विदेशी रोमांटिक स्रोत में खोजते हैं। इनका विचार है कि अंग्रेजी रोमांटिक कविता और छायावाद में अभेद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इसी वर्ग के हैं।[५] आचार्य शुक्ल ने भी इस काव्यधारा को स्वाधीन न मानकर पराधीन ही माना।[६] इसी प्रकार पंत जी ने भी रोमांटिक कवियों का प्रभाव अवश्य स्वीकार किया है।[७] महादेवी वर्मा ने उसके त्रिविध स्रोत की चर्चा की है : "यह युग (छायावाद) पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बंगला की नवीन काव्य धारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने भारतीय परंपरा भी रही।"[८] डा० देवराज ने भी छायावाद पर गहरा पाश्चात्य प्रभाव माना है।[९]

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६६२
२. देखिए 'यामा' (महादेवी वर्मा), भूमिका
३-४. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १४
५. देखिए 'अवन्तिका', काव्यालोचनांक, पृ० २१२
६. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६२१
७. "मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ।" —आधुनिक कवि, भाग २, पृ० १६
८. आधुनिक कवि, भाग १, महादेवी वर्मा, पर्यालोचन
९. देखिए 'छायावाद का पतन', पृ० २१

पर, प्रभाव दूसरी बात है और दोनो म अभेद दूसरी बात है। डा० नगेन्द्र ने अंग्रेजी रोमांटिक कविता और छायावाद की परिस्थितियों का तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार किया है "इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुंठा का मिश्रण है, परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे भ्रांस का सफल विद्रोह था जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य के आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी वायवी था।"[1] इस प्रकार उन्होंने छायावाद के वैशिष्ट्य को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रसंग में उन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन का पृष्ठाधार भी स्वीकार किया है तथा गांधीवादी विचारधारा को भी छायावाद से सम्बद्ध माना है।[2] इस प्रकार डा० नगेन्द्र के कृतित्व की यह दिशा अत्यन्त सबल और स्पष्ट है। छायावाद का समर्थन उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता से किया है। इस समर्थन का आधार कवि का मनोविश्लेषण और सामाजिक परिस्थितियों का वैज्ञानिक विवेचन है। नगेन्द्र जी की अन्तर्दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तुओं को भी नहीं छोड़ती। ऐतिहासिक रूप में छायावाद को पूर्व युग की स्थूलता के प्रति एक सबल प्रतिक्रिया स्वीकार किया गया है तथा इस धारा पर पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद और कलावाद का प्रभाव भी पड़ा है। डा० नगेन्द्र के कृतित्व का यह पक्ष ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। जिस समय नवीनता की शक्तियों की उपेक्षा हो रही थी, उस समय उनकी स्वीकृति डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व की शक्ति का परिचय देती है।

डा० नगेन्द्र और प्रगतिवाद

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० नगेन्द्र की समीक्षा के मूल तत्त्व क्या थे। स्थायी जीवन और साहित्य के मूल्यों में विश्वास, मानव चेतनागत साहित्य के प्रेरणा स्रोतों की खोज, मनोविश्लेषणात्मक आलोचना-पद्धति, रसवाद-आनन्दवाद में आस्था तथा छायावादी काव्यतत्त्वों का समर्थन, उनके कृतित्व के ये मुख्य तत्त्व रहे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व की गति सीधी रही : गहराई और दूरी दोनों ही दिशाओं में गति का ग्राफ गतिशील रहा उक्त तत्त्व नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व के अंग बन गये। उस युग में उक्त मान-मूल्यों के प्रति प्रतिक्रिया भी हुई . छायावाद के ताजमहल को सशंकित दृष्टि से देखा जाने लगा और उसके अभिप्रायों में प्रतिक्रिया की झलक देखी जाने लगी। नगेन्द्र जी ने किसी प्रगतिशील का उद्धरण देकर इस प्रतिक्रिया को इस प्रकार स्पष्ट किया · "संक्षेप में, पूँजीवादी समाज की नास्तिकता ने इन छायावादी कवियों को इतना *अहंवादी, आत्मापेक्षी समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने असंतोष* का अस्त्र भी फेंक चुके हैं। उनका मैं, उनकी अन्तर्प्रेरणाएँ, सामूहिक व्यक्तित्व का 'मैं'

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १४
२. "छायावाद और गांधीवाद का मूल दर्शन एक ही है।" —वही, पृ० २

या समाज के द्वारा ग्रहण की गई अन्तर्प्रेरणाएँ नही रही।"[1] प्रगतिवादी समीक्षकों की यह उग्र प्रतिक्रिया लगभग १९३७-३८ ई० मे आरम्भ हुई। उन्ही दिनों प्रो० प्रकाशचन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, शिवदानसिंह चौहान प्रभृति आलोचकों ने सामाजिक चेतना, सामूहिक प्रेरणा और भौतिक दर्शन की कसौटी पर साहित्य को परखने, समझने के लिये मार्ग प्रशस्त किया। उन्ही दिनो नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विकास हो रहा था।

जहाँ तक प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति और विश्लेषण-शैली का प्रश्न है, नगेन्द्र जी ने यह पाया कि मार्क्सवादी विचारधारा मे व्यक्ति आकुल और उपेक्षित है। यह उपेक्षा उसे एकांगी बनाती है। अत. मार्क्स और फ्रायड का सम्बन्ध उन्हे आवश्यक लगा।[2] यह कहना भ्रम होगा कि जिस प्रकार पुरानी पीढ़ी के आलोचकों ने छायावाद का विरोध किया, वही स्वर प्रगतिवाद के विरुद्ध नगेन्द्र जी का था। उन्होने इस विचारधारा का एक प्रकार से स्वागत किया, पर बिना व्यक्ति-विश्लेषण के समाज-विश्लेषण के आधार पर ही साहित्य को परखना उन्हे उचित प्रतीत नही हुआ। वस्तुत: "काव्य मे दलित मानवता को सहानुभूतिपूर्ण चर्चा के महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु इसके लिए कवि के दृष्टिकोण मे समरसता का होना आवश्यक है। शोषितों की व्यथा के उल्लेख का तात्पर्य वर्ग-भेद का प्रचार नही होना चाहिए।"[3]

प्रगतिवाद की उपर्युक्त स्थिति का आधार था, उसके पीछे एक प्रबल राजनैतिक वाद का होना। इस राजनैतिक वाद मे किसी के साथ समझौते का प्रश्न ही नही उठता। उस विचारधारा मे पूर्वाग्रह यहाँ तक है कि 'संशोधन' करना 'प्रतिक्रिया' के साथ प्रच्छन्न समझौता करना माना जाता है। इस दर्शन के पीछे विश्वव्यापी प्रचार के प्रति एक अगाध विश्वास भी छिपा हुआ है। आरम्भ मे हिन्दी का आलोचक[4] या कवि इन खतरों से अवगत नही हो पाया और इस दाहक किरण को कोमल-कान्त समझकर इसके स्वागत मे तत्पर हो गया। पंत जी ने इस कविता को छायावाद की एक धारा का ही प्रारूप माना।[5] उन्होंने 'रूपाभ' मे लिखे सम्पादकीयों मे भौतिक एवं स्थूल की उपयोगिता को सुनिश्चित भाषाओं के साथ व्यक्त किया और साहित्यिक मानों मे समय की माँग के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त 'युगवाणी' और ग्राम्या' की अनेक कविताओं में भी प्रगतिशीलता का प्रौढ़ समावेश मिलता है। पीछे इस दिशान्तर की सूचना 'बच्चन', 'अंचल' और नरेन्द्र शर्मा की कविताओं मे मिलने लगी। इनमे भौतिकवाद की अभिव्यक्तियों की तटस्थ छवियों की झाँकी मिलती है। अपने परवर्ती काव्य मे छायावाद जिस अति-

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० १०१

२. देखिए 'विचार और अनुभूति,' पृ० १०३

३. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, पृ० २११

४. 'फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रगतिवाद आज की जीवित शक्ति है, यद्यपि इसका स्वरूप स्थिर होना है।'
—डा० नगेन्द्र, विचार और अनुभूति, पृ० १०१

५. देखिए 'रश्मिबन्ध', भूमिका, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०

कल्पना, अति अनकृति तथा क्षणिक आचरण प्रियता का शिकार हो गया था, उससे कविता को कुछ मुक्ति मिली। छायावादी अतिवाद से विपण्ण युग प्रगतिवाद का स्वागत करे, यह स्वाभाविक था। इससे बुद्धिवाद को बल मिला साहित्य के शाश्वत प्रश्नो को नवीन प्रकाश मे देखा-परखा जाने लगा राष्ट्रीय कविता भी गति पाने लगी। इसके साथ ही कवियो के स्वर मे अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद आये। 'निराला' की कविता-लता म 'नग पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' का मूल्य बढा। नागार्जुन और केदार की कविताओं मे चुभते व्यग्य उभरे। पर, बढती हुई बौद्धिकता दुरूहता तथा प्रचार दृष्टि को भी आमत्रण देती है। अत बाद म जब प्रगतिवाद अपने नग्न रूप मे उपस्थित हुआ तब ये प्रगतिवादी नवीन पथिक ठहरे ठहरकर अपने मार्ग-परिवर्तन के औचित्य पर सोचने विचारने लगे।

डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए सर्वप्रथम प्रगतिवाद के आधार-दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अध्ययन प्रस्तुत किया और अन्त मे यह निष्कर्ष दिया "ससार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नही वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्निशिखा है जो अशत ऊर्ध्व विकास और अशत पतन की ओर उन्मुख है। इन्ही परस्पर विरोधी शक्तियो के, जो स्वय वस्तु मे वर्तमान रहती हैं, सघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। इस प्रकार यह केवल जगत् के भौतिक सत्य को लेकर चलनेवाला दर्शन है। भौतिक जीवन की प्रमुख सस्था समाज है, इसका आधार मात्र अर्थ है। भौतिकवाद के अन्तर्गत काम को अर्थ के आश्रित माना गया है और धर्म को भी भौतिक अर्थ मे जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित माना गया है। फलत मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ मे एकदम अस्वीकार कर दिया गया है।[२] इस प्रकार भारतीय मनीषा के नितात विरोधी के रूप मे यह दर्शन आया। छायावाद पर विदेशी प्रभाव होते हुये भी उसकी आत्मा भारतीय दर्शन क मूल तत्त्वो को आत्मसात करती रही, पर प्रगतिवाद के साथ यह सम्भावना भी समाप्त हो गयी। प्रगतिवाद साम्यवाद का पोषक है, यह साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत मानववाद, क्रान्ति और विशेष परिस्थितियो मे देशभक्ति भी आ जाती है, यद्यपि इनमे से कोई भी उसका अनिवार्य तत्त्व नही है।"[३] इस प्रकार जो कुछ मोहक तत्त्व उस दर्शन मे झलकते हैं, वे उसके अनिवार्य अग नही हैं "साम्यवाद से सहज सम्बन्ध होने के कारण प्रगतिवादी साहित्य को मुख्यत सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है, वैयक्तिक नही।" उसमे व्यक्ति के सुख-दुख की अभिव्यक्ति का मूल्य नही है, उसकी दृष्टि से 'सौन्दर्य' सामाजिक स्वास्थ्य मे है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत आदर्श और मूल्यों में आमूलचूल परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस विषय का तात्त्विक विश्लेषण करने के पश्चात् नगेन्द्र जी कहते हैं "परन्तु उसके ये सभी सिद्धान्त निर्विवाद स्वीकार नहीं किये जा सकते। उन पर कुछ मूलगत आक्षेप सरलता से हो सकते हैं।[४] डा० नगेन्द्र के आक्षेप इस प्रकार हैं—

---

१. देखिए 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृ० ९९ १००
२ ३ ४ वही, पृ० १००, १०१, १०२

१. प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकीर्ण है। जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं। मार्क्सवादियों ने मानव-विकास की जो आर्थिक व्याख्या की है, वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अविश्वसनीय है।

२. साहित्य अपने मूल रूप में सामूहिक या सामाजिक चेतना नहीं है, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है।

३. प्रगतिवाद एक विशेष राजनैतिक विचारधारा का ही उच्चाट है जो बल-पूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति चाहता है। मार्क्सवादी दृष्टि से किया गया मूल्यांकन एकांगी होता है।

४. प्रगतिवाद जीवन के चिरन्तन और आनन्दवादी मूल्यों के प्रति अनास्था रखता है।

डा० नगेन्द्र का विचार है कि प्रगतिवाद का भविष्य उज्ज्वल नहीं है; कारण है गांधीवादी विचारधारा। इस ऐतिहासिक स्थिति को डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है . "अभी भारतीय जीवन में गांधीवाद और साम्यवाद का संघर्ष चल रहा है। गांधीवाद का भारत के संस्कारी हृदय पर गहरा प्रभाव है·········स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त और विशेषकर गांधी जी के महाबलिदान के पश्चात् उसका जोर बहुत ही कम हो गया है। आजकल स्वयं प्रगतिशील वर्ग में भी मौलिक मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। स्वभावतः आज प्रगतिवाद की स्थिति अत्यन्त स्थिर है······उसने हिन्दी-काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।"[१] यदि नगेन्द्र जी अब लिखते तो कहते कि चीन-भारत-संघर्ष ने उसके भविष्य की ध्वान्त निविड़ता को और भी गहरा कर दिया है। इस प्रकार डा० नगेन्द्र का विरोध सुनिश्चित आधारों पर आधारित है।

प्रयोगवाद

डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व का विवेचन करते हुए सिद्धान्त की दृढ़ता की ओर संकेत किया गया है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के प्रति डा० नगेन्द्र में एक प्रतिक्रिया आरम्भ से ही रही है। उनके साथ समझौता कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि छायावादोत्तर उन्होंने बहुत कम लिखा है। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से केवल गिरिजाकुमार माथुर पर उनकी समीक्षा मिलती है, कुछ सामान्य चर्चा अज्ञेय की भी की गयी है। प्रगतिवादी कवियों पर इतना भी नहीं लिखा गया है। केवल दिशान्तर करनेवाले पन्त, दिनकर, नगेन्द्र और अंचल पर व्यावहारिक आलोचनायें लिखी गयी हैं। यद्यपि गिरिजाकुमार माथुर के मूल्यांकन से उनका कुछ झुकाव प्रयोगवाद की ओर होना सिद्ध होता है, किन्तु इस आलोचना को देखने से यह भी स्पष्ट होता है कि माथुर जी की वैयक्तिक उपलब्धियों और वैशिष्ट्यों को ही प्रकाश में लाया गया है। सिद्धान्ततः प्रयोगवाद का समर्थन कहीं नहीं है। अतः यह मानकर चलना होगा कि जिस प्रकार प्रगति के शुद्ध रूप का समर्थन करते हुए भी उसके वाद-रंजित रूप का समर्थन नगेन्द्र जी ने नहीं किया, उसी प्रकार प्रयोग के सिद्धान्तों और उसके 'वाद' रूप का उन्होंने

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १०८, १०९

स्पष्ट विरोध ही किया है। नीचे नगेन्द्र जी के प्रयोगवाद सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

'प्रयोग' शब्द वाद से स्वतन्त्र होकर साहित्य के क्षेत्र में स्वाभाविक रूप में मान्य रहा है। वास्तव में भाव और शैली की परंपरा अपनी रूढ़ियों से गतिबद्ध होकर जब निर्जीव होती जाती है तो उसमें जीवन की नवीन स्फूर्ति संचरित करने के लिए 'प्रयोग' किये जाने चाहिएँ। इस रूप में प्रयोग का महत्व डा० नगेन्द्र ने स्वीकार किया है।[1] अज्ञेय जी ने भी मानवीय चेतना के नूतन संस्कार को युग-समस्या माना है। साहित्य की सार्थकता इसके सम्पादन में ही है।[2] इसलिए आज का कवि नवीन अन्वेषण में संलग्न है।[3] डा० नगेन्द्र ने छायावाद के उत्तरकालीन रूप के प्रति बनती धारणा को इस प्रकार स्पष्ट किया है "धीरे धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। प्रयोगवाद दुधारी प्रतिक्रिया थी छायावाद के प्रति और प्रगतिवाद के प्रति।"[4] प्रतिक्रिया के इस रूप को नगेन्द्र जी ने एक अन्य प्रकार से व्यक्त किया "आरम्भ में इस प्रतिक्रिया (छायावाद के प्रति) का एक समवेत रूप ही दिखाई देता है। कुछ ही वर्षों में उन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनैतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाए रखा। उसने किसी राजनैतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की।"[5] एक स्थान पर नगेन्द्र जी ने त्रिमुखी प्रतिक्रिया की बात कही है और यह तीसरा सूत्र बच्चन जी तथा समसामयिक गीतकारों का है।[6] प्रयोगवादी कवियों ने प्रयोगवाद के स्थान पर 'नई कविता' शब्द को अपनाया। इनमें गिरिजाकुमार माथुर ही नगेन्द्र जी को आकर्षित कर सके। इसका कारण यह था कि वे छायावादी तत्त्वों का पूर्ण तिरस्कार नहीं कर पाये थे।[7] इससे सिद्ध होता है कि परिवर्तन के प्रति नगेन्द्र जी का आलोचक प्रतिक्रिया नहीं करता। केवल 'वाद' और दुराग्रह के रूप में जब परिवर्तन की अंधाधुन्धी होती है, उसे वह साहित्य की आत्मा के विरुद्ध मानता है।

---

१ जीवन की भांति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्व है। जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि विकास के निमित्त प्रयोग करना, उनको रूढ़ि और स्थिरता से बचाने के लिए नवीन गतिविधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य है।

—वही, पृ० १२३

२. देखिए 'त्रिशंकु', 'चेतना का संस्कार', पृ० ८६

३ देखिए 'दूसरा सप्तक,' अज्ञेय, भूमिका, पृ० ६

४. डा० शिवप्रसाद मिश्र, नया हिन्दी काव्य : एक पर्यवेक्षण, साहित्यालोचन, वर्ष ७, अंक २, पृ० १३

५ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १२३

६. वहीं, पृ० १२८

७ 'मंजीर के गीतों में उन्होंने किशोर हृदय की रंगीन भाव कल्पनाओं को स्वर प्रदान किया है। इन गीतों में छायावाद की रंगीनी तो है, किन्तु इनकी भाव वस्तु वायवी नहीं।''

—वही, पृ० ११६

प्रयोगवादी कवि प्रयोग को सिद्धात के रूप मे ग्रहण करता है। साहित्य मे प्रयोग की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। इसका कारण है—जीवन की गतिशीलता। यदि जीवन की गति के साथ साहित्य को चलना है, तो उसे रुचि और परिस्थिति के अनुकूल साहित्यिक प्रयोग करने ही होगे। इसी कारण प्रयोगशील कवि काव्य-सामग्री के अन्वेषण और मन की नवीन तहों की खोज मे लीन रहता है। पुराने उपादान उसके अन्वेषी कवि को आकर्षित नही करते। यदि वह उनको ग्रहण भी करता है, तो उनके प्रयोग मे 'प्रयोग' होना चाहिये। जीवन के नवीन क्षेत्रो की यात्रा उसे उस 'अन्वेषण' की प्रेरणा से करनी पडती है। साहित्य मे संभवतः वह स्थिति नही आ सकती, जब पूर्ण सत्य की उपलब्धि 'प्रयोग' को अनावश्यक कर दे।[१]

प्रयोगवादी कवि को न तो प्रगतिवाद का रूप-पक्ष ही जँचा और न उसकी सामाजिक जीवन-दृष्टि ही। छायावाद की अतिशय काल्पनिकता और वायवीयता के प्रति जहाँ उसका विरोध था, वहाँ प्रगतिवाद से और भी कडा विरोध था। उसने प्रगतिवाद की यह मान्यता ठुकरा दी कि काव्य का सम्बन्ध जन-जीवन और समाज से है। उसने केवल व्यक्ति और उसके अहं को अपना केन्द्र बनाकर उसको विविध परिपार्श्वों मे, शिल्प और वस्तु की विविध और नवीन छवियो के बीच, चित्रित किया। अज्ञेय जी के अनुसार कवि अपने लिये लिखता है। जो अपने लिये नहीं लिखा जाता, वह दूसरे के सामने प्रस्तुत नही किया जा सकता—"मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात् करता है तब मानो वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओ का मनोनीत हो जाता है और काव्य-कृति ही उसका आत्म बलिदान है, जिसके द्वारा वह देवताओ से उऋण हो जाता है। यही देवता से उऋण होने की छटपटाहट वह विवशता है जो लिखाती है।"[२] इस स्वर में प्रगतिवादी मान्यता का तीखा विरोध परिलक्षित है। नगेन्द्र जी ने भी यह कहकर कि उन्होने 'अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा', इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

छायावादी सौन्दर्य-बोध को प्रयोगवाद मे सीमित बताया गया। इसकी सीमा-वृद्धि के लिये अनगढ और भदेस को काव्य मे स्वीकार किया गया—"सौन्दर्य की परिधि मे केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ और 'भदेस' का समावेश किया गया।"[३] प्रयोगवादियो के अनुसार सौन्दर्य-चेतना युग की परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। आज की परिस्थितियों मे अनगढ और 'भदेस' हमारे अधिक निकट हैं: फलत उनकी चेतना हमारे लिये अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है। अज्ञेय जी के अनुसार साहित्यिक सौन्दर्य का आस्वादन बुद्धि-व्यापार-साधित है। साहित्यिक वस्तु का सौन्दर्य बौद्धिक प्रक्रिया पर निर्भर रहता है। गोचर अनुभव की तीक्ष्णता या असुन्दरता बौद्धिक संस्पर्श से सुन्दरता ही बन जाती है।[४] इस बुद्धिपरक आस्वादन के आधार पर प्रयोगवादी 'भदेस' की

१. देखिए 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृ० ११४
२. आत्मनेपद, पृ० २३६
३. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, प० ११४
४. कल्पना, मार्च १९६१, पृ० ३५

योजना करता है। इस भदेसपन के साथ नगेन्द्र जी समझौता नही कर पाये। केवल नगेन्द्र जी ही नही, अन्य अनेक आलोचक भी इस भदेसपन से ऊब गये।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी इस स्थिति से क्षुब्ध हैं—"प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणत उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना मे कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।"[१] पर ऐसे भी समालोचक हैं, जो 'भदेस' को बौद्धिक सौन्दर्यानुभूति का पक्ष समर्थन करते हैं।[२] पर, जिन आलोचको के मन मे छायावादी सौन्दर्यानुभूति का मधु-सिंचन है—उनम एक नगेन्द्र भी हैं—वे इस तत्त्व और आस्वाद की बुद्धिवादी व्याख्या से समझौता नही कर सकते।

इस प्रकार के सौन्दर्य-बोध की समाप्ति की परिस्थितियो का विश्लेषण भी नगेन्द्र जी ने किया है। उस विश्लेषण का सार यह है—"आज का जीवन सर्वथा विशृखलित और अव्यवस्थित है, जीवन-मूल्यो की इतनी भयकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो।······पहले तो राजनीति और सस्कृति प्राय स्वतत्र थी, किन्तु आज वे एक-दूसरे से गुँथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दिया है, विश्वास का मूल सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है ·····विज्ञान ने ईश्वर विश्वास तो हिला दिया है।···· समाज की प्राचीन व्यवस्था भग हो गई, परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक नही दिखाई देती।······ऐसी अवस्था मे किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य-बोध को ग्रहण कर लेना असम्भव है।"[३] जीवन मूल्यो की यह अव्यवस्था नवीन काव्य मे बहुत मुखर है, क्योकि इसके साहित्यिक उपादानो में लघु-गुरु का भेद नही है।

प्रयोगवादी कवि अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तुपरक बनाना चाहता है, क्योकि उस पर कविता की निर्वैयक्तिक परिभाषा का प्रभाव रहता है। उसकी काव्यानुभूतियो पर व्यक्तित्व का रग होता है, पर वह सामान्य से भिन्न होता है। नगेन्द्र जी के शब्दो मे—"इस कविता में व्यक्तित्व की निविडताओ को वैज्ञानिक प्रतीको द्वारा वस्तुगत रूप मे अकित करने का प्रयत्न रहता है और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जहाँ वस्तुपरक और व्यक्तिपरक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रहकर साधन-साध्य बन जाते हैं।"[४] भाव-वस्तु के सम्बन्ध मे अज्ञेय जी ने अनेकल कहा है कि कलागत भाव और व्यक्तिगत भाव पृथक् होते हैं। कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्वैयक्तिक होते हैं। कविता अनुभूति की अभिव्यक्ति नही है, उससे मुक्त है।[५] वस्तु और व्यक्ति मे साध्य-साधक सम्बन्ध प्रस्तुत हो जाता है, पर नगेन्द्र जी इस वस्तुपरकता का एकात समर्थन नही कर सके।

---

१. आधुनिक साहित्य, पृ० १५

२. "आस्वाद ग्रहण करने के लिये विशेष मानसिक सस्कार और बौद्धिकता की अपेक्षा है। जिनके पास ये चीजें नहीं हैं, वे उसका आस्वादन करने में असमर्थ रहते हैं।"
—समालोचक, जुलाई १९५८, पृ० २३, 'नई कविता · आस्वादन की समस्या' शीर्षक लेख

३. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ११५-११६

४. वही, पृ० ११७

५. दखिए 'त्रिशकु', पृ० १८-४०

कवि अपने मन के भाव-खंडो को अभिव्यक्ति तो करता है, पर 'विशेष' की अभिव्यक्ति का आग्रह होने के कारण साधारणीकरण सम्भव नही रहता। "वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खंडो को उसी अव्यवस्थित रूप मे प्रतीको द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है।"[१] अवचेतन की लाक्षणिक अभिव्यक्ति यदि छायावाद की विशेषता थी, तो इसमे प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति पर बल है। अज्ञेय जी के अनुसार आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओ से लदा हुआ है, जो दमित और कुंठित हैं। इसकी अभिव्यक्ति यो हुई है—

मेरी कुंठा
रेशम के कीडे सी तानेबाने बुनती
स्वर से, शब्दो से, भावो से
और वीणा से कहती सुनती
तड़प-तड़प कर बाहर आने को सिर धुनती
गर्भवती है
मेरी कुंठा कवारी कुंती।[२]

इस उक्ति मे बौद्धिकता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। वस्तुत: बौद्धिकता की पर्ते प्रयोगवादी कविताओ को आच्छादित रखती है। यह बौद्धिकता भाव-वस्तु के नियोजन को प्रत्यक्ष कर देती है। आज के बुद्धिजीवी से आशा की जाती है कि अंतर्मन की इस बौद्धिक पीडा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति से वह झुझलायेगा नही, इस पर नग्नता का आरोप नही करेगा; इस पर अश्लीलता का कलक नही लगाएगा; इसकी तीव्रता का बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर आस्वादन करेगा।

यह बौद्धिकता प्रयोगवादी कवि के शिल्प पर भी छनकर आ जाती है। इसके कारण उसमें 'दुरूहता' आ जाती है। इस दुरूहता के कारण कवि और पाठक के बीच एक दुर्लंघ्य खाई बन जाती है।[३] प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि भाषा मे नवीन अर्थ समा जाय।[४] भाषा के सम्बन्ध मे उसका यह दृष्टिकोण उसे चमत्कार-प्रिय भी बना देता है। अज्ञेय जी के अनुसार शब्दो का चमत्कार समाप्त भी होता रहता है : चमत्कारिक अश अभिधेय भी बनता रहता है। कविता की भाषा गद्य की भाषा के समान बनती रहती है, अत: कवि नवीन प्रयोगों से भाषा का सस्कार करता रहता है।[५] इस प्रकार भाषा

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० ११७

२. निकष, भाग ३-४

३. 'अतिशय बौद्धिकता फलतः दुरूहता, आज के नये काव्य की एक अन्य सीमा है, जो उसके और उसके पाठक के बीच एक गहरी खाई के रूप में प्रतिष्ठित देख पड़ती है।"
—डा० शिवकुमार मिश्र, साहित्यालोचन, वर्ष १, अंक ?, पृ० २७

४. "वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।"
—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ११८-११६

५. दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ११

सम्बन्धी प्रयोगवादिता इस धारा मे सिद्धान्तवत् स्वीकृत है। साहित्यिक और बोलचाल की भाषा का अन्तर इस धारा मे स्वीकृत नही है।[1] नगेन्द्र जी ने प्रयोगवादियो की भाषा सम्बन्धी नीति का विशिष्ट अध्ययन किया है और अपने निष्कर्ष इस प्रकार दिये हैं—"एक तो विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र, बाजार, गाँव, गली-कूचे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द-भण्डार को व्यापक बनाता है, दूसरे शब्दो का शिथिल और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है......भाषा की व्यंजना और समास-शक्ति पर इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्तव्यस्त हो जाती है।"[2]

प्रयोगवादी कवि का छंद-विधान भी अस्तव्यस्त रहता है और वह संगीत का सतर्कता से बहिष्कार करता है। इस प्रकार दुरूहतामय भाषा-शैली, चमत्कार और इस सम्बन्ध मे नित्य नये प्रयोग इस धारा मे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत है। इस दुरूहता के चार कारण नगेन्द्र जी ने माने हैं—बौद्धिकता, साधारणीकरण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव-खंडो की यथावत् अभिव्यक्ति तथा भाषा का एकान्त वैयक्तिक अनर्गल प्रयोग। अन्त मे वे अपने आक्षेप को इन शब्दो मे व्यक्त करते हैं—"मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण *सैद्धान्तिक हैं, क्योंकि इनके आधारभूत सिद्धान्त ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्य-*शास्त्र दोनों की कसौटियो पर ही खोटे उतरते हैं।"[3] यदि ये सिद्धात पूर्वाग्रह-युक्त न हो, तो 'प्रयोग' भाषा तथा वस्तु मे नवीन जीवन भर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवाद का कुछ दूर से अध्ययन किया है। दूर से जितनी बातें देखी जा सकती है, उनका विवेचन पर्याप्त सुलझा हुआ और गहरा है। पर जितना सूक्ष्म दर्शन और विश्लेषण अपेक्षित था, उतना सम्भवत सर्वत्र नही हो पाया है। पर अभी इस क्षेत्र मे नगेन्द्र जी के कृतित्व का अन्त नही समझना चाहिये। सम्भवत. इस धारा का उन्हें आगे गम्भीर विश्लेषण करना होगा। साथ ही उन्हें गिरिजाकुमार माथुर जैसी अन्य नवीन प्रतिभाओ का मूल्यांकन भी करना होगा।

तुलनात्मक आलोचना

द्विवेदी युग मे तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र मे विकास हुआ। देशी विदेशी कवियों की तुलनात्मक समीक्षाएँ भी हुईं और देव-बिहारी, भूषण-मतिराम, तुलसी-जायसी जैसे *कवियो का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया।* *तुलनात्मक आलोचना का नाम आते ही* प० पद्मसिंह शर्मा का नाम याद आ जाता है। सम्भवत. एक विशेष आलोचना-पद्धति के रूप मे उन्होने ही इसकी प्रतिष्ठा की। मिश्रबन्धुओ ने तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र मे छोटे-बड़े की भावना को भले ही प्रस्तुत किया, पर इस क्षेत्र को विस्तार भी उन्होने ही दिया। वे देव का पक्ष लेकर शर्मा जी से उलझ गये। देव-बिहारी-विवाद बहुत दिनो तक चलता रहा। इसमे विशेष रूप से भाग लेनेवाले महारथी सर्वश्री पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण-बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन थे। 'हिन्दी-नवरत्न' (मिश्रबन्धु) तुलनात्मक आलोचना

१. देखिए 'आत्मनेपद', पृ० १६५
२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ११६
३. वही, पृ० १२०

का प्रेरणा-स्रोत बना। इसके बाद शर्मा जी का 'सतसई सहार' लेख 'सरस्वती' मे छपा। यदि शर्मा जी ने 'सञ्जीवनभाष्य' लिखकर बिहारी की ऊँचाई सिद्ध की, तो पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' ग्रंथ की रचना कर डाली। फिर 'दीन' जी कैसे चुप बैठते? उन्होने 'बिहारी और देव' की रचना की! किन्तु, इस विवाद में तुलना की शुद्धता बनी न रह सकी। दुराग्रह, पक्षपात और अपनी विजय की भावना इतनी अधिक हो गई कि तुलना की विस्तृति न हो पाई। हाँ, एक पद्धति अवश्य स्थापित हो गई।

द्विवेदी युग के पश्चात् आलोचना की शैली मे पर्याप्त विकास हुआ। देश-विदेश के साहित्य का गम्भीर अध्ययन इस आलोचना-पद्धति को उत्प्रेरित और संपुष्ट करने लगा। उद्देश्य मे भी विकास हुआ। छोटा-बडा सिद्ध करने की दुराग्रहमयी भावना या तो तिरोहित हो गई, या अधिक तर्कपूर्ण और सत्याश्रित। इस दिशा मे शचीरानी गुर्टू का 'साहित्य-दर्शन' एक उल्लेखनीय प्रयास है। हिन्दी-साहित्यकारो की विदेशी साहित्यिको से तुलना एक विशद उद्देश्य को लेकर की गई। इसमे समानता के तत्त्वो का विशेष उद्घाटन करके हिन्दी के कवियो या लेखकों को विश्व-साहित्य की प्रतिभाओं की पंक्ति मे स्थान दिलाने तथा विश्व-व्याप्त धाराओ से उनको सम्बद्ध करने का प्रयास स्तुत्य है। उनमें अध्ययन की समर्थता और जिज्ञासा के तत्त्व प्रमुख हो उठे। उन्होने कालिदास और शेक्सपियर, गेटे और प्रसाद तथा रवीन्द्र, पन्त और कीट्स आदि का अध्ययन प्रस्तुत करके कवियो तथा प्रमुख लेखको की सीमाओ को स्पष्ट किया और मूल्य मे वृद्धि की। वैसे, विदेशी साहित्यकारों से तुलना का श्रीगणेश मुख्य रूप से श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व-साहित्य' लिखकर किया था। इस क्षेत्र में विनोदशंकर व्यास, इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, डा० देवराज, डा० भगवतशरण उपाध्याय तथा नलिन-विलोचन शर्मा के नाम भी उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त श्री सीताराम चतुर्वेदी ने 'समीक्षा शास्त्र' में भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तो की तुलनात्मक विवेचना की है। इससे आधुनिक अनुसंधान का क्षेत्र भी विकसित हुआ और भारतीय काव्यशास्त्र का पुनराख्यान भी सभव हुआ।

इस क्षेत्र मे नगेन्द्र जी भी एक विशेष स्फूर्ति, दृष्टिकोण की निष्पक्षता उद्देश्य की विशालता और विवेचना की स्पष्टता लेकर आये। उनका प्रेरणा-स्रोत बहुत व्यापक है। "भारत की राष्ट्रभाषा होने के बाद हिन्दी का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वह अब उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा न रहकर सम्पूर्ण भारत की भाषा स्वीकृत हो गई है।"[१] उनके अनुसार इस क्षेत्र मे आशाप्रद सभावनाएं ये हैं—"उसमे बँगला की भावोष्ण कला, मराठी की दृढ़ता, गुजराती की व्यावहारिकता, दक्षिण भाषाओं की सास्कारिता, और उर्दू की चटख और चमक हिन्दी की समन्वयशीलता मे पगकर एकरूप हो जायेंगी।"[२] इस विचार मे गहराई लाने के लिये अनुवाद-कार्य भी आवश्यक है और तुलनात्मक अध्ययन भी—"हिन्दी के माध्यम से भारत के भिन्न भिन्न साहित्यो की मूल

१. विचार और विश्लेषण, पृ० १०७
२. वही, पृ० १०७

प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर समान तत्त्वो का सयोजन किया जाये । इससे एक तो भारतीय साहित्य की एक समन्वित रूप-रेखा प्रस्तुत की जा सकेगी, दूसरे हिन्दी और हिन्दी की भाँति दूसरी भाषाओ के साहित्यकारो को व्यापक धरातल पर भावन करने मे भी सहायता मिलेगी।"[१] इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय भाषाओ के साहित्य की व्यापकता सिद्ध होगी और उनके परस्पर समान तत्त्व उभर आयेंगे। आज भारत की एकता का प्रश्न और प्रयत्न जितना विशद या आवश्यक दीख रहा है, उतना सम्भवत कभी नही रहा। *क्या एकता के देशव्यापी भगीरथ प्रयत्न मे समय साहित्यकार का कोई दायित्व नही है?* क्या वह इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण योगदान देने से हिचक रहा है? उसे 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता'[२] को उभारकर भावात्मक एकता के लिए दृढ आधार और भूमिका प्रस्तुत करनी है। इस कार्य ने तुलनात्मक अनुसधान के लिये भी क्षेत्र खोला है और तुलनात्मक समीक्षा के लिए भी। डा० नगेन्द्र के शब्दो में—'जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओ और जीवन प्रणालियो के रहते हुए भी *भारतीय सस्कृति की एकता* असदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यजना-पद्धतियो के रहते हुये भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसधान भी सहज सम्भव है।"[३] इसके लिये कुछ योजनायें ये हो सकती हैं 'इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसधान, अन्त साहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की *सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान प्रदान की सुविधा हो सकती है।*"[४] राष्ट्रीय स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी सम्भवत पहले कभी नही थी। तुलनात्मक अनुसधान और अध्ययन मे जो प्रगति हो रही है, उसका राष्ट्रीय महत्त्व है। डा० नगेन्द्र की प्रेरणा से भी पर्याप्त कार्य इस दिशा मे हो रहा है।

हिन्दी के अपने आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से भी तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। जहाँ तक आलोचना के क्षेत्र की प्रगति का प्रश्न है, उस पर हिन्दी एक सात्विक गर्व का अनुभव कर सकती है।[५] पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के सिद्धान्तो को प्रकट करने के लिये उसने जो पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त की है, वह अनुकरणीय है। साथ ही भारतीय आलोचनाशास्त्र के पुनराख्यान सम्बन्धी जितनी सभावनायें हैं और इसके लिये जितने मानवशास्त्रो के सहयोग की आवश्यकता है, उनके प्रति हिन्दी का समालोचक सचेष्ट है। डा० नगेन्द्र इस क्षेत्र मे विशेष सतर्क हैं। आज आवश्यकता सामजस्यपूर्ण पुनराख्यान की है—"मेरा निवेदन है कि हिन्दी साहित्य की परम्परा को आधार मानकर भारतीय *तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रो के सामजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य*

---

१ विचार और विश्लेषण, पृ० १०८

२ देखिए, इस लेखक का लेख, अनुसन्धान और आलोचना, पृ० २०

३. वही, पृ० २१

४ वही, पृ० २६ २७

५ "मेरी धारणा है कि हिन्दी साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है।"
—विचार और विश्लेषण, पृ० ५

सिद्ध हो सकता है।"[1] साथ ही अन्य भारतीय भाषाओ की आलोचनाशास्त्रीय धाराओं को भी विस्मृत नही कर देना है—"हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में निहित भारतीय परम्पराओ तथा पाश्चात्य चिन्ता-धाराओ के पोषक तत्त्वों के द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है।"[2] इसके लिए नगेन्द्र जी ने यह मार्ग सुझाया है—"*इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचनाशास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा;* जिसका मूल आधार होगा—हिन्दी के माध्यम से काव्य के चिरंतन सत्यो का अनुसधान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रो की समृद्ध परम्पराओ मे पोषण प्राप्त करेगा, परन्तु उनकी व्याख्या या अनुवाद-मात्र होकर नही रह जायेगा।"[3] इस प्रकार नगेन्द्र जी ने तुलनात्मक अध्ययन की सीमाओ की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विस्तृति को ध्यान मे रखा है। इस क्षेत्र मे उनका योगदान दो रूपो मे सामने आता है—सम्पादक के रूप में तथा स्वतन्त्र समीक्षक के रूप मे। सम्पादक के रूप मे उन्होने भारतीय और पाश्चात्य आलोचना शास्त्र को हिन्दी के *माध्यम से प्रस्तुत करने-कराने का स्मरणीय प्रयत्न किया है। साथ* ही उनकी भूमिकाओं में तुलनात्मक दृष्टि और इस कार्य की सम्भावनाओ का भी उद्घाटन है। उन्होने स्वतन्त्र रूप से भी कुछ लेख लिखे है, जैसे 'भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र', 'वामन के काव्य-सिद्धान्त' आदि। इस प्रकार नगेन्द्र जी के कृतित्व की यह एक प्रबुद्ध दिशा है। इसमे उद्देश्य की महानता है। उनके उद्देश्य मुख्यत: ये हैं : हिन्दी-*साहित्य का विकास, भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता की सिद्धि, भारतीय साहित्यशास्त्र* का नवीन पुनराख्यान, विश्व-साहित्य मे भारतीय साहित्य की प्रतिष्ठा तथा मूलभूत चिरतन विश्वव्यापी काव्य-मूल्यो की खोज। सम्भवत: लेखक भारतीय एकता से ही सन्तुष्ट नही होना चाहता, वह मानवीय एकता की भावात्मक भूमिका का भी अन्वेषी है। साथ ही वह विरोध के स्थान पर सामंजस्य की स्थापना करना चाहता है।[4]

ऊपर नगेन्द्र जी के तुलनात्मक कृतित्व और प्रमुख क्षेत्रो की चर्चा की गई है। पर उनके आलोचक को यह प्रिय है कि आलोचनात्मक दृष्टि मे भी तुलनात्मक परख बनी रहे। इससे निष्कर्षो में निश्चितता और व्यापकता आती है। *नगेन्द्र जी की दृष्टि विकास* की कड़ियों की खोज करती है। इतिहास के सम्बन्ध मे यही विकासात्मक पद्धति आज अधिक वैज्ञानिक मानी जाती है। इतिहास की अन्तर्वर्ती परिस्थितियो से तुलनात्मक अध्ययन से विकासशील तत्त्वो तथा क्रिया-प्रतिक्रिया का निर्धारण अधिक तर्कपूर्ण हो जाता है। इस पद्धति का उपयोग हिन्दी की विभिन्न प्रवृत्तियो के विकास-निरूपण मे डा० नगेन्द्र ने किया है। 'आधुनिक काव्य के आलोचक')विचार और अनुभूति) मे छायावादी प्रवृत्ति

१. विचार और विश्लेषण, पृ० १०
२. विचार और विश्लेषण, पृ० १०
३. वही, पृ० ११
४. 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' निबन्ध का 'निष्कर्ष' यह है—"इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके एक पूर्णतर काव्यशास्त्र का निर्माण किया जाय, जिसमें स्रष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।"

—विचार और विवेचन, पृ० १७

के विरोध मे या पक्ष मे होती हुई आलोचको की क्रिया-प्रतिक्रियाओ की गत्यात्मक स्थितियो की तुलनात्मक आलोचना की गई है। 'आलोचना की आलोचना' (विचार और अनुभूति) भी इसी कोटि का निबन्ध है। 'शृङ्गार रस' नामक लेख मे आदिम युग से लेकर वैदिक काल, महाभारत काल तथा ऐतिहासिक काल मे होकर आज के युग तक की समस्त *स्थितियो का तुलनात्मक अध्ययन करके प्रेम-भावना तथा शृङ्गार रस के विकास को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना तथा तुलनात्मक दृष्टि के* उद्बुद्ध सामजस्य के द्वारा नगेन्द्र जी ने अपने कृतित्व को विशद-विस्तृत बनाया है।

यह काल मूल्यो की सक्राति का काल है। किसी मूल्य-रूप पर स्थिर रहना आज के अनेक हिन्दी-कवियो और लेखकों के लिये कठिन हो गया है। उन्होंने अपने जीवन-काल मे ही अपने विचारो मे उलट-पलट की है। डा० नगेन्द्र की तुलनात्मक दृष्टि ने इन रूपान्तर करनेवाले कवियो पर भी दृष्टिपात किया है। उन्होंने ऐसे कवियो की पूर्ववर्ती विचार-धाराओ की अन्तर्वर्ती विचार-धाराओ से तुलना करके महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। पत जी के अध्ययन मे यह दृष्टि विशेष रूप से मिलती है। 'सुमित्रानन्दन पत' पुस्तक के दो भाग हैं पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। उत्तरार्द्ध मे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को रखा गया है। इस प्रकार दोनो स्थितियो का तुलनात्मक अध्ययन करके 'विकास-सूत्र'[1] की योजना की गई है। 'पन्त का नवीन जीवन दर्शन' शीर्षक लेख मे भी पत जी की विचार-धारा की दो दिशाओ की तुलना प्रस्तुत की गई है। तुलनात्मक विवेचना के पश्चात् ये निष्कर्ष दिये गये हैं—"उनकी भाषा मे सौन्दर्य के सूक्ष्म-तरल सवेदनों को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरम्भ से ही रही है। 'ज्योत्स्ना' और 'युगात' मे आकर उसमे गम्भीर *सामाजिक-दार्शनिक तत्त्वो को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। 'युगवाणी' और* 'ग्राम्या' मे *अभिव्यक्ति मे जन-साधारण के नैतिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया, जो 'स्वर्णधूलि' की अनेक सामाजिक कविताओ मे चलता रहा।"*[2] 'दिनकर के काव्य सिद्धान्त' मे भी दिनकर के काव्य सिद्धान्तो की बहुरूपता का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विचारो की यह द्विविधा आज के कवियो मे प्राय मिलती है: कभी व्यक्तिवादी तत्त्व प्रबल हो जाते हैं, कभी सामाजिक।

निष्कर्ष यह है कि तुलनात्मक क्षेत्र मे नगेन्द्र जी का कृतित्व पर्याप्त विस्तृत, व्यापक और विकासमान रहा है। महान् उद्देश्य की प्रेरणा से वे आज भी इस कार्य मे सलग्न हैं।

सैद्धातिक आलोचना

सैद्धातिक समीक्षा के क्षेत्र मे आते ही आज का सजग आलोचक अपने को विविध परम्पराओ के आग्रहो से वेष्टित कर लेता है। एक ओर प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र *की समृद्ध परम्परा अपनी अपूर्व उपलब्धियों को लिए हुए है और दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्यशास्त्र मे अरस्तू से लेकर क्रोचे तक एक सुदीर्घ और परिवर्तनशील परम्परा आर्कर्षित करती रही है।* साथ ही समाज-विज्ञान और भौतिक विज्ञान अपने योगदान की सभावना

१ देखिए 'सुमित्रानन्दन पंत', पृ० १४१

२ विचार और विवेचन, पृ० १२३

से आलोचक को प्रेरणा दे रहे हैं कि वह जीवन के नवीन उन्मेषों के अनुरूप 'प्राचीन' का पुनराख्यान करे अथवा नवीन मानदण्ड प्रस्तुत करे। प्राचीन साहित्यशास्त्रज्ञ भी दर्शन और नीतिशास्त्र जैसे विषयों से सहायता लेता था।[१] भारत में भी व्याकरण और दर्शन ने साहित्यशास्त्र को पर्याप्त स्फीति प्रदान की।[२] इस प्रकार साहित्यशास्त्र प्राचीन काल में भी जीवन के विभिन्न रूपों के व्याख्याता दार्शनिक सिद्धांतों से अनुप्राणित होकर अपनी सीमाओं का विस्तार ही नही करता था, एक बौद्धिक ऐक्य की भूमिका भी प्रस्तुत करता था। पर, ये दार्शनिक व्याख्याएँ प्रायः जीवन के चिरंतन सत्यो की व्याख्या से सम्बद्ध थी। अतः जीवन की चिरगतिशीलता से उत्पन्न समस्याओं पर व्यक्त रूप से विचार नहीं होता था। फलतः पश्चिम मे भी बहुत दिनों तक पिष्ट-पेषण ही होता रहा[३] और भारत मे भी काव्य-सम्प्रदायो के प्रवर्तक उद्‌भावक आचार्यों के पश्चात् मौलिक चिन्तन की दृष्टि से अंधकार युग ही दीखता है। आज का युग 'प्रगति' और 'प्रयोग' का युग है। जो अगतिशील तत्त्व हैं, यदि वे पूर्णरूपेण मृत नही हो गये हैं, तो उनको नवीन प्रयोगो और सयोगो से गतिवान् बनाया जा सकता है। इस कार्य मे पुनराख्यानक आचार्यों का कार्य महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल और प्रसाद जी ने पुनराख्यान का जो कार्य आरम्भ किया था, वह आज भी गतिशील है। इस सन्दर्भ में नगेन्द्र जी के कार्य का मूल्याकन यहाँ अभिप्रेत है।

डा० नगेन्द्र ने 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' लेख मे काव्यशास्त्र के विकास-इतिहास को स्पष्ट किया है, पर इसमें न विकासवाद की शब्दावली का प्रयोग है और न मानव-विकास की विकासवादी स्थितियो का ही विशेष उल्लेख है। उन्होने सीधे-सीधे परिचयात्मक शैली मे इतिहास प्रस्तुत कर दिया है, पर कही-कही साहित्य-विधा के विकास के निरूपण मे यह शब्दावली भी मिल जाती है। 'दीपशिखा' मे नगेन्द्र जी ने गीत का विकासवादी विश्लेषण इस प्रकार किया है—"वह अपने जन्म मे ही वन्य-कण्ठो मे पला है। इसलिए उसकी गति और लय मे—यहा तक कि उसकी शब्दावली मे भी—वन्य सस्कार वर्त्तमान रहते हैं। यह असम्भव है कि एक सफल कलाकार कला-गीतो की रचना करते हुए इन वन्य-गीतो की पक्तियो को अनायास ही न गुनगुना उठे। सचमुच पाठक के संस्कार भी बिना इन स्पर्शों के गीत को गीत मानने के लिए तैयार नही होते।"[४] इस प्रकार गीत का बाह्य विश्लेषण करने के पश्चात् लेखक आन्तरिक विश्लेषण मे प्रवृत्त हो जाता है। नगेन्द्र जी ने भारतीय साहित्यशास्त्र के पुनराख्यान मे विकासवादी पद्धति को नियमित रूप से

---

१. "यूनानी आलोचनाशास्त्र का जन्म भी यूनानी दर्शनकों के, सामाजिक एव साहित्यिक चिन्तन द्वारा ही सम्भव हुआ।"

—डा० एम० पी० खत्री, आलोचना, आलोचना-विशेषांक, पृ० ११

२. "काव्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है।"

—डा० नगेन्द्र, विचार और विवेचन, पृ० ६

३. "यूनान तथा रोम के जो भी आलोचक साहित्य-समीक्षा में अग्रसर हुए उन्होने या तो इन्हीं दोनों महान् विचारकों (प्लेटो, अरस्तू) के साहित्य-सिद्धान्तों को दुहराया अथवा पिष्ट-पेषण किया।"

—डा० एस० पी० खत्री, आलोचना, आलोचना-विशेषांक, पृ० १५

४. विचार और अनुभूति, पृ० ११८

प्रयुक्त नही किया। जहाँ तक छायावादी तथा वैज्ञानिक सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रश्न है, नगेन्द्र जी ने स्वय भी अपने अभिमत व्यक्त किये हैं तथा कुछ कवियो के सिद्धान्तो की प्रत्यालोचना भी लिखी है।[१] इन प्रत्यालोचनाओ मे नवीन काव्य-सिद्धान्तों पर डा० नगेन्द्र ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। साथ ही उन्होने अपने काव्य-सिद्धान्तो के मेलजोल से एक सामान्य 'आनन्दवादी' कसौटी का समर्थन किया है। उनके द्वारा सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र मे सबसे बडा कार्य है भारतीय साहित्यशास्त्र का मनोवैज्ञानिक तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र (प्राचीन और नवीन) की दृष्टि से पुनराख्यान। क्रोचे, इलियट तथा रिचर्ड्स के सिद्धान्तो मे सभी प्रमुख आधुनिक समीक्षा-सिद्धान्तो को प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इस प्रकार एक विस्तृत भूमिका में भारतीय साहित्यशास्त्र का पुनराख्यान किया गया है। इस सैद्धान्तिक समीक्षा के दो भाग हैं भारतीय साहित्यशास्त्र का नवीन अध्ययन तथा पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का विवेचन।

भारतीय साहित्यशास्त्र का पुनराख्यान

नगेन्द्र जी ने मौलिक लेखो के अतिरिक्त अनूदित ग्रथो की भूमिकाओ मे भी इस दिशा मे विचार किया है। 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' और 'काव्य मे उदात्त तत्व' के अतिरिक्त निबन्ध-सग्रहो मे इस प्रकार के निबध भी हैं—'भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र', 'रस का स्वरूप', 'साधारणीकरण', 'शृङ्गार रस', 'रस शब्द का अर्थ-विकास', 'वामन के काव्य-सिद्धान्त' आदि। इनमे प्रमुख रूप से रस-सिद्धान्त पर विचार किया गया है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अभाव की पूर्ति

इस क्षेत्र मे पदार्पण करके डा० नगेन्द्र ने एक प्रमुख कार्य यह किया कि भारतीय साहित्यशास्त्र के अभावो को देखा और अन्य स्रोतों से उदारतापूर्वक तत्त्वों को चुनकर उसको पूर्ण बनाने की चेष्टा की। यह उनका एक रचनात्मक कृतित्व है। उनको सबसे बडा अभाव यह लगा कि रसग्राही पाठक का तो पर्याप्त विश्लेषण यहाँ के आचार्य ने किया है, पर रस-सर्जक की उसने उपेक्षा की है।[२] "इसका एक बहुत बडा कारण था—वह यह कि भारतीय परम्परा अखण्ड रूप से काव्य के केवल निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही।[३]" यह अभाव पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के नवीन सिद्धान्तों के सामने और मुखर हो गया। वहाँ कलाकार की अंतश्चेतना का विश्लेषण किया गया। इस कमी को मनोविज्ञान के सहयोग से दूर किया जा सकता है—यह डा० नगेन्द्र की धारणा बनी।[४] आज का आचार्य वह है जिसमे पौरस्त्य एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान का सयुक्त रूप प्रस्फुटित हुआ हो। मनोविज्ञान की सहायता से कवि-मानस मे अंतर्निहित

---

१. विशेष रूप से द्रष्टव्य : 'महादेवी की आलोचक दृष्टि' शीर्षक लेख, विचार और अनुभूति, पृ० १२०-१२६

२. "सस्कृत-शास्त्र के तत्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रसग्राही पाठक की मन स्थिति का विश्लेषण करने मे किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-सर्जक के मनोविश्लेषण पर खर्च नही किया।"

—विचार और अनुभूति, पृ० ५

३. विचार और अनुभूति, पृ० ६

४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० ७

प्रेरणा खोजी जा सकती है—आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा। इस प्रेरणा में कामवृत्ति और उसकी अतृप्तियों का विशेष हाथ रहता है तथा इसकी उद्भूति आत्म, अनात्म, अहं और वातावरण के संघर्ष से होती है।[१] इस प्रकार काव्य की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में नगेन्द्र जी का एक स्पष्ट सिद्धान्त बना, जिसकी प्रेरणा भारतीय साहित्यशास्त्र की तत्सम्बन्धी उपेक्षा से मिली, उत्तेजना मनोविज्ञान से मिली और फ्रायड के सिद्धान्त ने उसका रूप निश्चित कर दिया।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कल्पना-तत्त्व को बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। संस्कृत-काव्याचार्यों ने इसका मात्र उल्लेख किया है, पर इसके विवेचन को अपेक्षित सूक्ष्मता नहीं मिली।[२] यह भी एक अभाव ही है। इसके लिये उन्होंने भारतीय दर्शन, न्याय, गीता-रहस्य आदि स्रोतों में खोज की है। न्याय ने मन को संकल्प-विकल्पात्मक कहा है।[3] 'विकल्प' की दार्शनिक मान्यता कल्पना के समकक्ष है। साथ ही रसशास्त्र भी कल्पना तत्त्व के विषय में मौन नहीं है। यह बात नहीं कि वह कल्पना का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता···अन्तर केवल इतना ही है कि विदेश में उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना गया है और यहाँ अनिवार्य उपकरण।[४] रसशास्त्र के अतिरिक्त अलंकार-सम्प्रदाय तथा ध्वनि-सम्प्रदाय भी कल्पना तत्त्व को लेकर चलते हैं।[५] कल्पना का प्रयोग प्रतीक-सृजन और अलंकारों के विधान में होता है। कल्पना कवि के लिये ही नहीं, पाठक के लिये भी आवश्यक है: "यहाँ कल्पना का तात्पर्य कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता से है।"[६] फिर अंग्रेजी में इसका वैशिष्ट्य है विरोध या असंबद्ध गुणों का संतुलन-समन्वय। उसको भी नगेन्द्र जी ने स्वीकार किया है और कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्त स्थापित करके उसे हिन्दी के साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र में मिलने वाले अभाव की गौरवपूर्ण पूर्ति की है।

रस-सिद्धान्त

यह सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे प्रमुख और लचीला सिद्धान्त है। नाट्य के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की स्थापना भरत ने की थी। परवर्ती आचार्यों ने भरत-प्रणीत रस-सूत्र के आधार पर इस सिद्धान्त का व्याख्यान-प्रतिपादन किया है। भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने अनेक दृष्टियों से इस सिद्धान्त का विशदीकरण किया। मम्मट आदि ने भी इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला: इनमें शारदा-तनय, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि प्रसिद्ध हैं। भक्ति की धारा ने इस सिद्धान्त को पर्याप्त बल दिया। इस प्रकार रस-सिद्धान्त एक प्रमुख सम्प्रदाय बन गया।

---

१. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० ६-१०
२. "संस्कृत के रसशास्त्र में कल्पना का पृथक् रूप से विवेचन नहीं मिलता।"
—वही, पृ० १६
३. "संकल्प विकल्पात्मक मन'।"
४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० २०
५. देखिए, वही, पृ० २०
६. वही, पृ० १२

इस युग मे रस-सिद्धान्त का सबसे अधिक अध्ययन हुआ है। इस दिशा मे मनोवैज्ञानिक अध्ययन सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। गुलाबराय जी ने 'नवरस' मे यही प्रणाली अपनायी और डा० राकेश का ग्रन्थ 'साइकलॉजिकल स्टडीज इन रस' भी इसी का उदाहरण है। रस के दार्शनिक आधारो का अनेकरूपेण स्पष्टीकरण किया गया। यहाँ तक कि रस की मार्क्सवादी व्याख्या भी हुई।[१] यह भी खोज की जाने लगी कि पाश्चात्य साहित्य मे रस किस रूप मे मिलता है। चाहे रस सिद्धान्त रूप मे वहाँ प्रतिष्ठित न हो, पर काव्यास्वाद के सम्बन्ध मे वहाँ प्रकारान्तर से विचार हुआ है।[२] डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के आनन्द सिद्धान्त और रस सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[३] इन दोनो मे कुछ साम्य भी है और वैषम्य भी। जहाँ भारतीय आचार्य रस का आधार रागात्मक बताते हैं, वहाँ अरस्तू कल्पना और ज्ञान पर उसे आधारित मानता है। दूसरा अन्तर यह है कि 'अरस्तू के काव्यानन्द की अपेक्षा भारतीय रस मे व्यक्तित्व अधिक है। अरस्तू का प्रमाता अनुकृत वस्तु को पहचान कर आनन्दानुभव करता है, भारतीय काव्यशास्त्र का प्रमाता वर्ण्य वस्तु से उद्बुद्ध अपने ही साधारणीकृत मनोराग का आस्वादन करता है।'' सिसरो तथा होरेस ने भी आनन्द तत्त्व का विवेचन किया है।[४] लाजइनस ने उदात्त की व्याख्या के सदर्भ मे रस या आनन्द की व्याख्या की है। इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने मुख्यत पाश्चात्य साहित्यशास्त्र मे रस-तत्त्व के बीजों की खोज करके इसकी परिधि का विस्तार किया है।

'रस' शब्द केवल साहित्यशास्त्र मे ही प्रयुक्त नही हुआ है, आयुर्वेद, दर्शन, साहित्य आदि के क्षेत्रो मे भी इस शब्द का अर्थ-विकास हुआ है। शब्दार्थ विकास मे भी मूल तत्त्व की स्थिरता बनी रही, यद्यपि प्रयोग क्षेत्र के अनुसार वैशिष्ट्य भी आता गया।[५] इस विकास की कड़ियो को जोडने मे नगेन्द्र जी का कृतित्व अनुसधानात्मक हो गया है। इस निबन्ध मे लेखक के निष्कर्ष बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। पहला निष्कर्ष यह है कि सर्वथा नवीन अर्थ कभी विकसित नही हुआ,[६] अपितु सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अर्थ रखते हुए यह साहित्यशास्त्र तक आया है।[७] इस प्रकार रस के लिये अनुसन्धान को किया भी आलोचक नगेन्द्र के

---

१ देखिए रस तत्त्व की कसौटी', डा० रांगेय राघव आलोचना, आलोचना विशेषांक पृ० ६२

२ एटकिंस, ग्रीक लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ४३०

३ देखिए 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भूमिका, पृ० ३६

४ देखिए 'आरेटरी', ३/१२

५. इसके अर्थ का विकास नगेन्द्र जी ने 'रस शब्द का अर्थ विकास' नामक निबन्ध (अनुसधान और आलोचना, पृ० ११-२६) में स्पष्ट किया है।

६. ''रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना नहीं हुई, एक ही अर्थ क्रमश सूक्ष्मतर होता चला गया है।''
—अनुसधान और आलोचना, पृ० १५

७ ''रस का मूल अर्थ था अन्न का रस—वनस्पतियों का रस, अर्थात् 'द्रव्य' रूप रस। 'द्रव्य' से फिर वह द्रव्य के 'आस्वाद' का वाचक बना, और फिर विशिष्ट आस्वादयुक्त सोम रस का। सोम रस में अन्य गुणों का भी वैशिष्ट्य था—ऊर्जा, स्फूर्ति, मस्ती आदि। विचार के क्षेत्र में आस्वाद ही रस तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र में आत्म रस या ब्रह्म रस के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रस का अर्थ अन्नरस या पदार्थ रस के आदारस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है।''
—अनुसधान और आलोचना, पृ० १५

कृतित्व से संलग्न हो गई। भारतीय विद्या के अनेक स्रोतों का स्पर्श रस-विवेचन में सम्मिलित हुआ।

डा० नगेन्द्र ने रस के सम्बन्ध मे जितनी उलझनें और समस्याएँ थीं, उनको स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने रस की स्पष्ट परिभाषा दी है—"आलम्बन विभाव से उद्‌बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभावो से परिव्यक्त सहृदय का स्थायीभाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है।"[१] रस की स्थिति के विषय मे भी आचार्यों मे मतभेद रहा है : प्रश्न है, रस का मूल भोक्ता कौन है ? भट्ट लोल्लट सामाजिक के आनन्द को स्वीकार करते हुए नायक-नायिका के द्वारा रसास्वादन की बात भी कहता है। यहाँ डा० नगेन्द्र एक मौलिक प्रश्न उठाते हैं : नायक-नायिका कौन हैं ? ऐतिहासिक नायक-नायिका या अभिनेता-अभिनेत्री ? इसका उत्तर यह है—"भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला मे ही मानता है। कवि-अंकित दुष्यन्त-शकुन्तला को या तो वह उनसे एकरूप करके देखता है, या फिर······ नट-नटी की भाँति माध्यम-मात्र मानता है।"[२] उसने सामाजिक के रसास्वाद को 'आरोपवाद' के द्वारा सिद्ध किया है। डा० नगेन्द्र ने 'आरोपवाद' से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेपों को लेकर लोल्लट की रक्षा का भी कुछ प्रयत्न किया—"भट्ट लोल्लट को उत्तर देने का अवसर नही मिला।'''पर आज का समालोचक बड़ी सरलता से कह सकता है कि हम मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द से आनन्दित हो सकते हैं। आनन्द के अतिरिक्त जो भी प्रतिक्रिया होगी, वह भी सहानुभूति के द्वारा होगी और आनन्द का ही कोई रूप होगी, चाहे विपरीत रूप ही क्यों न हो।"[३] इस प्रकार भट्ट लोल्लट मे 'सहानुभूति' के तत्त्व की ओर संकेत नगेन्द्र जी की अपनी खोज है। साथ ही उनके अनुसार लोल्लट ने रस को विषयगत मानकर काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। अन्त मे यह निष्कर्ष दिया गया है—"यह सिद्धान्त रूप से सत्य न होते हुये भी सर्वथा असंगत नही है।"[४] भट्ट लोल्लट ने एक कमी रहने दी है : वह ऐतिहासिक व्यक्तियों और काव्य-प्रतिरूपों का अन्तर स्पष्ट नही कर पाया। साथ ही उसने सामाजिक के रसास्वादन को गौण स्थान दिया है। शंकुक ने भी रस की मूल स्थिति ऐतिहासिक पात्रों मे ही मानी और सामाजिक के आनन्द को अनुमित कहा। उसने 'सहानुभूति' के तत्त्व का विरोध किया, पर यह ठीक नही है।[५] शंकुक के दूसरे आक्षेप[६] के उत्तर मे नगेन्द्र जी ने यह कहा कि बिना देखे हुए भी हमे कल्पना द्वारा नायक-नायिका के रसास्वादन की अनुभूति हो सकती है। उन्होंने इसका

---

१ रीति काव्य की भूमिका, पृ० ३७

२ वही, पृ० ३६

३ वही, पृ० ४०

४ वही, पृ० ४०

५ "शंकुक एक प्रकार से सहानुभूति-तत्व का निषेध करता है, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है।" —वही, पृ० ४१

६ "जिस नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हमको कैसे हो सकती है ?" —वही, पृ० ४१

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है—'पहले नाटककार स्वय सहानुभूति और कल्पना के द्वारा अपने को नायक अथवा नायिका से तद्रूप कर देता है, और फिर उसकी सहायता से प्रेक्षक भी इन्ही दो गुणो के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है।"[१] शकुक ने इस तथ्य को नहीं पकडा, क्योकि उसने कवि के व्यक्तित्व की उपेक्षा की है। मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुमानित रसानुभूति मिथ्या है। 'अनुमान बुद्धि की क्रिया है मन की नही, अनुमान से ज्ञात होता है, अनुभूति नही।' पर, शकुक ने 'रस सिद्धान्त को पूर्णत वस्तुपरक स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग बढाया।"[२] इस प्रकार मनोविज्ञान तथा आधुनिक समीक्षा के तत्त्वो को लेकर नगेन्द्र जी ने सस्कृत के आचार्यों का विवेकपूर्ण मूल्याकन किया है उनकी शक्तियो और सीमाओ को देखा-परखा है। तीसरे विचारक भट्टनायक थे। भट्टनायक का पहला प्रश्न यह था यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है, तो शोक से आनन्द की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? आधुनिक आलोचको का प्रतिनिधित्व करते हुए नगेन्द्र जी इसका यह उत्तर देते हैं—"प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता केवल मनसा साक्षात्कार होता है और मानसिक रूप धारण करने मे कटु-से-कटु अनुभव भी क्रमश अपनी कटुता खो देता है।"[३] भट्टनायक का दूसरा प्रश्न है नायक का व्यक्तिगत भाव प्रेक्षक के कैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है? इसका उत्तर भी नगेन्द्र जी ने दिया है—'काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक मे असम्भव नही मानी जा सकती।"[४] काव्य मे कोई नितात असाधारण भाव व्यक्त नही होता। पर, भट्ट नायक ने व्यक्तित्व और कल्पना पर आधारित इन समाधानो की ओर ध्यान नही दिया। उसने रस की स्थिति सहृदय मे मानी, और अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व के द्वारा इसको सिद्ध किया। इस त्रिसूत्री समाधान से साधारणीकरण का सिद्धान्त निकला—"भावकत्व के द्वारा नायक-नायिका, नट नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व अन्तर्हित हो जाता है, और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसा होने से आप-से-आप रजोगुण और तमोगुन का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है और प्रेक्षक या पाठक आनन्द का उपभोग करता है।"[५] यही रस भुक्ति की भूमिका है। इनकी दो देन हैं साधारणीकरण तथा रस को विषयीगत मानना।

साधारणीकरण भी बडा उलझा हुआ सिद्धान्त रहा है। डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार "भट्टनायक सिद्धान्तत ध्वनि विरोधी था। ध्वनिवादी अभिनवगुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व जैसे व्यापारो पर आधारित साधारणीकरण से असहमति प्रकट की।"[६] भट्टनायक ने दार्शनिक आधार ग्रहण करके सत्वोद्रेक द्वारा रसानुभूति की व्याख्या की,

१. रीतिकाव्य का भूमिका, पृ० ४०-४१
२ वही, पृ० ४१
३. वही, पृ० ४१
४ वही, पृ० ४१
५. वही, पृ० ४४
६ काव्य शास्त्र, प्रथम सस्करण, पृ० १ ७

किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसकी व्याख्या अभी अपेक्षित थी। डा० नगेन्द्र ने इसके इस अंश की पूर्ति की।[१] अभिनवगुप्त का मत था कि काव्य हृदय के भावों को जाग्रत करता है, अतः साधारणीकरण आलम्बनत्व के धर्म का नहीं होता, अपितु साधारणीकरण पाठक का हृदय करता है। शुक्ल जी ने इसका विरोध किया—साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।[२] साधारणीकरण को अनैतिक मानने वाले आलोचकों को नगेन्द्र जी ने यह उत्तर दिया—"इस काव्य की सीता से प्रेम करते हैं, और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच हो; वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है।"[३] वस्तुतः आलम्बन कवि-अनुभूति-सम्भूत होता है अर्थात् साधारणीकरण कवि की अनुभूति का ही होता है : कवि अपनी अनुभूति को आनन्दमय प्रेषणीयता से युक्त करता है। रस की स्थिति सहृदय में ही होती है—"विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनन्द को अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य ही मानता है।"[४] कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय को देता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में भी मानना अनिवार्य है। कवि के कथन का रस पाठक की सुप्त रस-दशाओं को जाग्रत करता है। इसीलिए भट्टतौत ने भी नायक, कवि और श्रोता के अनुभव को एक माना है।[५]

इस प्रकार यह निश्चित है कि रस की स्थिति सहृदय में ही है। कवि की कला इसी में है कि वह अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति इस प्रकार करे कि वह सरस रूप में पाठक के द्वारा संवेद्य हो सके। दृश्य काव्य में नट-नटी की स्थिति पर भी बड़ा मतभेद रहा है। इसके सम्बन्ध में भी डा० नगेन्द्र की निष्पत्ति स्पष्ट है। उनके अनुसार नट-नटी संवेद्य अनुभूति के माध्यम ही हैं। वे यदि सहृदय नहीं होंगे, तो वे संवेद्य को पाठक तक पहुँचाने के उचित माध्यम नहीं बन सकते।[६] इस प्रकार कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी पूर्णतः सत्य है। इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व, कल्पना-तत्त्व तथा मनोविज्ञान की सहायता से डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के विषय में अपना स्पष्ट सिद्धांत स्थिर किया है।

रस का स्वरूप

रस का स्वरूप निश्चित करने में भी डा० नगेन्द्र ने एक ओर पाश्चात्य काव्यशास्त्र से तुलनात्मक दृष्टि अपनाई है और दूसरी ओर मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता ली है। डा० नगेन्द्र ने इस दिशा में सर्वप्रथम भारतीय परिभाषाओं का आधार लिया है—जिसका आस्वादन हो वह रस है अर्थात् रस सहृदय-संवेद्य है; आस्वाद आनन्दमय ही होता है,

---

१. देखिए 'डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त', नारायणप्रसाद चौबे, पृ० ६०
२. चिंतामणि, भाग १, पृ० ३१३
३. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ४७
४. वही, पृ० ५३
५. "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।"
६. देखिए 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ५४

बीभत्स, करुण भी इसके अपवाद नही हैं, यह आनन्द चमत्कार-प्राण है; चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय[१], आदि। छायावादी शैली में आनन्द और विस्मय का सम्बन्ध डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सुन्दर प्राकृतिक दृश्य अथवा कलाकृति को देखकर मन मे जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नहीं कही जा सकती, उसमे विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है।"[२] इस तत्व की स्वीकृति मे पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र का भी प्रभाव कहा जा सकता है। यह विस्मय का भाव कवि की प्रतिभा के प्रति रहता है। अन्त मे उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि रस की कोई मौलिक परिभाषा नही हो सकती, साथ ही इसकी अनुभूति मे 'अहंकारमयी वासना' का सर्वथा नाश नहीं होता।

इस प्रकार भारतीय सिद्धान्त का सार देकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परखने की स्थिति आती है। नगेन्द्र जी ने सबसे पहले 'आनन्द' का परीक्षण किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक मानवीय क्रिया का लक्ष्य आनन्द ही है। पर सार्थकतावादी व्यक्तियो का कहना है कि क्रिया स्वयं जीवन का लक्ष्य है। इनमे से पहला मत भारतीय दर्शन के निकट है, दूसरा वैज्ञानिक वस्तुवाद के। दूसरे मत के अनुसार आनन्द[३] अनुभूति या भाव की विधि है, लक्ष्य नही। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे काव्य का लक्ष्य आनन्द नही है। उनकी दृष्टि मे दुःखान्त नाटक आनन्दमय नही हो सकता। क्रिया की सफलता से तृप्ति और तज्जन्य आनन्द की स्वीकृति करते हुए भी, वे उसे साध्य नही मानते। पर नगेन्द्र जी इसे एक व्यर्थ की उलझन मानते हैं, आनन्द का तत्त्व तो स्वीकार्य होना ही चाहिए, क्योंकि सकलित वृत्तियो की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न है। आनन्द का यह निषेध आनन्द की ही सत्ता का प्रतिपादन करता है।[४] इस प्रकार सार्थकतावादी मनोविज्ञान से रस सम्प्रदाय का समझौता कराया गया।

दूसरा प्रश्न आनन्द और भाव (Emotion) से सम्बन्धित है। यदि इनमे एकता होती तो कटु-तिक्त भावो से रस-प्राप्ति न होती। पर, इन दोनो मे सम्बन्ध अवश्य रहता है। प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप मूलत उसके स्थायी भाव से सम्बद्ध है। रस को भाव से पृथक् मानना मनोविज्ञान के अनुकूल है। तीसरा प्रश्न है कि रस भौतिक अनुभूति है या आध्यात्मिक ? संस्कृत के आचार्य ने उसे अलौकिक कहा। प्लेटो ने काव्यानुभूति को ऐन्द्रिक अनुभूति को मिथ्या माना है। अरस्तू ने चाहे मिथ्या न कहा हो, पर ऐन्द्रिय तो अवश्य माना है। जब दर्शन का केन्द्र रोम बना तो प्लोटिनस ने काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति बताया। कला को उसने सौन्दर्य के साथ समन्वित कर दिया।

---

१. विश्वनाथ ने विस्मय को भी एक तत्त्व माना है—'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' (साहित्यदर्पण, ३/२) डा० नगेन्द्र ने भी विस्मय को दृढ़ता से स्वीकार किया है, सम्भवत यह इसलिए है कि छायावाद में भी सौन्दर्य के प्रति विस्मय का ही भाव है।

२ रीति ग्रन्थ की भूमिका, पृ० ५६

३. "विदेश के सौन्दर्यशास्त्र में भी सौन्दर्य अनुभूति में विस्मय का तत्व अनिवार्य माना गया है।"

—वही, पृ० ५६

४ भ देखिए 'रीति काव्य की भूमिका', पृ० ५८

उसी को हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिको ने वैधानिक रूप देकर एक सिद्धान्त बना दिया। एडिसन ने उसे कल्पना का आनन्द कहकर दोनो से भिन्न माना। डा० नगेन्द्र को इसमें भारतीय रस का थोडा-सा आभास मिला।[१] बीसवी शताब्दी में फिर इस अनुभूति को अनुपम और निरपेक्ष मानने का दृढता से समर्थन किया गया। नगेन्द्र जी के अनुसार "इनका मत भारतीय आचार्यों से मिल जाता है।"[२] क्रोचे ने कहा : "काव्यानुभूति, बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति सहाजानुभूति है, जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओ अथवा ऐन्द्रिय सवेदनो से न होकर बिम्बो से होता है।"[३] इस प्रकार काव्यानन्द को ऐन्द्रिय, आत्मिक, कल्पनात्मक, सहज, अनुपम एव स्वत.सापेक्ष माननेवाले पाँच सिद्धान्त हुए। *पर, मनोविज्ञान की कसौटी पर ये पूरे नही उतरते।* डा० नगेन्द्र को इन सबमे सामजस्य स्थापित करना था। यह समन्वय इस प्रकार किया गया : "काव्य से प्राप्त सवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब-रूप होते है। ······उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण होती है··········उनमे सामजस्य स्थापित हो जाता है, क्योकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है, और अव्यवस्था मे व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य मे, अपने तत्त्व-रूप सवेदन के समन्वित हो जाने से आनदप्रद बन जाते है।"[४] दुखात्मक भावो से रसानुभूति कैसे होती है, इस पर 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' की भूमिका मे त्रासद तत्त्व के प्रसग मे विशेष रूप से विचार किया गया है।[५]

डा० नगेन्द्र द्वारा भाव आदि का विवेचन भी इसी कोटि का है। भावो का जो मनोवैज्ञानिक रूप शुक्ल जी तथा अन्य आलोचको ने स्थिर किया है उससे कही आगे बढा हुआ मनोवैज्ञानिक विवेचन नगेन्द्र जी ने किया है।[६] उन्होंने स्थायी और सचारियों का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। इन सब को यहाँ देना पुनरावृत्ति और पिष्टपेषण ही होगा।[७] फिर भी सार-रूप मे यह कहा जा सकता कि है उनके चिंतन मे मनोविज्ञान का आधार आद्यन्त रहता है। साथ ही भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तत्त्वो को *मनोवैज्ञानिक प्रणाली से समझने-समझाने की तर्कपूर्ण पद्धति रहती है। विषमता और* समताएँ दोनो ही सामने आती है। समताओ को पाकर जैसे नगेन्द्र जी की कृतियो को *एक सन्तुष्टि का अनुभव होता है। जहाँ विषमता मिलती है,* वहाँ उनके कृतित्व की दो दिशाएँ सम्भव है : या तो गम्भीर विवेचन के लिए प्रेरित होकर वे साम्य तक पहुंचना चाहते हैं, या उनको विरोधी न मानकर परस्पर पूरक मान लेते हैं।

सैद्धांतिक समीक्षा के अन्य क्षेत्र

मनोविज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप नगेन्द्र जी का सैद्धान्तिक समीक्षक रस-विवेचन

१-२-३. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ६०

४. रीति-काव्य की भूमिका, पृ० ६४

५. देखिए 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भूमिका, पृ० ६३-१०६, ११०-१२३

६. देखिए 'रीति काव्य की भूमिका', पृ० ६४

७. इनका विवेचन नारायणप्रसाद चौबे आ.ने 'डॉ० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्त' ग्रन्थ में कर चुके है।

मे विशेष रमा, पर उन्होंने प्रसगवश काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर भी विचार व्यक्त किए हैं। हमारा अभिप्राय अलकार, रीति, वक्रोक्ति आदि की समीक्षा से है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र मे अभिव्यजना और शैली पर आधारित नवीन समीक्षा-मत प्रबल होते रहे। यदि इन काव्य-मतो को भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से देखना है, तो इनकी ओर आना स्वाभाविक ही था।

(क) अलकार-सम्प्रदाय

डा० नगेन्द्र ने, अपनी शैली के अनुसार, इस विवेचन का प्रथमाश भी ऐतिहासिक पर्यालोचन रखा है। इसमे भारतीय दृष्टि को उलट-पुलट कर सूक्ष्मता से देखा गया है और विभिन्न आचार्यों के मत-मतान्तर की परीक्षा की गई है।[१] भारतीय दृष्टि का सार यह है काव्य के लिये भाव की रमणीयता अनिवार्य है ही, परन्तु रमणीय उक्ति भी स्वभावत अनिवार्य है। भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है। पर, डा० नगेन्द्र अलकारो को रूढ सत्ता या उनके पुराने रूपो तक सीमित नहीं रहना चाहते। वे उसे सभी प्रकार की वचन-भगिमाओं तक विस्तृत करने के पक्षपाती हैं।[२] उनके विचार से "लक्षणा और व्यजना के प्रयोगों को भी उसमे अतर्भूत करना होगा।"[३] इससे आधुनिक अर्थों और प्रयोगो मे अलकारशास्त्र की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। उसकी रूढ सीमायें मानने मे रूढि का बोझ मौलिकता पर लटका रहेगा। साथ ही, अलकारो के नव-जीवन और नवोन्मेष के लिये यह भी आवश्यक है कि कल्पना को और अधिक शक्ति से उसके साथ सबद्ध किया जाय।[४] कल्पना उसमे नवीन रग-विन्यास कर सकती है। अलकारशास्त्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी युक्त करने की चेष्टा नगेन्द्र जी मे दीखती है। पुराने आचार्यों की मान्यताएँ और उनका अलकार-वर्गीकरण आज के आलोचक को मनोविज्ञानाश्रित बनाकर स्वीकार्य बनाया जा सकता है।[५] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलकार-विवेचन की सभावना को रामदहिन मिश्र जैसे कुछ आलोचकों ने स्पष्ट और सिद्ध भी किया है। डा० नगेन्द्र ने इस दिशा मे विशेष कार्य तो नही किया, पर इसे अछूता भी नही छोडा। साथ ही, आज के युग मे अलकार को रसा 'रस' भी कर सकता है। यदि रसानुभूति की तीव्रता और व्यापकता मे अलकारो का योग सिद्ध कर दिया जाय, तो वे अधिक उदात्त रूप मे नवीन काव्यशास्त्र मे बने रह सकते हैं। "अलकार जहाँ अग से अगी हुये, वही अराजकता फैल जाती है।"[६] डा० नगेन्द्र ने इसलिये इस पक्ष पर गभीर विचार किया है।[७] इस प्रकार भारतीय

१ देखिए 'रीति काव्य की भूमिका', पृ० ७६, ७७, ८३

२. "इसमें अलकार की परिधि को परिगणित रूढि अलकारों तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की वचन वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा।" —वही, पृ० ८३

३. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ८३

४. देखिए 'विचार और अनुभूति', पृ० २१–२२

५. देखिए 'रीति काव्य की भूमिका', पृ० ८४–८६

६. विचार और विश्लेषण, पृ० ६३

७ रीति काव्य की भूमिका, 'रसानुभूति मे अलकार का योग', पृ० ८६–९२

अलंकारवाद को नवीन दृष्टि से देखने और स्थापित करने की ओर उन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया है।

डा० नगेन्द्र ने भारतीय और पाश्चात्य अलंकारशास्त्र की तुलना भी की है। अरस्तू ने अलंकारों को तर्कशास्त्र से सम्बद्ध माना था, पर धीरे-धीरे ये भाषा के अंग बनते गये। भारत की भाँति पाश्चात्य जगत् में शब्द-शक्तियों पर पृथक् विचार नहीं किया गया। पर, संस्कृत में अलंकार-विचार में लक्षणा का योग स्वीकृत किया गया है। डा० नगेन्द्र के मत में अलंकारों को एक पुष्ट आधार देने के लिये *इन दोनों का समन्वय कर देना चाहिए। इस प्रकार अलंकारों* को परिशुद्ध करना और उनको अतिवाद से बचाना आज के विचारक का प्रथम धर्म है।

अलंकार सम्बन्धी एक समस्या पर भी डा० नगेन्द्र ने विचार किया है: यह है अलंकार-अलंकार्य का भेद। क्रोचे ने अलंकार और अलंकार्य में अभेद माना है,[1] पर इस विचारा-धारा के अनुसार तो अलंकार की पृथक् सत्ता ही समाप्त हो जाती है। भारत में *भामह, दंडी, वामन आदि ने इनमें अभेद माना है,*[2] *पर आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथादि* ने इनमें भेद स्वीकार किया है।[3] कुन्तक ने इस प्रश्न पर स्पष्ट मत व्यक्त किया है। कुन्तक ने साहित्यदर्पणकार की भाँति अलंकार को मात्र काव्य का शोभादायक धर्म नहीं माना, उसका स्वरूपाधायक तत्त्व माना है।[4] वामन ने कुन्तक के ही मत का समर्थन किया है। इसी भेद के आधार पर कुन्तक ने स्वभावोक्ति का खंडन किया है। यदि स्वभावोक्ति अलंकार है, तो *अलंकार्य क्या है? आचार्य कुंतक तत्त्वत: अलंकार* और अलंकार्य में अभेद मानते हैं, परन्तु साहित्य-सौन्दर्य को समझने के लिये उनका पृथक् विवेचन उनको मान्य है। वामन के सूत्र की आचार्य विश्वेश्वर ने यही व्याख्या की है।[5] पाश्चात्य जगत् में प्राचीन आचार्य इस भेद को लेकर चले हैं। आधुनिक काल में क्रोचे ने इस भेदक विचार-धारा का खंडन कर अभेद की स्थापना की है।[6] दार्शनिक के रूप में क्रोचे द्वैतवादी दृष्टि का समर्थक नहीं था। क्रोचे कृति को किसी भी कारण से खंडित करने का विरोधी है।[7] पर, भारत में सौकर्य के लिये काव्य के विविध रूपों का विभाजन किया गया है। आचार्य शुक्ल ने क्रोचे का कड़ा खंडन किया था।[8] नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी के इस मत की आलोचना की है। अलंकारशास्त्र के इस जटिल और विवादग्रस्त प्रश्न पर *नगेन्द्र-जैसे*

---

१. देखिए 'विचार और विश्लेषण', पृ० ६४
२. काव्यादर्श २/१; काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १/१/२
३. ध्वन्यालोक, २/१८; काव्यप्रकाश ८/६७; साहित्यदर्पण, १/१
४. *हिन्दी-वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ११-१७*
५. वही, पृ० ५२
६. 'One can ask oneself how an ornament can be joined to expression externally? In that case it must always remain separate. Internally? In that case either it does not assist Expression and mass it or it does form part of it and is not an ornament but constituent element of expression indistinguishable from the whole.

—*Aesthetic*, P. 71

७. Acsthetic, P 33-34
८. द्रष्टव्य, चिन्तामणि, द्वितीय भाग, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० २०७, २०६

तत्त्वदर्शी समालोचक ने विचार करना आवश्यक समझा। इस सम्बन्ध मे यह उक्ति पठनीय है—"पंत जी क्रोचे की भाँति अलंकार को अलंकार्य से अभिन्न तो नही मानते है,......परन्तु वे उसकी स्वतन्त्र सत्ता के समर्थक नही हैं।'[१] इस विषय मे नगेन्द्र जी ने अपना तात्त्विक निर्णय इस प्रकार दिया है—"इन दोनो की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति विश्वस्त है। दोनो मे व्यावहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य-शास्त्र, वरन् भाव-शास्त्र और विचार-शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य-मनीषी भी प्रायः इसी के पक्ष मे हैं कि तत्त्व-दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य मे अभेद होते हुये भी व्यावहारिक दृष्टि से दोनो मे भेद मानना अनिवार्य हैं।[२] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने तत्त्वतः आचार्य कुन्तक का ही समर्थन किया है। इस मत मे सभी अतिवादो का विलय हो जाता है। इस स्थापना का अपना औचित्य और अपनी उपादेयता है।

(ख) रीति-सम्प्रदाय

डा० नगेन्द्र ने इसके विवेचन से पूर्व 'रीति-काव्य की भूमिका' मे रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास दिया है, फिर रीति की परिभाषा दी है। इसी प्रसंग मे गुण-दोष-विवेचन करते हुए गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर भी विचार किया गया है।[३] पाश्चात्य विचार-धारा के तत्त्व भी यत्रतत्र अनुस्यूत है। 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' की विस्तृत भूमिका काव्य-शास्त्र के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमे पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्र को परस्पर पूरक सिद्ध करने की दृष्टि मुख्य है।[४] उन्होने रीति सम्प्रदाय को भारतीय काव्यशास्त्र के उन सम्प्रदायो की विचारधारा के पूरक के रूप मे देखा, जो काव्य के आन्तरिक पक्षो को ही लेकर चलते हैं। ये अन्य सम्प्रदाय कितने ही युक्तियुक्त क्यो न हों, पर वहे एकांगी ही जायेंगे। नगेन्द्र जी के अनुसार रीति-सिद्धान्त का यह महत्त्व है कि उसने काव्य के बाह्यांग को प्रमुखता देकर मान्य सिद्धांत के विपक्ष को प्रबल शब्दो मे उपस्थित किया और इस प्रकार जीवन के प्रति अनात्मवादी दृष्टिकोण का काव्य के क्षेत्र मे आरोपण किया।[५]

अब 'रीति' और 'शैली' की तुलना का प्रश्न है। क्या ये दोनों एक हैं? कुछ विद्वानो ने इन्हे समान मानने का विरोध किया है। उनका तर्क यह है कि शैली का मुख्य आधार व्यक्तित्व है और गौण आधार वस्तु-तत्त्व है। भारतीय रीति-सिद्धान्त व्यक्ति-तत्त्व की अवहेलना करता है, पर डा० नगेन्द्र के अनुसार "यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्त्व नामांतर से रीति के तत्त्वो मे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्त्वो का उपर्युक्त शैली-तत्त्वो मे अन्तर्भाव हो जाता है।[६] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने शैली

---

१ विचार और विश्लेषण, पृ० ६४

२. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ८४

३. देखिए 'रीति काव्य की भूमिका', पृ० १०१, १०२

४. "भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं ......प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी काव्यालंकारसूत्र और उसकी विस्तृत भूमिका इसी दिशा मे एक विनम्र प्रयास है।"

—हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, वक्तव्य

५. देखिए, वही, पृ० २६

६ वही, पृ० ५१

और रीति दोनों को सर्वथा समान माना है। उन्होंने व्यक्तित्व के सर्वथा परित्यागवाली बात को भी स्वीकार नहीं किया। उनका मत है कि "रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों तथा कुन्तक, शारदातनय आदि नवीन आचार्यों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। कुन्तक तो······यूरोप के रोमांटिक आलोचकों की भाँति ही स्वभाव पर बल देते हैं।[१] वास्तविक बात यह है कि व्यक्तित्व के तत्त्व को इतना उभार रोमांटिक युग में ही मिला। पर, व्यक्तित्व की इतनी मान्यता भारत में नहीं थी, जितनी "शैली ही व्यक्ति है" के वातावरण में मिलती है। इस प्रकार बहु-तिरस्कृत रीति-सिद्धांत का पुनराख्यान इस प्रकार किया गया कि पूर्वता की भूमि स्पष्ट हो, उसको विस्तार मिले, आधार पुष्ट हो; और साथ ही शैलीशास्त्र में उसकी स्थिति प्रमाणित हो।

गुण के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों का जो विवेचन मिलता है वह सारगर्भित तो बहुत प्रतीत होता है, पर उसके आधारभूत तत्त्व इतने स्पष्ट नहीं हैं। प्राचीन शास्त्रों में गुण को रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म माना गया है। इससे उसकी विस्तृति का परिचय मिलता है। आधुनिक दृष्टि से और अधिक विस्तार भी सम्भव है। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर विचार करके इस संभावना को व्यावहारिक रूप में उपस्थित करने का श्रेय नगेन्द्र जी को है।[२] इसी प्रकार दोषों का भी विवेचन किया गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति के तत्त्वों की खोज करके रीति को विश्व के साहित्यशास्त्र में स्थान दिलाने की चेष्टा स्तुत्य है।

(ग) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

डा० नगेन्द्र कुन्तक की मान्यताओं से बहुत अधिक प्रभावित दीखते हैं, इस ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है। इसका कारण यह है कि अभिव्यंजनावाद का सिद्धांत इसकी तुलना में रखा जा सकता था। शुक्ल जी ने भी इन दोनों में पर्याप्त साम्य देखकर अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्ति का विलायती उत्थान कह दिया था। पर, नगेन्द्र जी ने इसे अर्थवाद के रूप में ही स्वीकृत किया है।[३] नगेन्द्र जी का चिंतन-प्रिय तथा तर्क-प्रधान मस्तिष्क अर्थवाद को किसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था। उन्होंने उन दोनों सिद्धान्तों का निष्पक्ष अध्ययन किया। अन्त में उन्होंने वैज्ञानिक रूप से शुक्ल जी के सामान्य कथन का खंडन करके शुद्ध रूप में साम्य और वैषम्य का निरूपण किया।[४] नगेन्द्र जी के कृतित्व की दूसरी दिशा शुक्ल जी की कटु आलोचना से उत्पन्न या प्रभावित भ्रांतियों के निराकरण की रही। शुक्ल जी इन दोनों के तात्त्विक अन्तर को नहीं समझ सके थे और उन्होंने दोनों में ही वाग्वैचित्र्य को प्रमुख माना था। पर, "अभिव्यंजनावाद तो बेचारा अभिव्यंजना को छोड़कर किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नहीं करता है। हाँ, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है।"[५] इस प्रकार शुक्ल जी के द्वारा प्रतिपादित

---

१. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, पृ० ५६
२. वही, पृ० ६७
३. देखिए 'रीति-काव्य की भूमिका', पृ० १०८
४. देखिए, वही, पृ० १०६-११२
५. रीति-काव्य की भूमिका, पृ० १११

अद्ध सत्यों को वैज्ञानिक दृष्टि से निरख-परख कर तज्जन्य भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न नगेन्द्र जी ने किया।

कुतक का वक्रोक्ति सिद्धान्त भी प्राय तिरस्कृत रहा था, पर यह अपने साथ न्याय की माँग कर रहा था। इसके दो पक्ष थे प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है तथा प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्य होती है। इनमे से पहला पक्ष तो आज मान्य हो नही सकता, दूसरे पक्ष के विषय म नगेन्द्र जी का मत है—"यह पक्ष वाह्यत अधिक विश्वसनीय न होते हुए भी, कल्पना का वास्तविक आशय स्पष्ट होने पर, किसी प्रकार असगत नही कहा जा सकता।"[१] इस प्रकार यदि किसी सिद्धान्त की समस्त ऊहापोह मे कोई न्यूनाश भी ग्राह्य प्रतीत होता है, तो नगेन्द्र जी उसको तिरस्कृत होते देखकर तिलमिला जाते हैं। यही कारण है कि पश्चिमी समीक्षा में जो कल्पना तत्त्व मान्य होने लगा था, उसकी स्थिति कुतक मे उन्होंने देखी।

(घ) ध्वनि-सम्प्रदाय

नगेन्द्र जी ने ध्वनि-सम्प्रदाय का विवेचन अधिक विस्तारपूर्वक नही किया है। 'ध्वनि' का मूलाधार व्यजना शक्ति है। ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोधी आचार्यों ने व्यजना पर भी आक्रमण किया है। व्यजना शक्ति का तिरस्कार इतनी आसानी से नहीं हो सकता था। मम्मट-जैसे आचार्य ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। साथ ही यह इतना व्यापक था कि प्राय सभी प्रमुख परवर्ती आचार्य इससे प्रभावित रहे। ध्वनिकार ने रस-ध्वनि को स्वीकार करके रस को भी अपने सिद्धान्त मे समाविष्ट किया है। वस्तु-ध्वनि तथा अलकार ध्वनि की स्वीकृति से यह सिद्धान्त और भी व्यापक हो गया। नगेन्द्र जी ने इस सबका मनोविज्ञान की दृष्टि से विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला—'ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव मे ध्वनिकार ने काव्य मे कल्पना-तत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है।"[२] इसमे यह ध्वनित होता है कि वे भारतीय तत्त्वों को पश्चिम के वर्तमान समीक्षा-सिद्धांतों के समीप लाना चाहते हैं।

ध्वनिकार ने एक और प्रयोग किया है। वे सभी सम्प्रदायों का समाहार अपने सिद्धात म करना चाहते थे। 'ध्वनि' को एक व्यापक आधार प्रदान करने की चेष्टा की गई। इस सिद्धान्त के विस्तृत रूप से यह सम्भावना की जा सकती है कि भारतीय सिद्धांतों की परम्परा की परस्पर पूरकता सिद्ध हो सकती है। डा० नगेन्द्र भारतीय साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में विद्यमान प्रतिद्वन्द्विता को देखकर चकित थे: दूसरी ओर वे सिद्धान्तों के इस सघन वन से होकर मार्ग निकालने की चेष्टा मे थे। उनको इस प्रतिद्वन्द्विता मे से अवरोधी तत्त्वों की खोज कर सामान्य मूल को परस्पर पूरक बताना था। ध्वनि-सिद्धांतों की व्यापकता देखकर उनके कृतित्व को जैसे लक्ष्य की प्राप्ति हो गई हो। पहले उन्होंने इन समस्त सिद्धान्तों को आत्मवादी और शरीरवादी दो वर्गों मे विभाजित किया। दूसरा वर्ग रीति-वर्ग कहा जा सकता है। इनमें परस्पर विरोध नहीं, पूरकता है। "तत्त्व रूप मे

---

१ रीति काव्य की भूमिका, पृ० १०७
२ वही पृ० ११८

रस और रीति सम्प्रदाय एक-दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नहीं हो सकते। ये तो एक-दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं और इसलिये प्रतिवाद करते हुये भी ये एक दूसरे के महत्त्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार ही करते रहे हैं।"[१] इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय उनके कृतित्व के लिये प्रेरणा स्रोत बन गया।

भारतीय साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में आलोचक नगेन्द्र के कृतित्व की रूपरेखा यही है। उन्होंने रस-सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की है और उसकी मनोवैज्ञानिक समीक्षा द्वारा उसे आधुनिक समीक्षा-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस आत्मवादी सिद्धान्त की मोहकता ने अलकार, रीति वक्रोक्ति आदि रूपवादी सिद्धान्तों का तिरस्कार करा दिया। नगेन्द्र जी ने इनकी सूक्ष्म स्थापनाओ को त्याज्य नही समझा। पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र मे काव्य के बाह्य उपकरणो की जो सूक्ष्म व्याख्या हुई या हो रही थी, उसमे नगेन्द्र जी प्रभावित थे। अत उन भूले-बिसरे तिरस्कृत सूत्रो को चुन लेना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार तुलना का मार्ग प्रशस्त हुआ, उक्त तिरस्कृत सिद्धान्तों को विस्तार भी मिला और उनका नवीन मूल्यांकन भी हुआ, ध्वनि-सिद्धान्त ने इस परम्परा को परस्पर पूरक कड़ियो की शृ खला सिद्ध करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार नगेन्द्र जी का कृतित्व अपने उद्देश्य की पूर्ति मे कृतिकार्य हुआ। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र को, विशेष रूप से हिन्दी-साहित्यशास्त्र को, वाछित विस्तृत भूमिका मे प्रस्तुत किया है।

पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त

सैद्धातिक आलोचना के क्षेत्र मे नगेन्द्र के कृतित्व की यह द्वितीय दिशा है, पर इसे स्वतन्त्र दिशा नही कहा जा सकता। इस दिशा मे उनका मूल उद्देश्य भारतीय साहित्यशास्त्र का विस्तार और पुनराख्यान ही है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने ग्रीक दार्शनिकों, रोमन विचारकों तथा आधुनिक समीक्षा-सिद्धान्तो का अवगाहन किया। अरस्तू के सिद्धान्तों का विवेचन 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' पुस्तक मे सागोपाग विधि से किया गया है। इस अध्ययन मे कृतित्व की दो दिशायें रही सिद्धान्तों का निर्भ्रान्त परिज्ञान तथा भारतीय काव्यशास्त्र से तुलना। आलोचना-प्रत्यालोचना की दृष्टि इस क्षेत्र में विशेष नही रही। नगेन्द्र जी के मनोवैज्ञानिक संस्कार प्रत्येक सिद्धान्त पर कुछ-न-कुछ कहते गये हैं, पर व्याख्या की दृष्टि ही प्रमुख रूप से मिलती है, प्रत्याख्यान की नहीं। हाँ, नवीन समीक्षा-सिद्धान्तो पर विचार करते हुये उनका सागोपाग परीक्षण करके समर्थन या विरोध करने की चेष्टा की गई है। क्रोचे, रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट के सिद्धान्तो पर कुछ विस्तार के साथ विचार किया गया है।

क्रोचे : अभिव्यंजनावाद

क्रोचे का अध्ययन कुतक के संदर्भ मे ही मुख्यत किया गया है। क्रोचे ने अपने सिद्धान्त से समस्त विश्व के विचारकों को प्रभावित किया था। आचार्य कुतक ने इस सिद्धान्त का अध्ययन तो किया, पर वे अपनी सहानुभूति इसे न दे सके। क्रोचे मूलत

१. रीति-काव्य की भूमिका, पृ० १२०

दार्शनिक था। उसका अभिव्यंजनावाद 'अभिव्यंजना की फिलासफी'[1] है। इसके मूल में एक आध्यात्मिक आवश्यकता रहती है। कला सहजानुभूति पर आधारित होती है और उसकी एक सौंदर्यमयी मनोमूर्ति होती है, जिसका आधार कल्पना है। मनोमयी मूर्ति ही कला के द्वारा व्यक्त होती है।[2] डा० नगेन्द्र ने क्रोचे को स्पष्ट रूप से समझने और समझाने का प्रयत्न किया और आचार्य शुक्ल जी की धारणाओं में संशोधन करने की चेष्टा की। जहाँ तक एक मनोमय मूर्ति का प्रश्न है, प्रत्येक व्यक्ति कलाकार है। सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। प्रतिभा से अभिव्यंजना भी सम्भव हो जाती है। सामान्य व्यक्ति में सहजानुभूति की तीव्रता कम होती है। क्रोचे के मतानुसार सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही नाम है। कलाकृति एक आध्यात्मिक क्रिया का मूर्त रूप है, जो सदैव अनिवार्य नहीं होती। क्रोचे ने कला निर्माण की पांच सरणियाँ मानी हैं अरूप संवेदन, अभिव्यंजना (अरूप संवेदनों की आन्तरिक समन्विति—सहजानुभूति, प्रातिभ ज्ञान), आनन्दानुभूति, आन्तरिक अभिव्यंजना (भौतिक उपादानों के माध्यम से मूर्तीकरण), तथा कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप। इनमें से द्वितीय ही मुख्य है। क्रोचे कला को भावरूप न मानकर ज्ञानरूप मानते हैं।[3] उनके अनुसार कला या अभिव्यंजना अखण्ड है न इसकी श्रेणियाँ सम्भव हैं और न इसका विभाजन। सफल अभिव्यंजना स्वयं अपना उद्देश्य है।[4] इसलिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कला कला के लिए' को नवीन उत्थान कहा है। कला पर न नैतिकता का बन्धन है न उपयोगिता का। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे वक्रोक्तिवाद का विलायती रूप कहकर इसका तिरस्कार किया था।[5] डा० नगेन्द्र ने इसे शुक्ल जी का आवेशपूर्ण भ्रम कहा है। प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आधुनिक साहित्य' में इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है और क्रोचे पर होनेवाले आक्षेपों का समाधान भी किया है। पर, वे क्रोचे के सिद्धान्त की त्रुटियों का निर्देश नहीं कर पाये। डा० नगेन्द्र ने कुन्तक के साथ इस सिद्धान्त की तुलना करते हुये इस विषय को अधिक स्पष्ट किया है।[6]

आई० ए० रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धान्त

पाश्चात्य जगत् में आई० ए० रिचर्ड्स ने सन् १९३० के लगभग एक नवीन समीक्षा-पद्धति को जन्म दिया था। उसका महत्त्व सभी देशों में स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की प्रतिक्रिया है। उन्होंने कला और जीवन में गहन सम्बन्ध मानकर एक स्वस्थ स्वर प्रस्तुत किया। साथ ही उन्होंने आध्यात्मिक चिन्तन का सहारा छोड़कर साहित्यिक मूल्यों का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। नगेन्द्र जी जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचक की उनके साथ सहानुभूति स्वाभाविक है। उन पर

---

१ रीति काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० ११०
२ भुवनेश्वरनाथ मिश्र, पारिजात, वर्ष १, अंक ६, पृ० ६८२
३ देशपांडे 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', पृ० ४१५
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इन्दौरवाला भाषण
५ देशपांडे 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', पृ० ४२१
६ रीति काव्य की भूमिका, पृ० ११०

रचड्‌स का बहुत प्रभाव है। शुक्ल जी का भी रिचड्‌स के प्रति आकर्षण था। नगेन्द्र जी ने रिचड्‌स और शुक्ल जी की तुलना करके रिचड्‌स के काव्य-सिद्धान्तो को स्पष्ट किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होने रिचड्‌स के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का समर्थन किया है।

टी० एस० इलियट के सिद्धान्त

टी० एस० इलियट के सिद्धान्तो का जन्म व्यक्तिवादी विचारो की प्रतिक्रिया में हुआ था। नगेन्द्र जी का सम्बन्ध मनोविज्ञान और व्यक्तिवाद दोनो से रहा है, इसलिए वे आई० ए० रिचड्‌स के स्वर मे अपनी जितनी अनुगूंज पाते रहे है, उतनी इलियट के काव्यगत अव्यक्तिवाद मे नही "उनके इस मूल सिद्धान्त को मैं न तो कभी पूरी तरह ग्रहण ही कर पाया हूँ और न स्वीकार ही।"[१] इलियट ने रोमानी भावगत मूल्यो के विरुद्ध वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया, इसलिए छायावाद के समर्थक, मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोक्ता और साहित्य के वैयक्तिक प्रेरणा-स्रोतो के शोधक नगेन्द्र से उनके सिद्धान्तो का सामञ्जस्य सभव नही था। भौतिक भाव का आस्वाद सुखमय और दुखमय दोनों ही प्रकार का हो सकता है। परन्तु "काव्यगत भाव;......अनिवार्यतः सुखमय ही होता है। इसका कारण यह है कि काव्यगत भाव व्यक्तिगत भाव का साधारणीकृत रूप है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह काव्यगत अनुभूति भौतिक अनुभूति का परिभावित रूप है, जिसमे कल्पनातत्त्व और बुद्धि तत्त्व का अनिवार्य मिश्रण रहता है।"[२] यहां तक तो बात समझ मे आती है, पर दोनों मे कोई सम्बन्ध ही न मानना एक अतिवाद है, जिसके साथ नगेन्द्र जी समझौता नही कर सके।[3]

इलियट का यह भी कहना है कि यह आवश्यक नही कि कलाकार ने काव्यगत भाव के भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। डा० नगेन्द्र ने संस्कृत के आचार्यों के मत के आधार पर इसका उत्तर दिया है। संस्कृत के आचार्यों ने कवि को 'सवासन' माना है। वासना और संस्कार के रूप मे एक विस्तृत भावकोश उसके चेतना-केन्द्रो मे कही न कही चिपका रहता है। इस रूप मे संस्कारत. कवि अपने काव्यगत भाव का भौतिक अनुभव कर लेता है।

इलियट के अनुसार काव्यगत भाव अनेक संवेदनाओ और अनुभूतियो का समन्वय है। कला-सृजन का दबाव इस समन्वित रूप को रूपघटित कर देता है। इस सिद्धान्त का पूर्वार्द्ध क्रोचे से कुछ मिलता-जुलता है। पर क्रोचे का सहजानुभूति सिद्धान्त इन्हे मान्य नही है। इलियट कला को आपसे आप अप्रत्याशित रीति से होने वाली एक घटना मानते

१. विचार और विवेचन, पृ० ६०

२. वही, पृ० ६४-६५

३. "काव्यगत भाव और भौतिक भाव में निश्चित ही पल्लव और बीज का सम्बन्ध है, और यह भौतिक भाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत सभी प्रकार के काव्यों में मूलतः कवि का अपना भाव ही होता है।" —वही, पृ० ६६

हैं। नगेन्द्र जी ने इस घटना के मानने की धारणा को अवैज्ञानिक कहा है।[1] इनसे पूर्व व्यक्ति-तत्त्व पर आधारित सृजन-प्रेरणा की चर्चा यूरोप मे होती रही थी, पर व्यक्ति-निरपेक्ष रूप मे इन्होने ही यह बात कही। डा० नगेन्द्र के अनुसार गीति-साहित्य मे आत्मकथन का प्राधान्य मानना ही होगा और वस्तुप्रधान काव्य मे भी व्यक्तित्व का नितान्त अभाव नही हो सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी व्यक्तिप्रधान काव्य की अपेक्षा वस्तुप्रधान काव्य को श्रेष्ठ माना है। इसी दृष्टि से वे तुलसी की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं। डा० नगेन्द्र ने इसका उत्तर यह दिया है—'राम के मगलकारी स्वरूप...... की प्रतिष्ठा करने मे तुलसी ने अपने जीवन आदर्शों का ही तो प्रतिफल न किया है—राम का यह लोकमगलकारी रूप तुलसी के अपने उच्चतर रूप (Super Ego) का ही तो प्रक्षेपण है। वास्तव मे मनुष्य की कोई भी क्रिया उसके अह के चेतन अथवा अवचेतन स्पश से किस प्रकार मुक्त हो सकती है।'[2] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने मनोविज्ञान और दशन से बचकर चलनेवाले इलियट की स्थापनाओ मे दोष दर्शन किया है। उनके सिद्धान्तो मे नगेन्द्र जी को अनेक भ्रान्तियाँ और असगतियाँ मिली हैं।

निष्कर्ष

उक्त विवेचन के आधार पर आलोचक नगेन्द्र के कृतित्व के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उनका उद्देश्य एक व्यापक काव्यशास्त्र की रचना है, जिसका आधार शाश्वत और मानवीय मूल्य होगे। इस योजना मे पूर्वाग्रहो का अभाव स्वीकार नही किया गया है। नवीन और प्राचीन, पौरस्त्य और पाश्चात्य, सभी काव्य सिद्धान्तो का वैज्ञानिक परीक्षण करने के पश्चात् उक्त योजना के प्रकाश मे उनकी उपयोगिता देखी गई है। यदि कोई सिद्धान्त पूर्णत उपयुक्त नही है, तो यह सावधानी रखी गई है कि कही उनके उपयुक्त अशो के प्रति अन्याय तो नही हुआ है। पूर्वाग्रहो से प्रभावित उपेक्षाओ, भ्राति और अर्द्धसत्यो से मुक्ति पाने की चेष्टा नगेन्द्र का आलोचक करता रहा है। आलोचक नगेन्द्र के दो प्रधान सम्बल हैं समाजशास्त्र और मनोविज्ञान।[3] यद्यपि मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक व्यक्तिवाद ने नगेन्द्र जी को विशेष प्रभावित किया है, फिर भी कलाकृति और साहित्यिक प्रवृत्तियो के निरूपण मे सामाजिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण भी उनके कृतित्व का प्रधान अग रहा है।

जहाँ तक आलोचक नगेन्द्र के कृतित्व के क्षेत्र का सबध है, वह अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने साहित्यशास्त्र के नाम पर चलनेवाली सभी धाराओ का अवगाहन किया है। सस्कृत, ग्रीक, अग्रेजी एव हिन्दी-काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो पर तो विस्तृत विचार

१ "इलियट का यह स्वर सभवा अप्रत्याशित घटना तो सर्वथा अवैज्ञानिक है।"

—विचार और विवेचन, पृ० ६७

२. वही, पृ० ६८

३ "साधारणत काव्यशास्त्र मनोविज्ञान और दर्शन नहीं है, परन्तु जहाँ चरम सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा वहाँ केवल काव्यशास्त्र ही नहीं जीवन का कोई भी शास्त्र, दर्शन और मनोविज्ञान को दूर कैसे रख सकता है?'

—विचार और विवेचन, पृ० ६९ ७०

किया ही गया है, साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय सामग्री का भी यत्र-तत्र संकेत किया गया है। माध्यम की समस्या के कारण सभी का सांगोपांग निरूपण संभव नहीं हो सका है। आलोचक नगेन्द्र का अनुवाद-कार्य तथा सम्पादन-कार्य माध्यम की समस्या को सुलझाने के लिये ही है। 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' तथा 'काव्य में उदात्त तत्व' ग्रीक से अनूदित है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' संस्कृत के माध्यम की कठिनाई को दूर करने के लिए ही सम्पादित की गई है। यहाँ तक कि उर्दू में मिलने वाले काव्यशास्त्र के तत्वों को भी नहीं छोड़ा गया है।[१]

आलोचक नगेन्द्र की गति-दिशायें भी कई हैं। व्यावहारिक आलोचना कवियों और कृतियों से सम्बन्धित है, पर इसकी गति छायावाद तक ही रही। आगे के कवियों में से मुख्यतः गिरिजाकुमार माथुर पर ही लिखा गया है। तुलनात्मक आलोचना भी निष्पक्ष और व्यापक है। आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष भी उनके यहाँ अत्यन्त समृद्ध और वैज्ञानिक है।

---

१. हाली का काव्य सिद्धान्त, आजकल, अगस्त-सितम्बर १९६१

पंचम अध्याय

नगेन्द्र : सम्पादक के रूप में

सम्पादक के रूप में डा० नगेन्द्र के कृतित्व के उद्देश्य, क्षेत्र और आयोजन में पर्याप्त विस्तार लक्षित होता है। उन्होंने साहित्यिक सहकारिता को व्यावहारिक रूप दिया और ग्रन्थ-सम्पादन में चुने हुये विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया। 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा,'[1] की भाँति 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' की भूमिका में भी उन्होंने योजना की क्रियान्विति में सहयोग का महत्त्व स्वीकार किया है।[2] अनूदित ग्रंथों में यह सहयोग और भी अपेक्षित तथा स्पष्ट रहा है। 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' के अनुवाद में महेन्द्र चतुर्वेदी के सहयोग[3] और 'काव्य में उदात्त तत्त्व' में श्री नेमिचन्द्र जैन के सहयोग[4] को उन्होंने महत्त्वपूर्ण माना है। इन दोनों कृतियों में उन्होंने आवश्यकतानुसार विविध स्रोतों से सहयोग लिया है। ग्रीक नामों के उच्चारण आदि की समस्याओं का समाधान विदेशी दूतावासों के सहयोग से किया गया। इतालवी दूतावास से सम्बद्ध प्रो० गेलान्ते[5] तथा ब्रिटिश कौंसिल के श्री आर० ई० कैवेलियरो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[6] आर्थिक कठिनाइयाँ भी ऐसे आयोजनों में हो सकती हैं, पर नगेन्द्र जी ने ऐसी कठिनाइयों से कभी हार नहीं मानी—'इस कार्य के सम्पादन में अत्यधिक श्रम और व्यय के अतिरिक्त तरह-तरह की बाधाओं का भी सामना करना पड़ा, जिनके कारण अनेक बार गतिरोध उपस्थित हो गया था। परन्तु मेरे मन ने हार नहीं मानी और अन्त में यह ग्रन्थ किसी न किसी रूप में पूर्ण होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है।"[7] अधिकारी विद्वानों तथा विशेषज्ञों से सहयोग प्राप्त करके सम्पादक नगेन्द्र हिन्दी की समृद्धि-साधना में तत्पर हैं। उन्होंने आचार्य विश्वेश्वर का जितना सहानुभूतिपूर्ण सहयोग प्राप्त किया है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। डा० नगेन्द्र ने अपने सम्पादन-कार्य के लिये साहित्यिक सहकारिता की जिस

---

१. देखिए 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा', निवेदन

२. "इसका श्रेय हमसे अधिक उन सहयोगियों और सहकारियों को प्राप्त है, जिनके योगदान के बिना हमारी योजना की क्रियान्विति सर्वथा असम्भव थी।"

—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सम्पादकीय वक्तव्य

३. देखिए 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', निवेदन, पृ० १

४. देखिए 'काव्य में उदात्त तत्त्व', निवेदन

५. "इस समस्या का समाधान अन्ततः इतालवी दूतावास के तत्कालीन सांस्कृतिक सहचारी प्रो० गेलान्ते ने किया।" —अरस्तू का काव्यशास्त्र, निवेदन, पृ० २

६. "इस ब्रिटिश कौंसिल—विशेष रूप से उसके सहायक शिक्षाधिकारी श्री आर० ई० कैवेलियरो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने विभिन्न प्रकाशन संस्थाओं से अनुमति प्राप्त करने में अत्यन्त तत्परतापूर्वक हमारी सहायता की है।"

—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सम्पादकीय वक्तव्य

७ भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, निवेदन

व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठा की है। उसमें सहभावेन कार्य करने का रस भी सम्मिलित है। साथ ही सम्पादन-कार्य के बृहत् उद्देश्य और कार्य के विस्तार का भी इससे परिचय मिलता है।

अनुसन्धान के लिए दिशा-निर्माण

यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक होगी कि यह सब कार्य किस पाठक को दृष्टि में रखकर किया जा रहा है? इस सामग्री का प्रयोक्ता निश्चित रूप से विशिष्ट है। हिन्दी का जिज्ञासु ही सम्पादक नगेन्द्र की दृष्टि में है।[१] ऐसा सम्भव है कि हिन्दी का काव्य-जिज्ञासु अथवा अनुसंधित्सु संस्कृत के माध्यम की कठिनाई के कारण साहित्यशास्त्रीय संबल से वंचित रह जाय, अतः उसके लिये सामग्री और स्रोत को सुलभ बना देना उनका अभीष्ट है। अनुशीलन-पद्धति की वैज्ञानिकता के लिए यह सर्वथा अपेक्षित भी है। हिन्दी के काव्य-जिज्ञासु को पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र से परिचित कराना भी नगेन्द्र जी का उद्देश्य-विशेष है। इसी उद्देश्य से 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' का अनुवाद-सम्पादन हुआ।[२] 'काव्य में उदात्त तत्त्व' की सम्पादन-योजना में भी 'भारतीय जिज्ञासु' नगेन्द्र जी की दृष्टि में है—"हमें आशा है कि भारतीय जिज्ञासु के लिये पाश्चात्य काव्यशास्त्र के भण्डार का उद्घाटन करने में यह ग्रंथ यत्किंचित् योगदान कर सकेगा।"[३] इस सम्बन्ध में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुये डा० नगेन्द्र ने अन्यत्र भी लिखा है—"इस दिशा में हमारा दृष्टिकोण यह रहा है कि हमने सैद्धांतिक वक्तव्यों के समावेश पर ही बल दिया है—जिनकी उपलब्धियाँ व्यावहारिक काव्य-विवेचन के क्षेत्र में हैं, उनका समावेश हमने जानकर नहीं किया क्योंकि हम समझते हैं कि हमारा यह संकलन जिन पाठकों के प्रति निवेदित है वे आधारभूत काव्य-तत्त्वों के सामान्य विवेचन-विश्लेषण के द्वारा ही पाश्चात्य दृष्टिकोण को भलीभाँति हृदयगम कर सकते हैं; कविविशेष के आलोचनात्मक अध्ययन से उन्हें उतना लाभ नहीं हो सकता।"[४] इस प्रकार सम्पादक केवल सिद्धान्तों से जिज्ञासु को अवगत कराना चाहता है। सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष को पाठक-जिज्ञासु के ऊपर छोड़ दिया गया है। यह 'जिज्ञासु' कौन है? भारतीय विद्यार्थी में विशिष्ट अध्ययन की वह लगन और उसके लिये वह मनोयोग अभी नहीं है, जो विदेशी विद्यार्थी में है। उसकी इस तन्द्रा को तोड़ने के लिये इस प्रकार का कार्य आवश्यक है। अध्ययन के विशिष्ट स्रोतों तक पहुँचने में माध्यम की कठिनाई एक बाधा बन सकती है, किन्तु ग्रन्थों के सुलभ होने पर उसके मानसिक आलस्य के लिये कोई बहाना नहीं रह जाता। साथ ही नवीन काव्य-सिद्धान्तों के भावन की क्षमता विद्यार्थियों में उत्पन्न करना भी अभीप्सित है। विशेष रूप से उनकी दृष्टि में वह अनुसंधित्सु है, जिसके अनुशीलन-विश्लेषण के लिये हिन्दी में सामग्री का अवतरण

---

१. "ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी के काव्य-जिज्ञासु के लिये किया गया है।
—भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा,' निवेदन

२. "हिन्दी-जिज्ञासु की परिसीमाओं को देखते हुए इसकी भी थोड़ी-बहुत उपादेयता की कल्पना कर लेना धृष्टता न होगी।"
—अरस्तू का काव्यशास्त्र, निवेदन, पृ० १-२

३. काव्य में उदात्त तत्त्व, निवेदन

४. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सम्पादकीय वक्तव्य

होना चाहिये। यदि उसके अध्ययन की सीमा का विस्तार होगा, तो उसकी तुलनात्मक साहित्य-दृष्टि का भी विकास संभव होगा। यह कार्य उन साहित्य-सैनिकों को पूर्णरूपेण सन्नद्ध करने के उपक्रम का भाग है, जो भविष्य में साहित्य के माध्यम से शाश्वत मानवीय सत्यों की खोज करके मानव-मानव को समीपतर लाने की साधना करेंगे। इसके लिये मूल सिद्धान्तों का विशद अध्ययन अवश्य होना चाहिये। वैसे, आधुनिक युग में हिन्दी-साहित्य के प्रभाव-क्षेत्र में भी विकास हुआ है। पाश्चात्य विचारधारा ने सृजन और समीक्षा दोनों को प्रभावित किया है। साथ ही भारतीय काव्यशास्त्र की उपेक्षा माध्यम की दुरूहता के कारण भी हुई है। अत आज के साहित्य-मर्मज्ञ का कार्य और दायित्व बढ़ गया है। उसके लिए दोनों ही साहित्य सिद्धान्तों का परिशीलन आवश्यक है। इनकी आवश्यकताओं और सीमाओं से सम्पादक नगेन्द्र भलीभाँति परिचित हैं।

उद्देश्य

सम्पादक नगेन्द्र का उद्देश्य वर्तमान परिस्थितियों ने निश्चित किया है। उनकी दृष्टि में हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार और उसके नये दायित्व एवं आयाम सदैव रहते हैं। हिन्दी-साहित्य की समृद्धि के लिये पहली आवश्यकता शोध के विषयों को व्यापक बनाना तथा शोध-परिशीलन के स्तर को ऊँचा करना है, पर शोध या अनुसंधान का भी एक लक्ष्य होना चाहिए। यह लक्ष्य है—भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता की प्रतिष्ठा।[1] भारतीय साहित्य में एकता के सूत्र स्पष्टत मिलते हैं। साहित्यशास्त्र तथा साहित्य के प्राय एक ही स्रोत से अथवा उस मूल स्रोत के प्रभाव से भारतीय साहित्य का विकास हुआ है। अत इस व्यापक दृष्टि से ही साहित्य और शास्त्र का अध्ययन किया जाना चाहिए। हिन्दी शोध को जब इतने व्यापक धरातल पर लाना है, तो शोधार्थी की दृष्टि, अभ्यास और अध्ययन में भी विस्तार होना चाहिए। उसमें नवीन सिद्धान्तों के अनुशीलन और प्रयोग की क्षमता होनी चाहिये। इसी दृष्टि से सम्पादक नगेन्द्र साहित्य-सिद्धान्तों के स्पष्ट संयोजन की साधना में रत हैं।

उनका एक अन्य उद्देश्य यह है कि हिन्दी का अपना साहित्यशास्त्र होना चाहिए, जो आज की विकासशील समीक्षा दृष्टि की माँग है।[2] हिन्दी-साहित्यशास्त्र को गति और दिशा मिलनी ही चाहिये। इसकी समृद्धि के उपादान अनेक हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र से विच्छिन्न होकर हिन्दी-समीक्षा नहीं चल सकती। पाश्चात्य विचारधारा के समावेश के बिना समीक्षा के नवीन आयामों और प्रभावों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। अत सभी भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्र से सहयोग लिया जाना चाहिए। यह उद्देश्य भी उनके सम्पादन-कार्य के परिशीलन से स्पष्ट हो जाता है।[3]

१ देखिए 'अनुसन्धान और आलोचना', पृ० २०-२७

२ देखिए 'विचार और विश्लेषण', पृ० ४-५

३ "स्वदेश विदेश के आलोचनाशास्त्र में नवीन भारत का आधुनिक आलोचक विवेक का सम्बल लेकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। इसके दो शुभ परिणाम होंगे—एक तो दोनों काव्यशास्त्रों का सम्यक् अध्ययन हो सकेगा और दूसरे सच्चे अर्थ में संश्लिष्ट वर्तमान आलोचना-शास्त्र का विकास हो सकेगा।"
—अरस्तू का काव्यशास्त्र, निवेदन, पृ० १

साथ ही, नगेन्द्र जी के आलोचक की एक और दृष्टि रही है : एक सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौम साहित्यिक मानदण्ड की संरचना। इस महान् उद्देश्य को सामने रखना मात्र आदर्शवाद नहीं है। मानव-मानव की मौलिक एकता सर्वमान्य है। साहित्य उसके राग की सुन्दर अभिव्यक्ति है। अतः साहित्य के प्रति उसकी आलोचनात्मक प्रतिक्रिया के मूल उपादान भी एक ही हैं। हाँ, यह हो सकता है कि किसी दृष्टिकोण को एक मानव-समाज ने अधिक महत्त्व दिया हो और दूसरे ने गौण। इस प्रकार सभी साहित्य-शास्त्रों का पूरकता की दृष्टि से महत्व बढ़ जाता है। पर, यहाँ दो अतिवाद हो सकते हैं : दो नितान्त भिन्न विचारधाराओं को बलात् मिलाने की चेष्टा तथा पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर ऊँच-नीच या गुण-दोष की खोज में प्रवृत्त हो जाना। पहले अतिवाद से बचे रहने की घोषणा सम्पादक नगेन्द्र ने इस प्रकार की है—"पूर्व और पश्चिम को बलात् मिलाने का प्रयत्न हमने कहीं नहीं किया और न हमारा उसमें विश्वास है।"[१] दूसरे अतिवाद के, आंशिक रूप से ही सही, शुक्ल जी जैसे मनीषी शिकार हो गये थे। डा० नगेन्द्र की प्रतिज्ञा है कि खोज इस दृष्टि से होगी कि विभिन्न विचारधाराएँ पूरक हैं—ऊँच-नीच का प्रश्न ही यहाँ अप्रासंगिक है—"काव्यशास्त्र के अध्ययन में ज्यों-ज्यों मैंने प्रवेश किया है, त्यों-त्यों एक तथ्य मेरे मन में स्पष्ट होता गया है। भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट, आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज-सम्भव है।"[२] इस प्रकार संघर्ष को लेकर नहीं, समन्वय की स्वस्थ दृष्टि को लेकर सम्पादक नगेन्द्र चला है, जिससे साहित्य में सार्वभौम तत्त्वों का समावेश हो सके। उनके सम्पादन में प्रकाशित 'वार्षिकी' का उद्देश्य नवीन साहित्य-सृजन से जिज्ञासु को अवगत कराना है। सामान्य पाठक के लिये नवीनतम रचनाओं का परिचय भी कठिन होता है। वर्गीकृत परिचय उसके अनुशीलन के लिए आवश्यक हो जाता है अन्यथा उसकी विचारणा आवश्यक परिवर्तन और निरीक्षण से वंचित रह जाती है। अनुशीलन की इस व्यावहारिक कठिनाई से भी जिज्ञासु की रक्षा की गई है।

पद्धति

डा० नगेन्द्र द्वारा अपनाई गई सम्पादन की पद्धति सर्वथा वैज्ञानिक है। सम्पादन-पद्धति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सहयोगियों की शक्ति को पहचान कर उनका ठीक चुनाव किया जाय और उनके दृष्टिकोण पर सम्पादकीय दृष्टिकोण बोझ बनकर उसे परतन्त्र न बना दे। इस दृष्टि से उन्होंने आचार्य विश्वेश्वर जैसे प्रकाण्ड पंडितों का सहयोग लिया है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' में अधिकारी विद्वानों द्वारा संस्कृत के उद्धरणों का अनुवाद प्रस्तुत कराया गया है। इसी प्रकार 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' प्रस्तुत करने में अधिकारी विद्वानों का सहयोग लिया गया है। सम्पादकीय मान्यताओं और सहयोगी विद्वानों के दृष्टिकोण में विषमता होना भी असम्भाव्य नहीं है। पर, डा० नगेन्द्र ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है—"साहित्य के विषय में हमारी

---

१ अरस्तू का काव्यशास्त्र, निवेदन, पृ० ?

२ हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, वक्तव्य

अपनी मान्यतायें है, जो पिछले पच्चीस वर्षों के चिन्तन-अभ्यास से बहुत कुछ स्थिर एवं बद्धमूल हो चुकी हैं। परन्तु वार्षिकी के सम्पादन में हमने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं का, कम से कम प्रत्यक्ष रूप में आरोपण नहीं होने दिया है। हमारे सहयोगियों का वृत्त व्यापक है—हमने आज के ऐसे अनेक जागरूक विचारकों और आलोचकों को सादर आमन्त्रित किया है जिनके दृष्टिकोण न केवल हमारे दृष्टिकोण से भिन्न हैं, वरन् परस्पर भी भिन्न हैं।"[1] पर, यह स्वतन्त्रता सम्बन्धी मान्यता एक स्थल पर सीमित हो जाती है। यदि इससे उद्दिष्ट कार्य के विशृंखलित हो जाने की सम्भावना होती है अथवा सृजन के स्थल पर विघटन की सूचना मिलने लगती है, तो स्वतन्त्रता पर कुछ रोक लगा दी जाती है। पर इस रोक का उद्देश्य कार्य का निर्विघ्न सम्पादन है, व्यक्तिगत आग्रह नहीं।[2] इस प्रकार सहयोगी लेखकों को स्वतन्त्रता देकर सम्पादक नगेन्द्र ने यह सिद्ध कर दिया कि महत्व कार्य का है, व्यक्ति का नहीं। सम्पादन पद्धति का यह दार्शनिक पक्ष है।

जहाँ तक पारिभाषिक पद्धति का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह पद्धति पूर्णत वैज्ञानिक है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के सम्पादन में उन्होंने पर्याप्त सन्तुलित प्रणाली अपनायी है। 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' में विवेचन-क्रम इस प्रकार रहा है—"आरम्भ में अरस्तू के अपने शब्दों में सिद्धान्त की व्याख्या, फिर अरस्तू के व्याख्याकारों और पश्चिम के अन्य आलोचकों के अनुसार उसका विश्लेषण और अन्त में भारतीय सिद्धान्तों के प्रकाश में आख्यान और परीक्षण।"[3] इसमें सम्पादक का दायित्व द्विविध है सिद्धान्त के अवतरण में अपने को तटस्थ रखकर निष्पक्ष, स्पष्ट और हू-ब-हू सिद्धान्तालेखन तथा पाठक की मानसिक सन्नद्धता के लिए उन सिद्धान्तों के विभिन्न दृष्टिकोण से हुये व्याख्यानों का विवरण। फिर इसी मानसिक स्थिति में सम्पादक पाठक के मन में अध्ययन की सम्भावना और दिशा का उद्घाटन कर देना चाहता है। यहाँ सम्पादक का दृष्टिकोण भी प्रखर हो जाता है और उसका कृतित्व भी व्यक्त होता है। यह कृतित्व विस्तृत भूमिकाओं में लक्षित होता है।[4] इन विस्तृत भूमिकाओं में आलोचक नगेन्द्र की शैली सम्पादक नगेन्द्र से हो जाती है। जहाँ तक भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करने की पद्धति का प्रश्न है, उन्होंने मूल और अनुवाद की शृंखला उपस्थित करके उसे हिन्दी में मिलनेवाली परम्परा से जोड़कर पूर्णता लाने की कामना

---

१ वार्षिकी, सन् १९६०, पृ० २

२. "समीक्षा में हमने अपने समीक्षक मण्डल को मताभिव्यक्ति के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी है। सम्पादक समिति ने वहीं हस्तक्षेप किया, जहाँ उसे समीक्षा में निर्माण के स्थान पर संहार की प्रवृत्ति उभरती दिखाई दी है।'

—वार्षिकी, सन् १९६०, पृ० १

३ अरस्तू का काव्यशास्त्र, निवेदन, पृ० १

४ मुख्य विस्तृत भूमिकायें ये हैं 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की भूमिका—ध्वनि सिद्धान्त (७५ पृष्ठ), 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' की भूमिका—आचार्य वामन और रीति सिद्धान्त (१८९ पृष्ठ), 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' की भूमिका (१६० पृष्ठ), 'काव्य में उदात्त तत्त्व' की भूमिका (४० पृष्ठ) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' की भूमिका (१३ पृष्ठ) आदि।

की है। शृंखला की पूर्णता से लेखक पाठक को आगे की कड़ियाँ खोजने को प्रेरित करता है।

सम्पादक के रूप मे नगेन्द्र जी का क्षेत्र व्यापक है। पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक-मण्डलो मे भी अनेकत्र उनका नाम है।[१] कुछ सग्रहो का सम्पादन भी डा० नगेन्द्र ने किया है।[२] अभिनन्दन-ग्रन्थो के सम्पादकों मे भी उनका नाम मिलता है।[३] 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' शीर्षक कृति मे उन्होने अज्ञेय जी के साथ आधुनिक साहित्य सम्बन्धी निबन्धों का सम्पादन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नगेन्द्र जी के सम्पादक रूप का कृतित्व अत्यन्त व्यापक है।

निष्कर्ष

डा० नगेन्द्र का सम्पादन-कार्य महान् उद्देश्य से प्रेरित है : हिन्दी काव्यशास्त्र की प्रतिष्ठा, व्यापक साहित्य मानदण्डो की स्थापना, राष्ट्रीय एकता को ध्यान मे रखते हुये एक व्यापक उदार समीक्षा-दृष्टि की सृष्टि तथा ऊपर से विरोधी लगनेवाली विचार-धाराओ को परस्पर पूरक बनाना उनकी सुनिर्धारित प्रवृत्तियाँ हैं। अनेक सामयिक विद्वानो, प्रकाशको तथा आयोगो के सहयोग को प्राप्त करके योजना को कार्यान्वित किया गया है। उन्होंने सहयोगी लेखको को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है, जिससे कार्य के सचालन में सघर्ष न हो। जहाँ विघटन के संकेत मिलने लगते हैं, वहाँ स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया जाता है। सम्पादक के रूप में डा० नगेन्द्र मे तीन तत्त्वो का स्पष्ट समावेश लक्षित होता है। सयोजन-नियोजन की कुशलता, आलोचना का तत्त्व तथा भविष्य की दृष्टि। उनकी दृष्टि मे हिन्दी का बढता हुआ क्षेत्र सदैव रहता है। चिन्तन और क्रियान्विति का समन्वय सम्पादक नगेन्द्र की सफलता का रहस्य है, जिसे उनके द्वारा अनूदित अथवा सम्पादित कृतियो में सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

---

१. हिन्दी अनुशीलन, भाषा, सस्कृति, आजकल, देवनागर आदि।
२. रीति-शृङ्गार, कवि भारती, सियारामशरण गुप्त आदि।
३. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ, मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ, राजर्षि टण्डन अभिनन्दन-ग्रन्थ आदि।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

डॉ० नगेन्द्र का व्यक्तित्व छा जानेवाला व्यक्तित्व है। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल जी के पश्चात् तीन व्यक्तित्व विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र। डॉ० नगेन्द्र के व्यक्तित्व में जो दृढता एकनिष्ठता निर्द्वन्द्वता तथा योजनाओं की कार्यान्विति की क्षमता है, वह सयोग दुर्लभ ही होता है। नगेन्द्र जी अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जिस आत्मविश्वास के साथ तत्पर रहे हैं, वह उनकी सफलता का प्रमुख कारण रहा है। आरंभिक जीवन में लक्ष्य-प्राप्ति के पूर्व भी जिस कार्य का दायित्व उन पर रहा, उसमें मन चाहे पूर्णत नही रम सका, पर न्याय करने की चेष्टा सदैव रही। जब विश्वविद्यालय—प्रसाद जी का आनंद-स्रोत—प्राप्त हुआ, तब व्यक्तित्व में शत शत वसन्त बरस पडे। अध्यापक होना उन्होंने वरदान समझा। वे अध्यापन-कार्य में इस दृष्टि से सलग्न हैं कि साहित्य के अध्यापक का अपना एक विशिष्ट दायित्व है और उसे व्यावहारिक दृष्टि से साधारणीकरण का ध्यान रखते हुए विद्यार्थियो को सामाजिक' समझकर चलना है। उसका प्रमुख कार्य यह है कि विषय को अपने व्यक्तित्व की छवियो से युक्त करके, अपने भावन के द्वारा रसान्वित बनाकर, विद्यार्थी के लिए सब कुछ आस्वाद्य बना दे। इस प्रकार एक कलात्मक दृष्टि साहित्य के अध्यापक को रखनी चाहिए। इसके साथ साथ डॉ० नगेन्द्र के अध्यापकीय व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता है विषय-वस्तु का सुसगठित कारण-कार्य-शृंखला की दृष्टि से नियोजन।

जहाँ तक नगेन्द्र जी के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रश्न है, उसमे एक युग की परिव्याप्ति है। वस्तु-परिज्ञान तथा विषय और चिन्तन का भावन इतना निजी है कि मौलिकता का आवेष्टन अभिव्यक्त तत्त्व को झिलमिल कर देता है। कवि के रूप मे उनका व्यक्तित्व छायावादी कवियो के प्रभाव से अभिभूत दीखता है। पर, उनकी स्पष्टवादिता ने उनकी काव्य-कृतियों को वायवी और सूक्ष्म लाक्षणिकता से इतना दुरूह नही होने दिया है, जितनी अन्य छायावादी रचनाएँ प्राय होती हैं। प्रभाव और अनुकरण के गहरे पर्त्तों मे उनकी स्पष्ट वैयक्तिकता, मनोभावो की स्पष्ट निश्छल स्वीकृति तथा मनोभूमियो की मांसल प्रभा इस प्रकार छाई है कि छायावादी धारा में बहते हुए भी उनका व्यक्तित्व अपना वैशिष्ट्य प्रकट कर ही जाता है। अध्ययन और चिन्तन की तीव्र व्याप्तियों ने जहाँ 'कवि' को अभिभूत करना चाहा है, वहाँ भी उनका कवि पराजित नही है। पर, इतना कठोर भी नहीं है कि टूट जाए। उसने रूपातरित होना स्वीकार कर लिया और नगेन्द्र के कृतित्व के कण-कण में समा गया उसने अपनी अनुभूति की गहराई चिन्तक नगेन्द्र को दी, अपनी कल्पना-योजना और अपना सौन्दर्य-बोध अभिव्यक्ति को दिया: अपनी भाषा प्रक्रिया मे दिगान्तर किया—भावन अब सिद्धांतों का होने लगा। इस प्रकार कवि पराजित होकर अतर्चेतन मे

स्थिर होकर एक काँटा नही बन गया, जो गद्यात्मक कृतित्व के समय चुभता रहे और अपनी अभिव्यक्ति के लिए कुछ स्थलो पर लेखक को विवश कर दे। नगेन्द्र जी का कवि अभिव्यक्ति की प्रत्येक अँगडाई मे अपना उद्दाम यौवन देखकर सतुष्ट है। चाहे स्थूल दृष्टि से अलकृति और तरलता इतनी न दीखें, पर प्रत्येक वाक्य के पीछे जो भावन-क्रिया और सुनिश्चित योजना है, उसमें कवि अपना तिरस्कार नही, अनिवार्यता ही पाता है। इस प्रकार नगेन्द्र जी के कवि और उनके आगे के कृतित्व मे सघर्ष नही हो पाया। एक और बात है· कवि आतरिक दृष्टि से चाहे प्रौढ हो, पर अभिव्यक्तिगत परिमाण इतना नही था कि उसे अपनी बाह्य परिणति का इतना मोह हो।

नगेन्द्र जी के निबन्धकार और आलोचक को सामान्यत. अलग नही किया जा सकता। विषय का गाम्भीर्य और उसका वैज्ञानिक रूप आलोचक के सबल हैं। नगेन्द्र जी के निबन्धो मे यही तत्त्व मिलता है। पर, नगेन्द्र जी अपने निबन्धो को विषयप्रधान मानने को तैयार नही हैं। निबन्ध के विषय का जहाँ तक सम्बन्ध है, संसार का कोई विषय निबन्ध के लिये उपयुक्त हो सकता है। विषय की विशृखलता और स्वच्छन्द गति को अनिवार्य माननेवाले जहाँ कुछ निबन्धकार थे, वहाँ उसको सुव्यवस्था और एकसूत्रता पर बल देनेवाले लेखक भी थे। 'निबन्ध' के धात्वर्थ के अनुसार कसाव और निबद्धता उसकी विशेषताएँ हैं। पर, डॉ० नगेन्द्र निबन्ध के विषय मे अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि गभीर-से-गंभीर विषय और सिद्धान्त के प्रति पहली प्रतिक्रिया भावन की होती है। विषय भावित होकर आत्मा को रसवत् स्नात कर देता है। अत. निबन्धकार की जो मनःस्थिति होनी चाहिये, वही डॉ० नगेन्द्र की रहती है। शुक्ल जी की भाँति यह प्रश्न उनके सामने नही है कि मेरे निबन्ध विषयप्रधान हैं या व्यक्तिप्रधान। विषय कभी इतना प्रबल नही हो जाता कि अनुभूति-पक्ष की उपेक्षा करके प्रबल आँधी की भाँति लेखक को तृणवत् उडाकर ले जाये। लेखक की साधना सदैव ही स्थिर और मन्द रही है— इसका कारण अनुभूति-सबलता ही है। सघन अनुभूति की तीव्र प्रक्रिया से लेखक एक साथ बैठकर कम ही लिख सकता है। सिद्धान्त, अनुभूति की अग्नि मे तप्त होकर ही निबन्ध का विषय बनता है अर्थात् बौद्धिक चिन्तन को प्रकट करने से पूर्व भाव को स्फीत और कोमल बना लिया जाता है। केवल बौद्धिक क्रियाओ से नही, व्यक्तित्व की समस्त अन्तर्धाराओं से विषय अभिषिक्त होकर कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत हो जाता है। यही कारण है कि नगेन्द्र जी उस समय झुझला उठते हैं, जब कोई उनके निबन्धो को विषयप्रधान कहकर उनकी आलोचना-पद्धति के विश्लेषण मे सलग्न हो जाता है। वस्तुतः अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया उपेक्षणीय नही है। जहाँ तक निबन्ध के अभिव्यक्ति-पक्ष का सम्बन्ध है, वह तो इतने कल्पना-व्यापार और कलात्मक उपकरणो से अभिमडित है कि निबन्धकार नगेन्द्र को उपेक्षा नही की जा सकती। अभिव्यक्ति मे सबसे पहला तत्त्व सुनिश्चित योजना है। यह स्थूल अभिव्यक्ति से पूर्व मानसिक अभिव्यक्ति की स्थिति है। इस स्थिति की अभिव्यक्ति का भावन सम्भव है। अतः अनुभूति और भावन-क्रिया-व्यापार की इयत्ता विषय के मृदुलीकरण तक ही नही है, अभिव्यक्ति के आन्तरिक रूप पर भी इनकी ऐसी बौछारें पड़ती हैं कि अभिव्यक्ति एक

स्फीत पुलक और उमग मे विह्वल हो जाती है। यह अभिव्यक्ति फिर स्थूल रूप मे अवतरित होने को आकुल होती है। 'शब्द' का शिल्प स्थूल अभिव्यक्ति की प्रमुख आवश्यकता है। कुशल शिल्पी की भाँति नगेन्द्र जी का निबन्धकार शब्द की सगतिपूर्ण अन्विति स्थापित करता है। यदि किसी शब्द का कोई पक्ष शिथिल होता है तो विशेषणो द्वारा उस अग मे पहले जीवन सचारित किया जाता है, फिर उसे प्रयोग की सिद्धि प्राप्त होती है। कभी कभी शब्द सम्बन्धी समस्या निबन्धकार को आविष्कारक बना देती है नवीन शब्द, नवीन प्रयोग, नवीन उपसर्ग और प्रत्यय शब्द-शैली को प्राणवान् बना देते हैं। फिर ये शब्द अपने को वाक्य के वातावरण (जो समग्र रूप मे 'अर्थ' होता) मे ढाल देते हैं और शैली गठित तथा सुदृढ हो जाती है। इस प्रकार आलोचक नगेन्द्र के साथ अनुभूति और कला उपयुक्त सम्बल-पोषण प्राप्त करके पनपते रहते हैं और व्यक्तित्व की कृतिमय साधना मे तीव्रता और आकर्षण की सृष्टि करते रहते हैं। अन्त मे निबन्ध के समग्र रूप का प्रभाव रह जाता है। सिंहावलोकन की प्रवृत्ति समस्त तत्त्वो को स्मृति-बद्ध रखती है। समग्र के प्रभाव से उच्छलित पाठक अन्त मे अपनी स्मृति को उद्‌बुद्ध पाता है। जैसे ताजमहल के समग्र और यथार्थ सौन्दर्य को देखकर दर्शक एक चित्र लेकर वापस आता है, उसी प्रकार अन्त मे एक आतरिक समग्र-बिम्ब को लेकर पाठक प्रकृतिस्थ होता है। बाह्य अभिव्यक्ति की शैली मे सवाद, स्वप्न-प्रसग, गोष्ठी, पत्र आदि प्रयोग भी मिलते हैं। इस प्रकार नगेन्द्र जी के निबन्ध विषय की भावन-पद्धति और शिल्प की दृष्टि मे हिन्दी-निबन्ध-साहित्य को पर्याप्त योगदान देते हैं।

आलोचक के रूप मे नगेन्द्र जी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शुक्लोत्तर हिन्दी-समीक्षा के वे एक प्रमुख आलोचक-स्तम्भ हैं। अपनी मौलिक स्थापनाओ तथा समीक्षा के देशी-विदेशी सिद्धान्तो के मनन-चिन्तन और उनके अवतरण को लेकर उनका व्यक्तित्व अपने आप मे एक सस्था बन जाता है। भारतीय और पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के गम्भीर अध्ययन ने उनके चिन्तन को सस्कृत और व्यापक बना दिया है। यद्यपि नगेन्द्र जी की आलोचना सम्बन्धी अपनी मान्यतायें हैं, पर उनकी सजग तटस्थता तथा निस्सगता उनके आलोचक के व्यक्तित्व की आकर्षक झलकियाँ हैं। उनकी मान्यताओ के निर्धारण मे रस-सिद्धान्त, भारतीय जीवन-दर्शन के शाश्वत ततुआ और मनोविज्ञान की पद्धति से व्यक्ति के अन्तर्दर्शन का प्रमुख हाथ है। उनकी आलोचना-दृष्टि ऊपर के परिवर्तनो को स्वीकार भी करती है, पर रस-निष्ठता अविकल ही रही है, आनन्दवादी मूल्यो से उनका आलोचक कभी विच्छिन्न नही हुआ। सौन्दर्य और रस के तत्त्वों के प्रति उनके सुदृढ आग्रह बने ही रहे। आलोचक नगेन्द्र का ऐतिहासिक महत्त्व इस बात मे है कि उन्होने स्पष्ट रूप मे छायावाद का समर्थन किया। यह समर्थन केवल निराधार भावात्मक क्रिया नही थी, उन्होंने उसका तत्त्व-विश्लेषण करके उस पर हुये सभी आरोपो का दृढता से निराकरण किया। छायावाद को विदेशी आयात माननेवाले आलोचको को उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि प्रेरणा के अतिरिक्त छायावाद का अधिकाश तन-मन भारतीय है. यहाँ की परिस्थितियो ने ही इसको जन्म दिया है और यही यह अपनी शक्तियो को सहेजता रहा है। दूसरा ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि उन्होंने द्विवेदीयुगीन आदर्शवाद, व्यक्ति निरपेक्षता तथा नैतिक लौह नियमो पर आधारित आलोचना-पद्धति के प्रति एक सबल प्रतिक्रिया को पर्याप्त बल दिया।

उन्होंने शुक्ल जी के व्यक्तित्व की व्यापकता को स्वीकार करते हुये भी उनके द्वारा उत्पन्न कुछ भ्रमो का स्पष्ट निराकरण किया। विशेष रूप से ये भ्रम विदेशी आलोचना-पद्धति के सम्बन्ध मे थे। शुक्ल जी की महानता को बिना किसी प्रकार की ठेस पहुंचाये, उनकी सीमाओ का निष्पक्ष दृष्टि से दर्शन कराना नगेन्द्र जी ने आवश्यक समझा। साथ ही मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अभिनव इतिहास-दर्शन की पद्धतियो का समीक्षा-पद्धति के साथ सुखद सामंजस्य करके आलोचना के प्रकारो मे वृद्धि करनेवालों मे डा० नगेन्द्र का नाम अग्रगण्य है। जहाँ उन्होने व्यक्तिवादी पक्ष को साहित्य मे स्थापित करने की चेष्टा की, वहाँ इतिहास और संस्कृति की प्रवहमान धाराओ और अन्तर्धाराओ की उपेक्षा भी नही की। यह सब समन्वय और पूरक विवेचन इसलिए आवश्यक हो गया कि नगेन्द्र जी के युग की स्थूल और बौद्धिक परिस्थितियाँ अत्यन्त जटिल हो गई थी। मानव और सामाजिक विकास को नई दृष्टि से देखा-परखा जाने लगा था। इन परिस्थितियो ने साहित्य और समीक्षा के मानदण्डों को भी प्रभावित किया। हिन्दी के आलोचक के लिए भी एक चुनौती थी—समय का साथ दो, या पिछड़ जाओ। जिन मनीषियो ने इस चुनौती को जागरण की प्रेरणा समझा, उनमे नगेन्द्र जी का स्थान सर्वोच्च है। जो नवीन प्रवृत्तियाँ हिन्दी-काव्य या साहित्य के क्षेत्र मे पनपी, डा० नगेन्द्र ने उन सबका पारदर्शी और सूक्ष्म अध्ययन करके सत्य की खोज की। उन्होने स्पष्ट कहा कि प्रतीकवाद के मूल मे—जिसकी पृष्ठभूमि में वेडारलेन, रेम्बो अथवा मेलार्मे की विचारधारा है—पलायन की मनोवृत्ति अवश्य है। प्रगतिवाद में प्रचार और सामाजिक स्थूलता के तत्वों के कारण नगेन्द्र जी समझौता यद्यपि नही कर पाये, पर फ्रायड और मार्क्स की विचारधाराओं को उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में परस्पर पूरक बताया। यह समन्वय एक पुष्ट मानदण्ड बना सकता है। छायावाद के भ्रमों को दूर करके उन्होने उसे एक स्वतन्त्र धरातल पर रखा। इस प्रकार इन प्रवृत्ति-परम्पराओ का अध्ययन नगेन्द्र जी ने सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इनके पीछे व्याप्त सामाजिक परिवेश का विश्लेषण संक्षिप्त और परिपूर्ण है।

सैद्धांतिक समीक्षा का शास्त्रीय क्षेत्र तो नगेन्द्र जी के योगदान से विशेष रूप से उपकृत है। इस क्षेत्र मे उनका सबसे बडा योगदान यह है कि उन्होंने इतिहास और मनोविज्ञान की समन्वित भूमिका में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करके काव्यशास्त्र का जैसे नवीन संस्कार या पुनराख्यान किया गया है। साथ ही उन सिद्धान्तो की नवीन सिद्धान्तों के साथ संगति बिठाने मे भी मनोवैज्ञानिक पद्धति का बहुत बडा हाथ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य की समस्त विचारणाएं नैरन्तर्य के सूत्र मे आबद्ध हो जाती है, जिसमे एक कड़ी के छूटने पर भी शृंखला विकल हो जायेगी। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक पद्धति ने नगेन्द्र जी के साहित्य-सिद्धान्तों मे नैरन्तर्य स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मतवाद और साम्प्रदायिक दृष्टि को उन्होंने घातक मानकर छोड दिया है।

इस क्षेत्र में उनका दूसरा योगदान तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन है। वे तुलना मे खींचतान की प्रकृति को न अपनाकर साम्य और वैषम्य की सकारण व्याख्या प्रस्तुत

करते हैं और दोनो पक्षो के उन तत्वो को समीक्षा मे उभारते हैं, जो विषम होते हुये भी परस्पर पूरक हो सकते है। विषमता से संघर्ष की भूमिका न लेकर उसे समता का पूरक मान बनाकर नगेन्द्र जी ने साहित्यिक सिद्धान्तो मे सह-अस्तित्व की सम्भावना को पुष्ट और प्रमाणित किया है। उनकी स्थापनायें तर्कों की सुदृढ भूमि पर प्रस्तुत हैं। उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी उसी उल्लास और मनोयोग से अध्ययन किया है, जिससे भारतीय साहित्यशास्त्र का। पाश्चात्य चिन्ताधारा से हिन्दी के प्रबुद्ध जिज्ञासु का जितना प्रौढ़ सुबोध परिचय नगेन्द्र जी ने कराया है, उतना सम्भवतः अन्य आलोचक नहीं करा पाये। डा० देवराज के महत्व को भी भुलाया नही जा सकता, पर सुबोधता और स्पष्टता नगेन्द्र जी मे अधिक है। नगेन्द्र जी ने साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे जो साधना की, उसके दो सुपरिणाम हुये. प्राचीन सिद्धान्तों मे से रस सिद्धान्त की आधुनिक परिणति हुई और अन्य सम्प्रदायो को उपेक्षा के पक से निकालकर पाश्चात्य कल्पना, कला और अभिव्यंजना के सिद्धान्तो के संदर्भ में उनका अध्ययन एक नवीन उपलब्धि हो गई। रस-सिद्धान्त या ध्वनि-सिद्धान्त मे विशेष रमकर शुक्ल जी भी अन्य सम्प्रदायो के प्रति इतना न्याय नहीं कर पाये थे। तीसरी बात यह हुई कि रस-सिद्धान्त के आनन्दवादी तत्वो को छायावादी दृष्टि से उभार दिया गया। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र मे पुनराख्यान, तुलना और समन्वय की दृष्टि से नगेन्द्र जी का महत्त्व-पूर्ण योगदान है।

व्यावहारिक समीक्षा मे भी नगेन्द्र जी की उपलब्धियाँ हैं। उन्होंने मुख्यत देव, तथा सामान्यत सभी रीतिकालीन कवियो को, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखकर नैतिकता और आदर्शवाद-जन्य उपेक्षा से उनका उद्धार किया। जहाँ तक वर्तमान साहित्य का सम्बन्ध है, गुप्त जी से लेकर गिरिजाकुमार माथुर तक उन्होंने सभी प्रमुख साहित्य-सर्जको की समीक्षा की है। वर्तमान कवियो या लेखकों की समीक्षा मे सबसे बडी दो कठिनाइयाँ होती हैं: एक यह कि हम उनके इतने समीप होते हैं कि दृष्टि-पथ बाधित हो जाता है। दूसरी यह कि हम कटु-सत्य का इतना स्पष्ट कथन नही कर सकते। डा० नगेन्द्र ने निजी सम्बन्धो से तटस्थ रहकर आलोचना के क्षेत्र मे अप्रिय सत्य भी कहे हैं। यह उनकी शक्ति का परिचायक है। साथ ही सर्जक की आन्तरिक मन स्थिति, बाह्य सामाजिक परिवेश, तथा कृति का पर्यवेक्षण, इस त्रिसूत्री ने उनकी आलोचना-पद्धति को बडी दृढता और क्रम से पकडा है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि डा० नगेन्द्र ने हिन्दी-आलोचना की अभिवृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उनका सम्पादक भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान उनके आलोचक को देता रहा है। सम्पादक और आलोचक के रूपो की समन्वित झाँकी उनके विराट् कृतित्व की भूमिका मे है।

परिशिष्ट—१

भ्रान्त पथिक[1]

(गोल्डस्मिथ के 'दि ट्रेवलर' का हिन्दी-अनुवाद

कृपा से जिस प्रभु की प्यारे
हुये कवियो के पावन मन।
दया के आकर मन-रजन,
सफलता दें वे ही भगवन।।

मित्रहीन अति दूर देश से मन्दा शील्ड नदी तट पर
दुखी-हृदय या भ्रमण करूँ मैं सरिता पो के ही घट पर
आगे जाऊँ यदि मैं भ्राता जहाँ कि कोरन्थियन गँवार
देख अतिथि को ही जो सत्वर कर लेता है बन्द किवार
अथवा कम्पेनिया देश मे जहाँ भूमि निर्जन ऊसर
जो कि दृष्टि पर्यन्त चहूँ दिशि फैली महा धूलिधूसर
चाहे जहाँ भ्रमूँ मैं भ्राता चाहे जो देखूँ मैं देश
किन्तु हृदय एकाग्र तुझी को भजता है मेरे हृदयेश!
ज्यो ज्यो भग्न हृदय इस पथ मे आगे मैं बढ़ता जाता
त्यो त्यो तेरा प्रेम पाश तव ओर खीचता है लाता

× × × ×

सर्वोत्तम सुख सामग्री मम प्रथम मित्र पर हों एकत्र
रक्षक हो दिग्पाल सदा उस गृह मे वास करें सर्वत्र
रहे प्रफुल्लित सदा देव वर उसका वह प्रिय क्रीडास्थल
अग्नि जलाकर दूर शिथिलता करते सुखी अतिथि जिस थल
चिन्ता कष्ट नष्ट होते जहँ—सुखी रहे वह प्रिय सुस्थान
जहाँ सदा आगन्तुक पाता है प्रतिपल स्वागत सम्मान
साधारण अधिक युक्त वे भोज सदा ही बने रहे
सुन्दर स्वस्थ कुटुम्बी जन की मधु बातो से सने रहे।
जो कि हास्यमय आलापो पर हास विलास दिखाते हैं
किन्तु श्रवण कर दारुण गाथा दृग से नीर बहाते हैं
लज्जाशील युवक को जो कर आग्रह भोज कराते है
पर-उपकार परम सुख अनुभव की दो शिक्षा पाते है

१. यह पाडुलिपि मुझे डा० नगेन्द्र के ही सौजन्य से प्राप्त हुई।

किन्तु हमारे मन्दभाग्य मे लिखा नही इनका शुभ भोग
इस जीवन में रहा सदा ही चिन्ता और भ्रमण-सयोग
हो उन्मत्त निरन्तर भ्रम कर नित शरीर को कष्ट दिया
किसी अनिश्चित सुख के अन्वेषण मे जीवन नष्ट किया
जो कि क्षितिज की भाँति दूर से मुझे प्रलोभन दिखलाता
किन्तु पास जाते ही सहसा घृणा दिखा आगे जाता
देशो का एकान्त भ्रमण है किन्तु न कुछ भी सार वही
इस समस्त अवनी पर मेरा किसी जगह अधिकार नही
अब भी इस जगह आल्प्स पर्वत की चोटी पर एकान्त।
शोकाकुल कुछ समय बिताने बैठा हूँ अति दुखी अशान्त ॥

तूफ़ानो की भी सीमा से दूर पर्वतक पर हो स्थित
नीचे शतश देश दृष्टिगोचर होते सुन्दर विस्तृत
हर्षित नगर तडाग और उपवन शोभा देते एक ओर
राजभवन हैं कही, वही कुटियो की चमक रही हैं कोर
इस प्रकार मन-मोहन सृष्टी जब विभु ने की मानवहित
तो कृतघ्नता और गर्व हो सकते हैं क्या कभी उचित
भला कहो समुचित है यह ! तत्वज्ञ घृणा जो करता है
उस सुख को जो दीन हृदय मे, गर्व (सदा ही) भरता है
जनता-गर्व स्थान सौख्य को जो कि समझते तुच्छ महान
चाहे जितना इसे छिपावे तत्वज्ञो का गर्वित ज्ञान
ये सामान्य पदार्थ किन्तु सामान्य जनो के हेतु महान
बुद्धिमान है वही जो कि सबके प्रति दया दिखाता है
जनता के सुख मे ही जो अपना आनन्द मनाता है
हे धनधान्य प्रपूरित नगरो ! ज्योतिर्मय शोभा की खान !
ग्रीष्म काल ही की हरियाली से युक्त रुचिर हे क्षेत्र महान !
हे तडाग-गण ! वायु-सग जिनमे जलयान विचरते हैं
कृषकवर्ग ! झुककर, पुष्पित घाटी जो भूषित करते हैं
अपनी इन सुख की निधियो को मेरे लिये करो एकत्र
अधिकारी जग के भोगो का मैं ही हूँ राजा सर्वत्र
ज्यो एकाकी कृपण देखने जाता है जब अपना कोष
झुक-झुक बार-बार गिनकर निज धन को, पाता है सन्तोष
अगणित राशि देखकर धन की वह अति हर्षाकुल होता
असन्तुष्ट हो पुन किन्तु, कुछ अधिक हेतु व्याकुल होता
आते हर्ष शोक मम उर मे एक दूसरे के पश्चात्
ईश' प्रकृति दत्त मानव-सुख लखकर होता हूँ अनिर्द्धयित तात !
जगदीश्वर की अनुकम्पा लख होता हूँ अति पुलकित गात।

पर मनुष्य के सुख को जब मैं हूँ इतना थोड़ा पाता
कढती आह हृदय से मेरे शोक वेग उमड़ा आता
होता है मानस मे मेरे प्राय' यह अभिलाष-विकास
पा जाऊँ वह पावन भूमी जहाँ सत्य-सुख का हो वास
अस्थिर आशाएँ पूरित हो और मेरा उद्भ्रान्त हृदय
पावे शान्ति मानवी सुख के पूर्ण चन्द्र का देख उदय
है परन्तु यह कठिन समस्या कहाँ प्राप्त हो वह सुस्थान
कौन करे निर्देश ? सभी ज्ञाता होने का करते मान
शीत विकम्पित शीत देशवासी घोषित करता निश्क्लेश
जगती के समस्त देशो मे सर्वोत्तम मेरा प्रिय देश।
अपने तूफानी-नीरधि की निधियो पर गर्वित सामोद
है सराहता दीर्घ निशायें होते जिनमे मोद-प्रमोद
नग्न हाँफता हुआ, नीगरो विषुवत-रेखा के उस पार
स्वर्ण-वर्ण निज धूलि ताड-मदिरा पर करता गर्व अपार
करता स्नान तरणि-किरणो से और तप्त जल में तरता
इस असीम सुख पर देवो का धन्यवाद फिर-फिर करता
इस प्रकार प्रत्येक देश मे नरता देशभक्त अभिमान
उसकी प्यारी जन्मभूमि भूमण्डल भर मे सर्व-प्रधान
पर समस्त इन भूभागो को यदि तुलना हित धरें समक्ष
और भुक्त भोगो का उनके यदि अनुमान करें निष्पक्ष
ये ही राग देशप्रेमी के किन्तु विचारेगा धीमान
सब ही देशों के ललाट में अंकित है सुखभोग समान
यद्यपि स्नेह प्रकृति जननी का एक सदृश ही सबके साथ
किन्तु श्रमी सुत-हित वह आतुर होकर शीघ्र बढाती हाथ
माना आर्नो की घाटी मे कृषक पूर्ण भोजन पाता
ईडा पर्वत पर न किन्तु वह क्षुधित तनिक भी रह जाता
यद्यपि वे चट्टान भयकर अति वीभत्स दिखाते हैं
पर अभ्यासी को पथो की कुथा सदृश हो जाते है
इधर कला-कौशल भी देता ही 'अति हो' अनुपम उपहार
जैसे अतिधन-धान्य, मान, स्वातंत्र्य और उन्नत व्यापार
एक दूसरे की शक्ती का करते रहते है अवरोध।
जहाँ राज्य स्वातन्त्र्य विभव का वहाँ न रह पाता सतोष
चिरवासी वाणिज्य जहाँ है वहाँ आत्मगौरव का रोष
किसी एक प्रिय सुख मे यो प्रत्येक व्यक्ति होता है मग्न
और शेष बातो की उन्नति के विरुद्ध रहता सलग्न
पर ज्यो ही प्रत्येक देश मे इस रीति की अति हो जाती
यही स्नेह-भाजन विभूति अति विषम वेदना उपजाती

यहाँ स्वकीय वेदनाओं से क्षणिक शान्ति मैं पाता हूँ
मानव-दुख-दुर्भाग्य दुखी मन क्षण दो चार बिताता हूँ
ज्यो उपेक्षिता लता ढालु पर जिसकी छाया पडती है
हिल प्रत्येक वायु झोके के साथ आह जो भरती है
दूर दक्षिणापथ मे पर्वत आल्प्स जहाँ अति आभावान
शोभित देश इटॅली विस्तृत ग्रीष्म सदृश सुन्दर द्युतिमान
वही कही पर देवगृहो के भग्न तुङ्ग शोभा देते
लगा धार्मिक छाप दृश्य मे जो सबका आदर लेते
कर सकता सतुष्ट उन्हे यदि नही प्रकृति देवी का स्नेह
तो सच्चा आनन्द लूटते इटलीवासी निस्सदेह
भिन्न भिन्न जलवायु मध्य जो फलमय तरु होते उत्पन्न
भूम्यालिगित मृदुल लता या उच्च वृक्ष शाखा सम्पन्न
भिन्न भिन्न प्रिय सुमन उष्ण कटिबन्ध बीच मन को हरते
विहँस वर्ष पर्य्यन्त भूमि को क्रम से जो भूपित करते
और रसीले बालवृक्ष जो उत्तर नभ को करें प्रणाम
माधव भर लघु आयु-अन्त पर जिनका वही न रहता नाम
पाकर अति अनुकूल भूमि वे सभी यहाँ शोभित अभिराम
किन्तु अपेक्षित नही किसी को किसी कृपक का किचित काम
इधर जलधि से चलकर शीतल मन्द पवन इठलाती है
बहकर जो सस्मित-प्रदेश मे मृदु सौरभ वितराती है
है अति ही आनन्द तुच्छ वह होता जो विषयो से प्राप्त
पर इन्द्रियग्राही लिप्सायें यहाँ सभी जनता मे व्याप्त
सब ही क्षेत्र निकुंज यहाँ के सुमनाभूपित दिखलाते
केवल नर रूपी पौधे ही सहसा मुरझाये जाते
भिन्न विरोधी अवगुण उनके सभी हृदय हैं वर्षाते
यद्यपि दीन विलासी तथापि, नम्र-गर्व अति दर्शाते
हैं गम्भीर चपल पर अति ही, अतुल साहसिक किन्तु असत्य
होकर भी उपवास निरत वे करते सदा पापयुक्त कृत्य
वे दुर्गुण सम्पूर्ण यहाँ कलुषित मस्तिष्क बनाते हैं
धन समृद्धि विदा होने पर जिन्हे छोडकर जाते हैं
नही समय कुछ गया अतुल सम्पद् पर था उनका अधिकार
जबकि समस्त देश मे था स्वच्छन्द केलि करता व्यापार
उसके इगित पर होता प्रासाद खडा अति शोभावान
दिखता जीर्णस्तम्भ पुरातन अम्बरलेखी उच्च महान्
चित्रकार का पटल निरख जब प्रकृति प्रभा लजाती थी
धाति-अवनि जब नर-रत्नो से पूरित छटा दिखाती थी

धीरे-धीरे इधर अन्त मे चचल ज्यों दक्षिणी समीर
वह व्यापार बसा जाकर फिर हाय अन्य देशो के तीर
क्षण-भर मे धन धान्य जन्य सब ही सुख साज विलीन हुए
नगर नरो से रिक्त, और धनपति सब दास विहीन हुये
धन सम्पद् का नाश यहाँ पर पूरा होता है सारा
गौरवशाली श्रेष्ठ कलाओ के ही अवशेषों द्वारा
इन्हीं से अति मलिन हृदय चिर-विषम दासना अभ्यासी
सहज-सुलभ-सुख सदा प्राप्त करते रहते इटलीवासी
यहाँ दृष्टिगोचर होता है 'शोणित-रिक्त' दम्भ का जाल
चित्रांकित विजयो के उत्सव, अश्वारोही सैन्य विशाल
धर्म कर्म अथवा विहार हित उत्सव यहाँ मनाते हैं
साधु-सन्त या रमणि-वृन्द प्रत्येक कुंज में पाते हैं
ऐसी क्रीडाओ से उनका शोक-समूह भग्न होता
शिशु के खेलो मे केवल शिशु-जन-समुदाय मग्न होता
अधिक दमन से सभी उच्च अभिलाषा हुईं पतन को प्राप्त
नष्ट हुईं या, या कि नहीं हैं उत्साहन के हित पर्याप्त
अतिकलुषित आमोद पुनः आ उनका स्थान ग्रहण करते
कुत्सित सुख से जो कि सदा मानस को हैं उनके भरते
जैसे उन भवनो मे जिनमे सीज़र नृप करता था राज
कालचक्र की क्रूरा गति से जो कि शीर्ण दिखलाते आज
उन्ही भग्न खण्डों मे मृत स्वामी का किंचित करे न ध्यान
रचता अपनी कुटी कृषक आश्रम का अभिलाषी अज्ञान
उस विशाल प्रासाद-निवासी पर आश्चर्य दिखाता है
और मुदित सस्मित-आनन निज कुटिया को अपनाता है
हो मन इनसे विमुख और अब हमको ले चल शीघ्र वहाँ
ऊपर विपय जलवायु-गोद मे खेले सभ्य सुजाति जहाँ
शीत विताडित स्विस स्वगृहों मे जहाँ सगर्व विचरते हैं
और धान्य-उत्पत्ति-बाध्य बजर भू को जो करते हैं
निपट उजाड़ यहाँ के पर्वत करें नहीं कुछ भी उत्पन्न
केवल क्रूर पुरुष लौहारिक सैनिक और खड्ग-सम्पन्न
नही वसन्ती पुष्प कठिन गिरि पर हँसकर मन को हरता
वरन शीत पीछे रह 'मे' को शीत विताडित है करता
मनहर पश्चिम-पवन मन्द इन शैलों पर न कभी बहता
उडुगण-क्रूर घूरते झंझानिल-तम है छाया रहता
पर सन्तोष यहाँ है ऐसी मधुर मोहिनी फैलाता
सभी हानि हो पूर्ण, प्रकृति का रोष नहीं कुछ रह जाता

यद्यपि दीन कृषक की कुटिया और स्वल्प उसका आहार
किन्तु दृष्टि पडता है उसको चारो ओर यही व्यापार
नही निकट मे भवन अन्य जो गर्वित शीश उठाता हो
उसकी दीन हीन कुटिया को जो कि सगर्व लजाता हो
नही भोग भोजो को करता है कल्पित सम्पत्सम्पन्न
तुच्छ शाक भोजन के प्रति जो उर मे करे घृणा उत्पन्न
शान्ति श्रम अज्ञान मध्य वह करता जीवन समय व्यतीत
न्यून लालसायें रहती, भू होती अति अनुकूल प्रतीत
ले किंचित विश्राम सवेरे उठता हर्षित-चित्त-महान
सहता तीखी वायु चल जाता है भरता मीठी तान
शफरी-युक्त सरो मे जा वह धीर लगाता काँटा जाल
अथवा कूच शैल को करता लेकर अपना हल सुविशाल
हिम-चिह्नित-पद-सूचित पथ से है मृग-भाट खोज लेता
और युद्ध-रत हिंसक पशु को बाहर काढ फेंक देता
रजनी समय लौटकर आता है वह श्रम-स्वेदार्द्र-ललाट
होता है आसीन गर्व से तब निज कुटिया का सम्राट
अग्नि निकट उपविष्ट, चतुर्दिक वह हर्षित मन लखता है
शिशुओ के मुखडो को जिन पर अग्नि प्रकाश झलकता है
तब फिर उसकी राशि-गर्विता चिर-सगिनी प्रियतमा बाल
प्रेम सहित आ शीघ्र लगा देती है सम्मुख सुन्दर थाल
भ्रमता पथिक कभी कोई जो उधर भाग्यवश आ जाता
कहकर गल्पें उपचर्य्या का ऋण सम्पूर्ण चुका जाता
इस पर कजर जन्मभूमि का यो ही एक एक उपकार
सच्ची-दृढतर देशभक्ति का करता है उर मे सचार
सारे सकट और कष्ट जो उसे चतुर्दिक दिखलाते
स्वल्प-सपदा-दत्त सुख को वे सब उलटे अधिकाते
जिस प्रकार शिशु नाद भयावह सुनता जाता है ज्यो ज्यो
माता वक्षस्थल से वह अधिक लिपटता है त्यो त्यो
यो ही झझावात-प्रबल धाराएँ शोर मचाती हैं
किन्तु मातृ-भू के प्रति उसमे अधिक प्रेम उपजाती हैं
कजर देशो मे ऐसी है सुघर मोहिनी दिखलाती
आवश्यकता न्यून अत. इच्छाएँ भी कम रह जाती
किन्तु हमे समुचित है देना उनको कम गौरव उपयुक्त
आवश्यकता कम है यदि—कम हैं उनके सुख भी उपयुक्त
आवश्यकता पूर्व हृदय मे जो अधिकार जमाती है
पूरित होने पर वह ही अत्यन्त हर्ष उपजाती है

विगत हुये ऐसे देशो से वे सब ही सुखप्रद विज्ञान
जो कि पूर्व कुछ चाह लगाकर, पीछे उसको करें प्रदान
वे साधन अज्ञात घृणा से विषय जब कि मन को भरते
उस अशाति मे दिव्य हर्ष का जो सुविकास सदा करते
वे नितान्त अज्ञान, विषय आदिक से जब मन भर जाते
कैसे उस वैराग्य-काल मे सच्चा दिव्य सौख्य पाते
नही ज्ञात वे शक्ति जो कि जीवन मे हैं जीवन भरती
रग रग मे स्फुरित सदा बिजली-सी दौडाया करती
जीवन उनका शान्त परम जैसे कि मन्द जलती ज्वाला
हैं अभाव से अमृत, उच्च न आशय व्यजन झलने वाला
नही भोग्य सुख भोग ! कभी होता भी है यदि सुख-सचार
किसी महान पर्व के दिन ! वह भी वत्सर भर मे एक बार
करता है अति थापोवो को निपट वन्य नर प्रज्ञाहीन
घृणित-प्रमोद-निमग्न अन्त मे होता सब आनन्द विलीन
नही विषम गति से बहता केवल आमोद-प्रमोद-प्रवाह
पर चरित्र भी इस प्रकार ही हैं लोगो के पतित अथाह
क्योकि पिता से बेटे तक जब रुक जाता सभ्यता-प्रसार
परिवर्तन-उन्नति-विहीन रहते उनके आचार-विचार
प्रेम-मित्रता रूपी अति ही मीठे और नुकीले बाण
गिरते जाकर विफल ! नही बिंधता है उनका उर पाषाण
अन्य दृढतर गुण गिरिचर के उर से हैं लिपटे रहते
जैसे पक्षी श्येन वहाँ जो नीडों से चिपटे रहते
सब ही सुघर विनोद सभ्य-पथ बीच जो कि क्रीडा करते
जीवन गति मे तथा सदा जो मधुर मोहिनी हैं भरते
सहृदय नभ की ओर राज्य करते हैं जहाँ सभ्य व्यवहार
झुकता हूँ अब। और फ्रांस दिखलाता सम्मुख सुखमा-सार
पल-प्रफुल्ल-प्रमोद-प्रिय सुख-साज रसिकता का आगार
अपने मे सन्तुष्ट सुखी कर सकता जिसको सब संसार
गान-मण्डली पथ-प्रदर्शक बना यहाँ कितनी ही बार
लेकर स्वर-विहीन वशी कलकल-शब्दा लौइर के पार
जहाँ कि छायावान एक तरुराजि सोहती सरिता-तीर
और मन्द गति से बहता था मृदु-तरग-कण-सिक्त समीर
रुक रुक कर था कभी बजाता, निपट अज्ञता दर्शाता
जिससे हो स्वरभग सभी नर्त्तक चातुर्य्य विफल जाता
तदपि ग्राम मम कौशल को विस्मयकारी बतलाता था
नृत्यमग्न मध्याह्न-ज्वार-आगमन न मन मे लाता था

बालवृद्ध सब एक सदृश थे। जरा-गृहीत नागिकावृन्द
शिशुगण की प्रमोद-प्रतिमा को भी करती थी सहसा मन्द
और मुदित बुड्ढे बाबा जो हुये नृत्य विद्या के पार
यहाँ उछलते फिरते थे, शिर पर ले साठ वर्ष का भार
ऐसा सुखमय जीवन चिन्ताहीन प्रदेश बिताता है
यो आलस्यमग्न उसका संसार चला सब जाता है
इनमें हैं वे गुण जो करते आपस में सुप्रीति मचार
क्योंकि मान गौरव ही है सारे समाज का प्राणाधार
वह श्लाघा—वह मान जिसे केवल समुचित गुण ही पाता
या गुण बिना अकारण ही है जो कि प्रदान किया जाता
इसकी एक सरित-सी बहती करते जिसका सब विस्तार
होता यहाँ समस्त देश में इसी प्रशंसा का व्यापार
न्यायालय से सैन्यशिविर, कुटिया तक मे पाया जाता
तथा प्रशंसा-लोभ यहाँ सब को ही सिखलाया जाता
पाते परमामोद परस्पर वितरा कर सम्मान-सनेह
फिर जैसे दिखलाते वैसे हो ही जाते निस्सदेह
किंतु यही मृदु कला जो कि करती उनको आनन्द-प्रदान
अवगुण और मूढ़ताओं को भी देती है प्रचुर स्थान
क्योंकि प्रतिष्ठा जब मनुष्य को होती है अतिशय प्यारी
तभी मानसिक प्रतिभा उसकी शक्तिहीन होती सारी
निर्बल-आत्मा जो कि स्वयं होती असहाय निपट सुखहीन
निज-सुख-हेतु जोहती रहती औरों ही की ओर मलीन
इसी बीच साधन के द्वारा अत. यहाँ झूठा अभिमान
रहता विकल व्यर्थ श्लाघा हित, मूर्ख जिसे करते हैं दान
यहाँ दर्प अभिमान निपट निर्लज्ज धृष्ट दिखलाता है
मोटे-छोटे वस्त्रों पर भी सुन्दर गोट लगाता है
भिक्षा-आश्रित गर्व छुड़ाता यहाँ नित्य सुख भोग निदान
वत्सर मे एक महा भोज देने का करने को अभिमान
नित ही परिवर्तन-शाली लोकाचारो में मन जाता है
कभी कृत-श्लाघा का सच्चा मूल्य न उर में लाता है
भिन्न-प्रकृति लोगो के प्रति अब मन होता उड्डीन वहाँ
गहन गर्त-उत्संग निहित हॉलैण्ड देश है लसित जहाँ
होता मुझे प्रतीत खड़े हैं मानो उसके पुत्र सुधीर
जहाँ कि तट पर विकट चपेटे देता है नीरधि गंभीर
चढ़ते हुये ज्वार के अवरोधन मे अति प्रवीण धीमान
रचते हैं मानो अति गौरवशाली कृत्रिम बांध महान

मानो शनैः शनैः श्रम से आगे मुझको दिखलाता है
सुदृढ संगठित बन्ध एक ऊपर को उठता आता है
गर्जन-कारी-जलधि-हृदय मे भुज-विशाल फैलाता है
लाता काढ भूमि वेला पर निज अधिकार जमाता है
क्रुद्ध सिन्धु जब इधर बन्ध से ऊपर उठकर आता है
जल-थल-चर ससार अनूठा यहाँ निहँसता पाता है
मन्द मह्र औ पीत-पुष्प रंजित घाटी शोभाशाली
'विलो' पादपाकीर्ण कूल तरणी धीरे बहने वाली
जनसमूह-सकुलित हाट वह, तथा सुकुंचित क्षेत्र विस्तृत—
एक नवीन सृष्टि उसके साम्राज्य मध्य से की उद्धृत
यो कल्लोलाधीन भूमि जो चारो ओर दिखाती है
करके विवश देशवासी से श्रम अति घोर कराती है
शुभ-श्रमशील प्रकृति सबके उर मे अधिकार जमाती है
यही परिश्रम-वृत्ति अन्त मे धन-लोलुपता लाती है
अतः सभी वे लाभ कि जिनको धन वैभव उपजाते हैं
तथा दोष सम्पूर्ण जिन्हें अति बृहत् कोष नित लाते हैं
विद्यमान हैं यहाँ ! सदा देती उनकी सम्पति प्यारी
सौख्य तथा प्राचुर्य, कला कौशल औ सुन्दरता न्यारी
किन्तु ध्यान से देखें तो छल-छद्म वहाँ दिखलाता है
स्वतन्त्रता का भी इस भू मे क्रय-विक्रय हो जाता है
स्वर्ण-शक्ति के सम्मुख सब स्वातन्त्र्य भाव चल देता है
निर्धन विक्रय करता है, धनवान मोल ले लेता है
देश आततायीगण का, दासो की है यह कुटी मलीन
पाते घृणित समाधि यहाँ है सदा दीन दुखिया धनहीन
शान्त विनम्र भाव से होते स्वय दासताभ्यस्त नितान्त
निज झीलो सम निश्चल जो रहती तूफानो मे भी शान्त
अपने बौद्धिक पूर्वजगण से कितने भिन्न अहो भगवान
रुक्ष प्रकृति, निर्धन, सतोषी, साहसयुत दृढ महान
रण रति-रंजित हृदय सभी, स्वातन्त्र्य-प्रेम अकित सब भाल
हा ! ब्रिटेन-पुत्रो से कितने भिन्न दिखाते है इस काल
जहाँ रम्य शाद्वल करते हैं चूर्ण आर्केडी का मान
बहती नदी वितस्ता से भी अधिक निर्मला-शोभावान
यहाँ सभी शाखाओ मे अति मृदुल समीरण बहता है
और सभी वृन्तों पर मृदु सगीत फूटता रहता है
सभी सृष्टि की मृदुल मोहिनी यहाँ सकुलित दिखलाती
अति की रति तो धनिको के ही मन मे बस पाई जाती

तथा बुद्धि द्वारा शासित हैं दृढता से सबके हृद्देश
अतुल साहसिक निपट विकट हैं उनके लक्ष्य और उद्देश्य
मति अति गौरवशील नेक स्वातन्त्र्य-प्रेम बरसाते हैं
अहा मनुष्य जाति-नायक से सम्मुख मेरे जाते हैं
मननशील अत्यन्त, उच्च लक्ष्यो पर ध्यान लगाये हैं
सौम्य-मूर्ति मानो विधि के हाथो से अब ही आये हैं
हैं स्वभाव से बडे विकट गभीर और अति ही बलवान
अधिकारो पर मरने वाले तथा वीर दुर्दमन महान
इन्हे जोतने का कृषि-कर भी अभिमानी पाया जाता
अपने को मनुष्य कहने की जो है नित शिक्षा पाता
हे स्वतन्त्रते ! तेरे सद्गुण चित्रित यहाँ दिखाते हैं
'औ' अवश्य ही ये गुण-गण जन-मन को परम सुहाते है
हैं ये अति हितकर यदि होवें पूर्ण अमिश्रित अवगुणहीन
पर स्वतन्त्रता से पोषित भी हैं दुखदायक दोष मलीन
यह स्वातन्त्र्य आंग्ल जनता करती जिसका इतना सम्मान
करता सबको पृथक तोडता है समाज-सगठन निदान
रहते सबसे पृथक सदा है स्वतन्त्र सत्तायुत धनवान
सुखद प्रीतिकर प्रेम बधनो से हैं, तथा, निपट अज्ञान
प्यार प्रीति के स्वाभाविक सब बन्धन होने से दुर्बल
विजयी तथा क्षयी होते मस्तिष्क युद्ध करते अविरल
जल उठती क्रोधाग्नि विजित जनता उत्पात मचाती है
'औ' मर्दित अभिलाष देश शिर पर सक्रोध उठाती है
होकर अति बाधित-गति शासन पद्धति है तब दुख पाती
रुक जाती है या कि क्रोध से अग्नि चक्र मे लग जाती
यही नही बस, प्रकृत-पाश ज्यो ज्यो दुर्बल होते जाते
प्रेम, मान कर्त्तव्य तथा ज्यो ज्यो प्रभाव खोते जाते
विभव तथा अधिकारजनित सम्बन्ध निपट असत्य की खान
हो जाते हैं प्रबल और करवाते हैं बरबस सम्मान
सभी ओर से बस इनकी ही आज्ञा पालन होती है
प्रतिभा पडती मद, गुणावलि अन्धकार मे रोती है
एक समय आवेगा धन वैभव का जब न रहेगा लेश
विद्वानो का धाम तथा असलो-शस्त्रो का पोषक देश
देश प्रेम की अनल जगा जाते है पूर्वज जहाँ समर्थ
हुये श्रमी भूपाल, लिया कविकुल ने सदा कीर्ति के अर्थ
वह निकलेगा एक लोभ का समतल नाला विषम मलीन
विद्वद्गण, नृप शूर मृत्यु पायेंगे गत सम्मान विहीन

पर न सोचिये यदि स्वतलता के अवगुण बतलाता हूँ
नृप का चाटुवाद करता धनिको को या कि रिझाता हूँ
हे हे सत्य-स्वरूप-शक्ति ! जो उर मे भरती है सद्भाव
कृपया काढ फेंक देना मेरे उर से सब दूषित चाव
हे स्वतलते ! शुभे ! कि जिसको देते दोनो हानि अपार—
विद्रोही दल रोष तथा अत्याचारी गण की अधिकार
दोनो ही तुझको दुख देती है कलिके ! लघुवय-शाली
बल-जनिता उपेक्षा, या अति रुचि विप्लव करने वाली
भोगे तव सुविकास तदपि नित ही परिवर्तनशील प्रदेश
केवल अनुचित वृद्धि रोकने का ही है मेरा उद्देश
सारे देशों मे हमको अनुभव द्वारा होता है ज्ञान
श्रम करने वालों पर शासन करते है सतत धीमान
है स्वतलता का जग मे बस सबसे बडा यही अभिप्राय
शासन भाग बराबर ही पावें ये दोनो वर-समुदाय
पर उनमे से कोई भी यदि अनुचित बल पा लेता है
उसका द्विगुणित भार सभी को नष्ट भ्रष्ट कर देता है
हाय सत्यता पर कैसा वे अन्ध कुठार चलाते है
एक भाग के बल को ही जो स्वतलता बतलाते हैं
शात हमारी प्रकृति कभी भी तब तक रोष न लाती है
जब तक कोई घोर आपदा सम्मुख नही दिखाती है
प्रतिद्वद्वी गण सिंहासन को किंतु घेर जब लेते है
निज दल-वर्धन हेतु राजसी शक्ति क्षीण कर देते हैं
तथा देखता हूँ मैं जब कुछ विद्रोही अशान्ति के धाम
अपनी ही स्वतलता को देते हैं स्वतलता का नाम
स्वेच्छाचारी न्यायक नित ही नूतन नियम बनाते है
पिस जाते हैं दीन, धनिक उन पर अधिकार जमाते है।
उन देशों का विभव कि जिनमे वन्य मनुष्य विचरते है
हरकर दासो से, दासो का ही घर पर क्रय करते है
न्याय, दया, भय, क्रोध हमारे उर मे उठते जाते हैं
दूर फेंक लज्जा अब अपना मथित-हृदय दिखलाते है
आधा देशभक्त बनता आधा कायर बन जाता हूँ
छोड़ क्रूर नेताओ को मैं नृपति-पक्ष मे जाता हूँ
हाँ ! माता ! उस दु:ख घडी को मेरे साथ दीजिये शाप
सर्वप्रथम ही जम साहस ने नृप विरुद्ध सधाना चाप
दूषित करके इस प्रकार वह मान-प्रतिष्ठा का शुभ सोत
हाय ! प्रदान किया सम्पद् को द्विगुणित शक्ति और उद्योत
किसने देखा नही ? वह बसे आग्ल देश भर मे सारे
बिकते रजत-स्वर्ण के हाथो हैं इसके सुपुल प्यारे

देते हैं सब रग, किन्तु वे नाश शीघ्र ही लाते हैं
बुझते समय दीप जैसे सहसा प्रदीप्त हो जाते हैं
भलीभाँति है विदित कि रखने को अपना गौरव धनवान
निर्दयता से कर देते हैं निर्जन हाय सहस्रो स्थान
उन क्षेत्रो मे जिनमे कुछ छितरे कुटीर थे दिखलाते
सुघर राजसी ठाठ विजन ऊसर मे अब शोभा पाते
क्या यह देखा नही धनिक-क्रीडन-अभिलाष पूर्ति के अर्थ
सुसमृद्ध प्राचीन ग्राम मिट्टी मे मिल जाते हैं व्यर्थ
आज्ञाकारी पुत्र वृद्ध कुलनायक दुर्बलगात पिता
परम सुशीला गृहिणी, लज्जाशीला सुकुमारी दुहिता
होकर पूर्ण बहिष्कृत घर से यो यह दुखिया नर समुदाय
जाता पश्चिम नीरधि से भी परे विदेश भटकने हाय
जहाँ विकट आरवेगो के दलदल फैले हैं चारो ओर
करता कर्णस्तब्ध न्यायगरा है करके गर्जन घोर
कोई पथिक कदाच भटकता होगा अब भी यहाँ कही
विकट मार्ग मे तथा जगलो मे जिसमे पथ प्राप्त नही
जहाँ कि पशु नर सम बनते हैं हैं अर्धराज्य के अधिकारी
रेड इण्डियन तथा बेधता लक्ष्य अचूक प्राणहारी
दूर डालता दृष्टि जहाँ शोभित ब्रिटेन है सुखमागार
यो उसका उर मेरे प्रति दर्शाता समवेदना अपार
झुका शोक के भार वहाँ पर वह दुखशील प्रवासी दीन
रुकने मे बलहीन और बढने के लिए निपट वह हीन
निष्फल ! मेरी कठिन खोज यह हुई नितान्त व्यर्थ निष्फल
उस सुख के निमित्त जिसका मन ही है केवल केन्द्रस्थल
क्यो मे भटका फिरा छोडकर सब विश्राम और सुख व्यर्थ
जो प्रत्येक राज्य मे मिलता उस लघु सौख्य प्राप्ति के अर्थ
सभी शासनो मे जिनमे चाहे भय ही करते हो राज
प्रतिबन्धक हो कठिन नियम या अत्याचारी नृपति समाज
सारी मानव-जाति भुक्त सुख भोगो का कितना थोडा
है वह भाग नृपति, नियमो ने जिसे हरा अथवा जोडा
'जो अपने ही वश मे रहता' जहाँ कही भी जाते हैं
अपना सौख्य सदा हम अपने ही हाथो से पाते हैं
परम सुशान्त प्रवाह घोर तूफान न करते जिसे अधीर
बहती है गार्हस्थ्य-सौख्य की धारा परम मृदुल गम्भीर
शिर-छेदन प्रस्तुत कुठार, या चक्र यातनाकारी घोर
तथा ल्यूक का अयरक्रौट, डामीन लौह पर्य्यंक कठोर।

परिशिष्ट—२

डा० नगेन्द्र की शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली

अधिमानसिक	Metaphysical
अधीक्षक	Sensor
अति-अहं	Super-Ego
निर्वैयक्तिक	Impersonal
अतिप्राकृत	Super Natural
अहं	Ego
आत्म-संस्कार	Sublimation
आनंदवादी	Hedonist
आनंद-सिद्धांत	Pleasure-Principle
इद	Id
इंद्रियातीत	Supersensuous
उदात्त	Elivated
उन्नयन	Sublimation
अनुबंधन	Conditioning
ऐन्द्रिय संवेदन	Sensations
रागद्वेषमय जीवन	Passionate living
रागवृत्ति	Libido
ललित कल्पना	Fancy
वस्तु	Matter
विदग्धता	Wit
व्यंग्य	Satire
अंत.वृत्तियों का समन्वय	Systemisation of Impulses
शौर्याश्रित शृंगार	Chivalrous Love
समरसता की अवस्था	Mental Equilibrium
सहजानुभूति	Intuition
सर्वाधिक सुबोधता	Maximum Intelligibility
स्थित्यात्मक	Static
सार्थकतावादी	Hormic
साधारण	Normal
सृजन-प्रेरणा	Creative urge

काम	Eros (इरॉस)
कामदी	Comedy
गत्यात्मक	Dynamic
चेतना	Consciousness
तत्त्वगत	Elemental
त्रासदी	Tragedy
निपुणता	Literary Culture
निषेधवाद	Nihilism
परिष्कारिणी	Refinery
परिभावित	Contemplated
पूर्व-चेतन	Preconscious
प्रतिज्ञात्मक	Hypothetical
बौद्धिक धारणायें	Concepts
बौद्धिक प्रेम	Platonic love
भविष्य स्वप्न	Utopia
भूमावादी	Cosmic
रस का साहित्य	Creative Literature

परिशिष्ट—३

डा० नगेन्द्र के मौलिक ग्रन्थ

१.	वनबाला	१९३३
२.	छन्दमयी	
३.	भ्रांत पथिक (अनूदित, अप्रकाशित)	
४.	सुमित्रानंदन पंत	१९३८
५.	साकेत : एक अध्ययन	१९३९
६.	आधुनिक हिन्दी नाटक	१९४०
७.	विचार और अनुभूति	१९४४
८.	विचार और विवेचन	१९४९
९.	रीति-काव्य की भूमिका	१९४९
१०.	देव और उनकी कविता	१९४९
११.	आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	१९५१
१२.	विचार और विश्लेषण	१९५५
१३.	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	१९५५
१४.	अनुसंधान और आलोचना	१९६१
१५.	कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	१९६२

सम्पादित ग्रंथ

१.	हिन्दी ध्वन्यालोक	१९५२
२.	कवि भारती (आधुनिक काव्य-संग्रह)	१९५३
३.	हिन्दी काव्यालंकारसूत्र	१९५४
४.	रीति शृंगार (काव्य-संग्रह)	१९५४
५.	हिन्दी वक्रोक्तिजीवित	१९५५
६.	भारतीय नाट्यसाहित्य	१९५५
७.	भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	१९५६
८.	हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६	१९५८
९.	हिन्दी अभिनवभारती	१९६०
१०.	हिन्दी काव्यप्रकाश	१९६०
११.	हिन्दी नाट्य दर्पण	
१२.	पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा	

१३. सियारामशरण गुप्त
१४. भारतीय वाङ्मय — १९५८
१५. Indian literature — १९५९
१६. हिन्दी वार्षिकी (पत्रिका) — १९६०-६१-६२

अनूदित ग्रंथावली

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र — १९५७
२. काव्य में उदात्त तत्व (On The Sublime का अनुवाद) — १९५८

परिशिष्ट—४

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

१. साहित्यदर्पण	...	विश्वनाथ
२. काव्यादर्श	....	दण्डी
३. काव्यप्रकाश	...	मम्मट
४. ध्वन्यालोक	...	आनन्दवर्धन
५. वैयाकरण भूषण सार	...	महामहोपाध्याय कौण्ड भट्ट
६. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र	...	सं० डा० नगेन्द्र
७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	....	,, ,,
८. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित	....	,, ,,
९. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	....	,, ,,

हिन्दी

१. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध	...	श्री भारतभूषण अग्रवाल
२. डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त	...	श्री नारायणप्रसाद चौबे
३. हिन्दी के आलोचक	....	स० शचीरानी गुर्टू
४. आधुनिक समीक्षा	...	डा० देवराज
५. हिन्दी निबन्धकार	....	श्री जयनाथ नलिन
६. आलोचना और आलोचक	...	डा० मोहनलाल डा० सुरेशचन्द्र गुप्त
७. समीक्षा की समीक्षा	...	प्रभाकर माचवे
८. प्रतिनिधि आलोचक	...	डा० मोहनलाल डा० सुरेशचन्द्र गुप्त
९. हिन्दी साहित्य समीक्षा	...	गुर्ती सुब्रह्मण्यम्
१०. काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन	...	स० शम्भुनाथ पांडेय
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास	....	डा० वेंकट शर्मा
१२. हिन्दी निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक इतिहास	...	श्री उमेशचन्द्र त्रिपाठी
१३. भारतेन्दुयुगीन निबन्ध	...	श्री विश्वनाथ
१४. द्विवेदीयुगीन निबन्ध	...	श्री गंगाबख्शसिंह

१५. आधुनिक हिन्दी साहित्य ··· श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

१६. भट्ट निबन्धावली ··· प० बालकृष्ण भट्ट

१७ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास ···· श्री कृष्णलाल

१८. हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास ··· डा० रामरतन भटनागर

१९. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास ··· डा० रामगोपाल चतुर्वेदी

२०. गद्य साहित्य का उद्भव और विकास ··· डा० विश्वनाथ मिश्र

२१ हिन्दी काव्य में छायावाद ···· श्री दीनानाथ शरण

२२. चिन्तामणि, भाग २ ··· आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२३ साहित्य-कोश ··· स० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति

२४. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास ·· डा० भगीरथ मिश्र

२५. हिन्दी अलकार साहित्य ··· डा० ओम्प्रकाश

२६ हिन्दी साहित्य का इतिहास ···· आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२७. हिन्दी साहित्य का इतिहास ···· डा० श्यामसुन्दरदास

२८. प्रगतिशील साहित्य के मानदड ···· डा० रांगेय राघव

२९ प्रगतिवाद की रूपरेखा ··· श्री मन्मथनाथ गुप्त

३०. प्रगतिवाद : एक समीक्षा ···· डा० धर्मवीर भारती

३१. इतिहास और साहित्य ··· डा० ताराचन्द

३२. सस्कृति और साहित्य ··· डा० रामविलास शर्मा

३३. जैनेन्द्र के विचार ···· श्री प्रभाकर माचवे

३४. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास ···· डा० भगवत्स्वरूप मिश्र

३५. छायावाद की काव्य-साधना ···· प्रो० क्षेम

३६. आधुनिक काव्य-धारा ··· डा० केसरीनारायण शुक्ल

३७. आधुनिक काव्य-धारा का सास्कृतिक स्रोत ··· डा० केसरीनारायण शुक्ल

३८. काव्य में रहस्यवाद ··· आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

३९. आधुनिक कवि ··· महादेवी वर्मा

४०. छायावाद का पतन ···· डा० देवराज

४१. रश्मिबन्ध ··· श्री सुमित्रानन्दन पन्त

४२. चेतना का सस्कार ··· श्री त्रिशकु

४३. दूसरा सप्तक : भूमिका ···· श्री अज्ञेय

४४. नया हिन्दी काव्य ··· डा० शिवप्रसाद मिश्र

४५. रूढि और मौलिकता ··· श्री त्रिशकु

४६. साहित्य की वर्तमान धारा ···· प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

४७. मैं इनसे मिला ···· डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

४८. नवरस ··· डा० गुलाबराय

४९. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त ··· डा० एस० पी० खत्री

५०. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त ··· श्री लीलाधर गुप्त

५१. रोमांटिक साहित्य शास्त्र ... श्री देवराज उपाध्याय
५२. हिन्दी एकांकी ... डा० सत्येन्द्र
५३. काव्य के रूप .... डा० गुलाबराय
५४. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास ... डा० दशरथ ओझा
५५. बिहारी की वाग्विभूति ... श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
५६. *प्रसाद जी की कला* ... *डा० गुलाबराय*
५७. हिन्दी काव्य-विमर्श ... डा० गुलाबराय
५८. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान .... डा० देवराज
५९. आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका .... डा० बलभद्र तिवारी
६०. नया साहित्य : नये प्रश्न ... श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
६१. मिश्रबन्धु विनोद ... श्री मिश्रबन्धु
६२. हिन्दी भाषा सागर .... { स० रामदास गौड / लाला भगवानदीन }
६३. भारतेन्दु युग .... डा० रामविलास शर्मा
६४. हिन्दी साहित्य का इतिहास ... डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
६५. साहित्य सुमन ... पं० बालकृष्ण भट्ट
६६. *हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी* ... *श्री नन्ददुलारे वाजपेयी*
६७. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त ... डा० सुरेशचन्द्र गुप्त

पत्र-पत्रिकाएँ

१. साहित्य संदेश, निबन्ध विशेषांक, सन् १९६१
२. हिन्दी वार्षिकी (सन् १९६०) प्र० सं० डा० नगेन्द्र
३. सरस्वती, जुलाई-अगस्त १९०७, १९१५
४. माधुरी, जुलाई १९१३
५. साहित्य, मई १९१५, अक्तूबर १९२४
६. सम्मेलन पत्रिका, आश्विन स० १९७९
७. साहित्यालोचन, वर्ष १, अंक १
८. कल्पना, फरवरी, १९६१
९. आलोचना, वर्ष ३, अंक २
१०. नई चेतना, अंक ४
११. आजकल, अगस्त-सितम्बर १९६२
१२. हिन्दुस्तान (साप्ताहिक), अंक ९, वर्ष १
१३. ज्ञानपीठ पत्रिका, वर्ष १, अंक ६, जनवरी १९६३
१४. धर्मयुग, अक्तूबर १९६०
१५. आलोचना, काव्यालोक-विशेषांक, समालोचना विशेषांक, निबन्ध विशेषांक

अंग्रेजी

1	Studies in Dying culture	C Caudwell
2	Social Philosophy of an Age of crisis	P A Sorokin
3	Literary criticism A Short History	Alfred A Knope
4	Preface to Lyrical Ballads	Wordsworth
5	Essays on criticism	Mathew Arnold
6	Greek Literary criticism	Deniston
7	Oratory	Cicero & Horace